जैन विश्वभारती संस्थान

लाडनूँ – 341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

एम.ए. (उत्तरार्द्ध)

जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन

अष्टम पत्र

जैन धर्म दर्शन और भारतीयेतर धर्म दर्शन

---

l 0X-I	%	पाश्चात्य दार्शनिक एवं जैन दर्शन
l 0X-II	%	पाश्चात्य प्रत्यय एवं जैन दर्शन
l 0X-III	%	पाश्चात्य प्रत्यय एवं जैनदर्शन
l 0X-IV	%	प्रमुख धर्म एवं जैन धर्म
l 0X-V	%	आधुनिक युग में जैन धर्म में प्रासंगिकता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विशेषज्ञ समिति

प्रो. दयानन्द भार्गव
पूर्व विभागाध्यक्ष संस्कृत
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राज.)

प्रो. अरूण मुखर्जी
पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शन
जादवपुर विश्वविद्यालय
कोलकाता

प्रो. कुसुम जैन
विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

डॉ. विमला भण्डारी
पूर्व विभागाध्यक्ष दर्शन
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राज.)

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी
निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय,
लाडनूं

प्रो. समणी चैतन्यप्रज्ञा
विभागाध्यक्ष, जैनविद्या विभाग
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

प्रो. समणी ऋजुप्रज्ञा
विभागाध्यक्ष
प्राच्यविद्या एवं भाषा विभाग,
जैन विश्वभारती वि.वि., लाडनूँ

डॉ. समणी शुभ प्रज्ञा
सहायक आचार्य
दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

लेखक दलः

प्रो. मुनि महेन्द्र कुमार
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय,
लाडनूं

डॉ. समणी स्थितप्रज्ञा
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूं

मुनिश्री चन्द्र 'कमल'
लाडनूं

साध्वी यशोधरा
साध्वी सिद्धप्रज्ञा

समणी जयन्तप्रज्ञा
समणी शारदाप्रज्ञा

समणी डॉ. हिमप्रज्ञा
सहा. प्रोफेसर, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं

समणी चिन्मयप्रज्ञा
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूं

डॉ. अशोक कुमार जैन
सह–आचार्य, जैनविद्या
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

प्रो. जिनेन्द्र जैन
विभागाध्यक्ष, संस्कृत एवं प्राकृत
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

प्रो. जे.आर. भट्टाचार्य
विभागाध्यक्ष, संस्कृत एवं प्राकृत
जैन विश्वभारती वि.वि., लाडनूं

प्रो. हरिशंकर पाण्डेय
सह–आचार्य, संस्कृत एवं प्राकृत
डॉ. सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी
निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय लाडनूं

सम्पादक मण्डल– 1.प्रो. समणी चैतन्य प्रज्ञा
विभागाध्यक्ष – जैनविद्या विभाग,
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

2. डॉ. समणी शुभप्रज्ञा
सहायक–आचार्य, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

कॉपीराइट :
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ –341306 (राजस्थान)

संस्करण : 2016

मुद्रण प्रतियां : .....

प्रकाशक :
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ –341306 (राजस्थान)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विषयानुक्रमणिका

संवर्ग	पाठ	पृष्ठ संख्या
संवर्ग-I	इकाई–1. अरस्तू का द्रव्य एवं आकार तथा जैन द्रव्य एवं आकार	01
	इकाई–2. डेकार्ट का द्वैतवाद	11
	इकाई–3. लाइबनीज का चिदणुवाद और जैन आत्मवाद	23
	इकाई–4. काण्ट का नीतिशास्त्र और जैन आचारशास्त्र	38
संवर्ग -II	इकाई–5 देशकाल (लाइबनीज, काण्ट, न्यूटन, आइन्स्टीन, जैनधर्म)	51
	इकाई–6. पाश्चात्यदर्शन में आत्मा (डेकार्ट, ह्यूम, काण्ट) और जैन दर्शन में आत्मा	61
	इकाई–7 आत्मा और शरीर सम्बन्ध (डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइबनीज और जैन दर्शन)	76
संवर्ग -III	इकाई–8. द्रव्य (डेकार्ट, स्पिनोजा एवं जैन दर्शन)	90
	इकाई–9. कारणता (ह्यूम, काण्ट और जैन दर्शन)	103
	इकाई–10. जगत् (प्लाटिनस, स्पिनोजा, लाइबनीज, बर्कले, जैन दर्शन)	115
संवर्ग –IV	इकाई–11. जैनधर्म और ईसाई धर्म (ईश्वर, जगत्, अशुभ, मुक्तिमार्ग, नीतिशास्त्र)	127
	इकाई–12. जैन धर्म और इस्लाम धर्म (ईश्वर, धार्मिक आधार, आचार–विचार)	142
	इकाई–13. जैन धर्म और पारसी धर्म	160
	इकाई–14. जैन धर्म और कन्फ्यूशियस धर्म (ईश्वर, मानव, नैतिक विचार)	175
संवर्ग -V	इकाई–15. आर्थिक विषमता एवं अपरिग्रह	189
	इकाई–16. पर्यावरण संतुलन एवं जैन–अहिंसा	195
	इकाई–17. लोक तंत्र एवं अनेकान्त	200
	इकाई–18. स्वस्थ समाज सरंचना एवं अणुव्रत	208

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग–1 : पाश्चात्य दार्शनिक एवं जैन दर्शन

इकाई–1 अरस्तू का द्रव्य एवं आकार तथा जैन द्रव्य एवं आकार

संरचना

1.0 प्रस्तावना

1.1 उद्देश्य

1.2 अरस्तू के दर्शन में द्रव्य एवं आकार

1.2.1 द्रव्य एवं आकार अपृथक

1.2.2 द्रव्य विशेष एवं आकार सामान्य

1.2.3 दोनों सापेक्ष रुप में

1.2.4 द्रव्य निर्गुण एवं आकार सगुण

1.2.5 द्रव्य संभाव्य एवं आकार वास्तविक

1.2.6 द्रव्य और आकार पूर्व में एवं पश्चात भी

1.2.7 द्रव्य हास वं आकार विकास का सूचक

1.3 जैन धर्म में द्रव्य एवं आकार

1.4 तुलना

1.5 समानता

1.6 विषमता

1.7 सारांश

1.8 अभ्यास प्रश्नावली

1.0 प्रस्तावना

पाश्चात्य दर्शन के ग्रीक युग के महान् दार्शनिकों में अरस्तू का नाम जगत् प्रसिद्ध है। योग्य गुरु प्लेटो के वे योग्य शिष्य थे। 384 ई.पू. में यूनान के छोटे-से नगर स्टैगिरा में अवतरित होकर 322 ई.पू. में इहलीला सम्पन्न करने तक लगभग 62 वर्ष के जीवनकाल में अपने कृतित्व के कारण वे अमर हो गये। विश्वविजेता का स्वप्न देखने वाले सिकन्दर के गुरु होने का भी उन्हें सौभाग्य मिला। अपने जीवनकाल में एथेन्स में लाइसियम (Lyceum) नामक संस्था भी स्थापित की। यह संस्था ग्रीक देवता लाइसियन अपोलो (Lycian Apollo) को समर्पित की गयी थी। इस कारण इसे लाइसियम की संज्ञा दी गयी (ग्रीकदर्शन का वैज्ञानिक इतिहास, पृ.203)। इस संस्था को पर्यटनशील पाठशाला (Peripatetic School) भी कहते हैं। क्योंकि अरस्तू घूम-घूम कर शिक्षा दिया करते थे। उन्होंने जो दार्शनिक सिद्धान्त दिये, दर्शन जगत् में उसकी काफी प्रशंसा हुई। दर्शन जगत् में उन्हें 'ज्ञानियों का सम्राट्' (Master of Those who know) भी कहा जाता है। पूर्ववर्ती दर्शनों में व्याप्त सभी अच्छाइयां उनके दार्शनिक सिद्धान्तों में दृष्टिगोचर होती हैं। डॉ. छोटेलाल त्रिपाठी के अनुसार, "हेगल को छोड़कर अरस्तू ही एकमात्र ऐसे दार्शनिक हैं जिन्हें सही अर्थ में संसार को विकास-दर्शन देने का श्रेय है। यद्यपि हेगल ने विकास का एक नया सिद्धान्त 'द्वन्द्वात्मक विकास' प्रतिपादित किया, किन्तु इस प्रयास में वे अरस्तू के अनुकरण से ही सफल हो सके।" शायद यह अरस्तू की दर्शन को सबसे अधिक मौलिक देन है (ग्रीक दर्शन पृ. 273)।

अरस्तू जहां ग्रीक युग का महत्त्वपूर्ण दार्शनिक है वहीं जैनदर्शन 'भारतीय दर्शन' में एक महत्त्वपूर्ण दर्शन है। विचारों में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और आचार-व्यवहार में समता, संयम एवं अपरिग्रह के कारण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैनदर्शन की कोई सानी नहीं है। जैनदर्शन के सापेक्ष दृष्टिकोण ने जैनदर्शन को हिमगिरि की उत्तुङ्ग.ता प्रदान की है। अरस्तू दर्शन की तरह यह मात्र वैयक्तिक सोच का परिणाम ही नहीं अपितु तीर्थंकरों, गणधरों, श्रुतकेवलियों एवं आचार्यों की समृद्ध परम्परा के कारण यह दर्शन व्यापक स्वरूप ले सका है। जैनदर्शन में दर्शन के सभी पक्षों का सांगोपांग विवेचन हुआ है। तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से षड्द्रव्यों एवं नौ तत्त्वों (दिगम्बर परम्परायें सप्त तत्त्वों) की अवधारणा से यह दर्शन तत्त्वमीमांसा प्रधान दर्शन दृष्टिगोचर होता है तो प्रमाणमीमांसा एवं ज्ञान मीमांसा की दृष्टि से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष का व्यापक चिन्तन इसे ज्ञान मीमांसा प्रधान दर्शन का अलंकरण प्रदान करते हैं। आचार दर्शन में श्रावकाचार एवं श्रमणाचार का विस्तृत एवं उपयोगी चिन्तन इसे नीतिमीमांसीय प्रधान दर्शन होने का गौरव प्रदान करते हैं। अहिंसा की अवधारणा ने तो इस दर्शन को एक विशेष गौरव प्रदान किया है।

1.1 उद्देश्य

अरस्तू और जैनदर्शन की महिमा का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुतकर 'द्रव्य एवं आकार' के संदर्भ में दोनों के तुलनात्मक विवेचन की मीमांसा के पूर्व आवश्यक है कि दोनों के द्रव्य एवं आकार सम्बन्धी अवधारणा के पृथक्-पृथक् विवेचना हो।

1.2 अरस्तू के दर्शन में द्रव्य एवं आकार

अरस्तू को पाश्चात्य दर्शन का सिरमौर दार्शनिक सम्भवत: द्रव्य एवं आकार सम्बन्धी विशिष्ट अवधारणा के कारण ही माना जाता है। अरस्तू के दर्शन का यह वैशिष्ट्य पूर्ववर्ती दार्शनिक प्लेटो (428-345 ई.पू.) के प्रतिक्रियास्वरूप भी माना जा सकता है। अरस्तू का आकार सम्बन्धी चिन्तन तो बिल्कुल नया चिन्तन है ही किन्तु द्रव्य के संदर्भ में भी उनकी दृष्टि सर्वाधिक मौलिक दृष्टि है। उनकी सापेक्ष दृष्टि से उनका द्रव्यवाद पूर्णतया प्रभावित है। द्रव्य सम्बन्धी पूर्ववर्ती निरपेक्ष अवधारणा के विपरीत अरस्तू ने द्रव्य की सापेक्षता को स्वीकार कर दर्शन जगत् में एक नवीन क्रांति की है। अरस्तू के अनुसार तत्त्व परम द्रव्य (Substance) है। द्रव्य नित्य, कूटस्थ तथा स्वयं अपरिणामी होते हुए भी सभी परिणामों का आधार है। संसार में दो वस्तुएं हैं—द्रव्य और परिणाम। द्रव्य ही परिणाम का कारण है। द्रव्य एक है तथा उसके गुण एवं पर्याय अनेक होते हैं। उदाहरणार्थ सुकरात द्रव्यरूप में एक है तथा किशोर, युवा, वृद्ध आदि अनेक गुणों को धारण करने वाले हैं। द्रव्य सभी प्रकार के परिणामों, परिवर्तनों का मूल कारण है। इसीलिए द्रव्य को मौलिक या प्राथमिक तत्त्व कहते हैं। परम द्रव्य सभी द्रव्यों का द्रव्य तथा सभी परिणामों का आधार है। दर्शन का कार्य इसी परम द्रव्य का ज्ञान प्राप्त करना है।

अरस्तू के द्रव्य एवं आकार की अवधारणा उसके कारणता सिद्धान्त का ही परिणाम है। उसने चार प्रकार के कारण स्वीकार किये हैं—

1. उपादान कारण (Material Cause)
2. निमित्त कारण (Efficient Cause)
3. स्वरूप कारण (Formal Cause)
4. लक्ष्य कारण (Final Cause)

उपादान कारण को ही अरस्तू भौतिक कारण कहते हैं। यह कार्य का मूल होता है। जैसा यह कारण होगा वैसा ही कार्य होगा। मिट्टी के घड़े का उपादान कारण मिट्टी ही होगी। ऐसा नहीं हो सकता कि मिट्टी के घड़े का उपादान कारण चांदी हो। निमित्त कारण प्रत्येक प्रकार के परिवर्तन का द्योतक है। चूंकि घट के उदाहरण में परिवर्तन का कारण कुम्भकार है अत: कुम्भकार ही निमित्त कारण है। किसी भी कार्य के निर्माण के पूर्व उसका जो स्वरूप, जो प्रत्यय मानव मस्तिष्क में बनता है वही स्वरूप कारण है। इसे प्रत्यय कारण एवं औपचारिक कारण भी कहते हैं। जिस अंत, लक्ष्य या उद्देश्य को ध्यान में रखकर परिवर्तन किया जाता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है, उसे ही लक्ष्य कारण कहते हैं। घट के उदाहरण में कुम्भकार का लक्ष्य पूर्ण घट का निर्माण है अत: पूर्ण घट अंतिम कारण है।

इन चार कारणों में उपादान कारण को अरस्तू द्रव्य एवं निमित्त, स्वरूप एवं लक्ष्य कारणों को आकार के अन्तर्गत समाहित करता है। उसके अनुसार निमित्त और स्वरूप एक हैं। जैसा निमित्त होगा वैसा ही स्वरूप बनेगा और जैसा स्वरूप बनेगा वैसा ही लक्ष्य होगा। स्वरूप प्रत्यय है और लक्ष्य अभिव्यक्तरूप है। अत: स्वरूप और लक्ष्य एक ही हैं। उसके अनुसार जैसा निमित्त होगा वैसा ही लक्ष्य का निर्धारण होगा अत: ये दोनों भी पृथक् नहीं है। इस प्रकार वह इन तीनों को आकार के अन्तर्गत समाहित करता हुआ द्रव्य और आकार के निष्कर्ष पर पहुंचता है। ये दोनों ही अरस्तू के अनुसार मूल कारण हैं जिनसे किसी वस्तु का निर्माण होता है उसके अनुसार—

"Primary is only the distinction between form and matter, which is present throughout the world, where something stands to something else as the more perfect the defining and effecting, the former is called the form the real and the later the potential or matter." (Zeller, outlines of the History of Greek Philosophy, p. 175)

अत: अरस्तू के अनुसार, संसार न केवल द्रव्य का परिणाम है और न केवल आकार का ही। यह दोनों की संयुति का परिणाम है। अत: द्रव्य एवं आकार आधारभूत तत्त्व हैं। द्रव्य एवं आकार के स्वरूप की निम्नलिखित विशेषताएं हैं—

1.2.1 द्रव्य एवं आकार अपृथक्

अरस्तू के अनुसार संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसमें द्रव्य एवं आकार न हो। इसीलिए वह द्रव्य एवं आकार को अपृथक् (Inseparable) मानता है। प्रश्न यह उठता है कि यदि दोनों अपृथक् हैं तो इनमें द्रव्य एवं आकार नाम का भेद कैसे? इस प्रश्न के उत्तर में अरस्तू का मानना है कि वास्तविक दृष्टि से इनमें भेद संभव नहीं है, किन्तु विचारों में हम इनमें भेद कर सकते हैं। वस्तुत: यह सोचना कि आकारों का निजी अस्तित्व है और वे द्रव्य से अलग रह सकते हैं, वैसी ही भयंकर भूल करनी है जैसी प्लेटों ने प्रत्ययों का अलग अस्तित्व मानकर की थी और इसी कारण से वे अरस्तू की आलोचना के शिकार हुए थे।

1.2.2 द्रव्य विशेष और आकार सामान्य

अरस्तू ने द्रव्य को विशेष और आकार को सामान्य कहा है। उनके अनुसार चूंकि विशेष और सामान्य एक दूसरे के पृथक् नहीं रह सकते, इसलिए द्रव्य एवं आकार को अनुस्यूत ही होना चाहिए। कोई राम नाम का व्यक्ति जैसे मनुष्यत्व से पृथक् नहीं हो सकता और मनुष्यत्व एक या अन्य नाम के व्यक्ति से परे नहीं हो सकता वैसे द्रव्य एवं आकार एक-दूसरे के परे नहीं हो सकते। अरस्तू का सामान्य वास्तविक सामान्य (Concrete universal) है जो विशेष अनुगत धर्म है।

1.2.3 द्रव्य और आकार सापेक्ष रूप में

अरस्तू के दर्शन में द्रव्य एवं आकार सापेक्ष हैं। दर्शन की द्रव्य एवं आकार सम्बन्धी सामान्य अवधारणा से अरस्तू सहमत नहीं है। द्रव्य के बारे में यह कहा जाता है कि द्रव्य वह स्वतंत्र सत्ता है जिसमें कभी भी परिवर्तन नहीं हो सकता। अर्थात् द्रव्य सदा द्रव्य रहता है। उदाहरणार्थ पीतल एक भौतिक द्रव्य है। यह जस्ता, रेडियम, हीलियम आदि रूपों में बदल सकता है, परन्तु इन परिवर्तित रूपों में भी यह द्रव्य ही रहता है। इसी प्रकार भौतिक आकार भी आकार रहता है, परन्तु अरस्तू ऐसा नहीं मानता है। उसके अनुसार द्रव्य एवं आकार आपस में परिवर्तित होते रहते हैं। अर्थात् द्रव्य आकार में और आकार द्रव्य में बदलता रहता है। उदाहरणार्थ लकड़ी द्रव्य है तथा मेज, कुर्सी आदि आकार है। पुन: लकड़ी आकार है तो वृक्ष द्रव्य और वृक्ष आकार है तो बीज द्रव्य/दृष्टव्य है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

द्रव्य (बीज) ——————— वृक्ष (आकार)
वृक्ष (द्रव्य) ——————— लकड़ी (आकार)
लकड़ी (द्रव्य) ——————— मेज (आकार)

उपर्युक्त रेखाचित्र के माध्यम से भी यह स्पष्ट होता है कि द्रव्य एवं आकार सापेक्ष हैं। बिल ड्यूराण्ट ने Outlines of Philosophy में लिखा है—

"Everything is both the form or reality which has grown out of something which was its matter or raw material, and it may in its turn be the matter out of which still higher forms will grow. So the man is the form of which the child was the matter, the child is the form and its embryo the matter, the embryo the form, the ovum the matter, and so back till we reach in a vague way the conception of matter without form at all." (P. 78-79)

अर्थात् प्रत्येक वस्तु में द्रव्य एवं आकार का वास है। द्रव्य एवं आकार एक-दूसरे में परिवर्तित होते रहते हैं। यदि आदमी आकार है तो द्रव्य बच्चा है और बच्चा आकार है तो भ्रूण द्रव्य है और भ्रूण आकार है तो रज (अन्य संदर्भ में अण्डा) द्रव्य है।

इस प्रकार अरस्तू के अनुसार वैसे द्रव्य वह है जिसका परिवर्तन होता है और जिस रूप में परिवर्तित होता है वह आकार है। कहा गया है— What becomes is matter, what it becomes is form.

1.2.4 द्रव्य निर्गुण और आकार सगुण

अरस्तू के अनुसार वैसे द्रव्य निर्गुण, निर्विशेष, निरुपाधि है और आकार के कारण ही यह सगुण, सविशेष एवं सोपाधि बनता है। द्रव्य सभी वस्तुओं में व्याप्त है पर इसका कोई स्वरूप नहीं है। आधुनिक द्रव्य विषयक धारणा से अरस्तू की धारणा भिन्न है। आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से अन्तर उनके गुणों के कारण है किन्तु अरस्तू के अनुसार चूंकि गुण आकार का अंग है अतः यह अन्तर आकार के कारण है।

1.2.5 द्रव्य संभावना और आकार वास्तविकता

अरस्तू के अनुसार द्रव्य संभाव्यता या अन्तःशक्ति (Potentiality) और आकार वास्तविकता है। द्रव्य वस्तुतः कोई वास्तविक वस्तु नहीं है किन्तु उसमें कुछ भी बनने का सामर्थ्य है, पर यह सामर्थ्य आकार द्वारा ही वास्तविक होता है। चूंकि लकड़ी में मेज बनने की क्षमता है अतः लकड़ी द्रव्य और मेज आकार है। लकड़ी में मेज संभाव्य है और मेज बनकर आकाररूप में वह वास्तविक हो जाता है। वास्तविकता को संभाव्य से गुजरना पड़ता है और संभाव्यता को वास्तविकता में आकर ही अपने महत्त्व को उजागर करना पड़ता है। संभावना के बिना वास्तविकता संभव नहीं और वास्तविकता के अभाव में संभावना का महत्त्व नहीं अतः दोनों में विरोध भी है तो सामञ्जस्य भी। द्रव्य को संभावना एवं आकार को वास्तविक मानने से कुछ लोगों को यह भ्रम होता है कि अरस्तू के दर्शन में द्रव्य निकृष्ट एवं आकार उत्कृष्ट है। परन्तु यह वास्तव में भ्रम ही है क्योंकि अरस्तू न तो किसी को उत्कृष्ट मानता है और न ही निकृष्ट। उसके अनुसार तो द्रव्य और आकार सापेक्ष ही है। द्रव्य के बिना आकार और आकार के बिना द्रव्य संभव ही नहीं है। ऐसा मानने वाला अरस्तू भला किसी को उच्च और किसी को निम्न कैसे मान सकता है?

1.2.6 द्रव्य और आकार पूर्व में भी और पश्चात् भी

काल की दृष्टि से अरस्तू द्रव्य को पूर्व में और आकार को पश्चात् में मानता है, किन्तु विचार की दृष्टि से आकार को पूर्व में और द्रव्य को उत्तरवर्ती मानता है। क्योंकि द्रव्य आकार रूप में परिणत होता है अतः द्रव्य पूर्व में है। अरस्तू के अनुसार यदि लक्ष्य आदि के पूर्व नहीं तो क्रिया प्रारम्भ ही नहीं होगी, अतः अन्त आरम्भ से ही विद्यमान है। उदाहरणार्थ, बीज ही वृक्ष बन जाता है। यदि वृक्ष बीज में पहले से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विद्यमान न हो तो वृक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अरस्तू सत्कार्यवादी है, इनके अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में अवश्य विद्यमान रहता है, अतः तार्किक दृष्टि से कार्य कारण में पहले से विद्यमान रहता है। वह असत्कार्यवादी भी है क्योंकि वह यह भी मानता है कि द्रव्य यानी कारण संभाव्य और कार्य यानी आकार वास्तविक है अर्थात् कारण से कार्य में नवीनता भी है।

1.2.7 द्रव्य ह्रास का और आकार विकास का सूचक

अरस्तू विकासवाद के जन्मदाता हैं। उनके अनुसार जगत् की सभी वस्तुओं का विकास हो रहा है। विकास निम्न से उच्च की ओर होता है, संभाव्य से यथार्थ की ओर होता है अर्थात् द्रव्य से आकार की ओर होता है। इस प्रकार विकास की एक शृंखला है। विकास की निम्नतम श्रेणी है- आकार विहीन द्रव्य की और विकास का सर्वोच्च शिखर है- द्रव्य विहीन आकार का। बीच में द्रव्य और आकार सापेक्ष वस्तुएं हैं—

द्रव्यविहीन आकार (आकारों का आकार, ईश्वर)

द्रव्य और आकार सापेक्ष वस्तुएं

आकारविहीन द्रव्य

अरस्तू के दर्शन में द्रव्य और आकार सापेक्ष हैं। विशुद्ध द्रव्य और विशुद्ध आकार कल्पना मात्र हैं। इसी तथ्य को डब्ल्यू. टी. स्टेस ने 'A Critical History of Greek Philosophy, (p.283)' में इस प्रकार व्यक्त किया है— "At the bottom of the scale will be absolutely formless matter, at the top, absolutely matterless form. Both these extremes, however, are abstractions."

विकास की इस प्रक्रिया में जो अज्ञकार सर्वोच्च शिखर पर है उसे ही अरस्तू ने निरपेक्ष आकार और ईश्वर की संज्ञा से अभिहित किया है। अतः अरस्तू के दर्शन में विकास का चरमोत्कर्ष ईश्वर है, जो द्रव्य विहीन आकार अर्थात् आकारों का आकार है।

1.3 जैन दर्शन में द्रव्य एवं आकार

भारतीय दर्शनों में जैनदर्शन का द्रव्य विचार अत्यन्त प्रसिद्ध है। जैनदर्शन में सत्, द्रव्य, तत्त्व, तत्त्वार्थ एवं पदार्थ आदि शब्दों का प्रयोग प्रायः एक ही अर्थों में होता रहा है। जो सत् रूप पदार्थ है, वही द्रव्य है। तत्त्वार्थ में **सत् द्रव्य लक्षणम्** कहकर द्रव्य को सत् ही कहा गया है। तत्त्वार्थ में द्रव्य को परिभाषित करते हुए कहा गया है—**'गुण पर्यायवद् द्रव्यम्।' आचार्य तुलसी** ने **जैन सिद्धान्त दीपिका** में **'गुणपर्यायाश्रयोद्रव्यम्'** कहकर गुण और पर्याय के आश्रय दाता के रूप में द्रव्य को स्वीकार किया है। **'द्रव्याश्रयाः निर्गुणाः गुणाः'** कहकर **उमास्वाति** ने स्पष्ट किया है कि द्रव्य जिनका आश्रय है तथा जो स्वयं अन्य गुणों को आश्रय नहीं देते, वे गुण हैं। **उत्तराध्ययनसूत्र** में तो द्रव्य के लक्षण में गुण को ही स्थान दिया गया है, वहां पर्याय का उल्लेख नहीं है। **'गुणाणमासओ दव्वं'** के द्वारा उत्तराध्ययनसूत्र में गुणों के आश्रय को ही द्रव्य कहा गया है। यद्यपि ज्ञान के विषय के रूप में यहां द्रव्य, गुण, पर्याय की चर्चा है पर द्रव्य लक्षण में पर्याय का उल्लेख नहीं है। उमास्वाति और कुन्दकुन्द ने गुण के अतिरिक्त पर्याय को भी द्रव्य के लक्षण में सम्मिलित किया है। कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय में द्रव्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि—

"दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू॥"

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यता द्रव्य का लक्षण है और ऐसा द्रव्य सत् है तथा गुण पर्याय युक्त है। यहां द्रव्य से सम्बन्धित तत्त्वार्थ की तीनों परिभाषाओं का समाहार देखा जा सकता है 1. उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षणम् सत् 2. सद् द्रव्य लक्षणम् 3. गुणपर्यायवद् द्रव्यम्।

गुण और पर्याय के उपर्युक्त आश्रय के रूप में द्रव्य को स्वीकार करते हुए **आचार्य भोज सागर** ने **द्रव्यानुयोगतर्कणा** में कहा है—

"गुणपर्याययोः स्थानमेकरूपं सदापि यत्।
स्वजात्या द्रव्यमाख्यातं मध्ये भेदो न तस्य वै॥"

अर्थात् गुणपर्याय का जो स्थान है और जो सदैव एकरूप में रहता है। अपने स्वरूप में जो द्रव्य है, उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। द्रव्य के इस स्थायित्व का बोध द्रव्य शब्द की व्युत्पत्तिपरक परिभाषा से होता है—'अद्रुवत्, द्रवति, द्रोष्यति तांस्तान् पर्यायान् इति द्रव्यम्' अर्थात् जो भिन्न-भिन्न पर्यायों को प्राप्त हुआ है, हो रहा है तथा होगा, वह द्रव्य है। फलितार्थ यह है कि विभिन्न अवस्थाओं का उत्पाद एवं व्यय होने पर भी जो नित्य एवं शाश्वत है, वह द्रव्य है।

जैनदर्शन परिणामवादी है। यहां परिणमन् को महत्त्व दिया गया है। द्रव्य का परिणमन् भी होता है, किन्तु द्रव्य नित्य भी है अतः जैनदर्शन को परिणामवादी के स्थान पर परिणामी नित्यत्ववादी कहना अधिक उचित होगा। वस्तु द्रव्य की अपेक्षा न उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। वह बराबर नित्य प्रकटरूप से बनी रहती है। किन्तु पर्याय की अपेक्षा उत्पन्न और नष्ट होती है। आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में उत्पाद-व्यय ध्रौव्यत्व एवं परिणामी नित्यत्व को दृष्टान्त देकर प्रस्तुत किया है—

"घट मौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादास्थितिष्वयम्।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥"

अर्थात् एक राजा के पास सोने का घड़ा है। राजकन्या उसे चाहती है। राजपुत्र उसे तोड़कर मुकुट बनवाना चाहता है। जब घड़ा तोड़ा जाता है तो राजकन्या रोती है और राजपुत्र प्रसन्न होता है। किन्तु राजा न रोता है, न प्रसन्न होता है क्योंकि वह सोने को चाहता है और सोना दोनों दशाओं में रहता है। अतः उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्व एवं परिणामी नित्यत्व सिद्ध होता है, क्योंकि घट पर्याय के नाश के बिना शोक नहीं हो सकता और मुकुट पर्याय के उत्पाद के बिना हर्ष नहीं हो सकता और सुवर्ण के स्थिर रहने के बिना हर्ष-विषाद का अभाव नहीं हो सकता। इसी को सिद्ध करते हुए द्रव्यानुयोगतर्कणा में कहा गया है—

"पयोव्रतो न दध्यद्यान्नैव दुग्धं दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तेन स्याल्लक्षण त्रयम्॥"

अर्थात् जिसने केवल दूध पीने का व्रत लिया है वह दही नहीं खाता और जिसने दही ही खाने का व्रत लिया वह दूध नहीं पीता तथा जिसने गोरस न खाने का व्रत लिया है वह न दूध पीता है और न दही खाता है क्योंकि दोनों में गोरसपना विद्यमान है। अतः वस्तु में उत्पाद, व्यय का परिणमन् है और ध्रौव्यता भी है।

गुण की दृष्टि से द्रव्य में ध्रौव्यत्व है। गुण पदार्थ में रहने वाले उस अंग का नाम है, जो उसमें सर्वदा रहता है। गुणों में होने वाले परिवर्तन को पर्याय कहते हैं। गुण पदार्थ में सदा रहते हैं, इसलिए इन्हें सहभावी या सहवर्ती भी कहते हैं तथा पर्याय क्षणक्षयी होते हैं, तात्कालिक होते हैं। एक काल में एक ही होते हैं। इस प्रकार क्रम से आने के कारण इन्हें क्रमवर्ती या क्रमभावी भी कहते हैं। गुण त्रैकालिक होते हैं, पर्याय तात्कालिक होते हैं। द्रव्यानुयोग तर्कणा में दोनों का अन्तर स्पष्ट है—

"सहभावी गुणोधर्मः पर्यायः क्रमभाव्यथ।
भिन्ना अभिन्नास्त्रिविधा स्त्रिलक्षणयुतां इमे॥"

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अर्थात् द्रव्य के साथ सदा रहने वाला जो धर्म है, उसको गुण कहते हैं और द्रव्य में जो क्रम से होने वाला है उसको पर्याय कहते हैं। द्रव्य, गुण तथा पर्याय परस्पर भिन्न भी हैं, अभिन्न भी हैं, तीन प्रकार (संख्याकृत भेद, लक्षणाधिकृत भेद, प्रदेश विभाग कृतभेद) के हैं और त्रिलक्षण (उत्पाद,व्यय,ध्रौव्यत्व) सहित हैं।

यद्यपि द्रव्य को गुण पर्याय वाला कहा गया है तथा उनके परस्पर भेद भी बताए गये हैं किन्तु ये पृथक्-पृथक् नहीं हैं। इनमें कोई सत्तागत भेद नहीं है, अपितु तीनों एकरस रूप हैं, एक सत्तात्मक हैं। पर्याय से रहित गुण और द्रव्य तथा द्रव्य और गुण से रहित कोई पर्याय नहीं होता। तीनों की संयुति ही द्रव्य है। जैसे स्वर्ण अपने पीतत्वादि गुण तथा कड़ा, कुण्डलादि आकृतियों से रहित नहीं मिलता, वैसे ही पदार्थ जब भी मिलता है वह अपने गुण एवं पर्यायों के साथ मिलता है। इसीलिए पर्याय को द्रव्य और गुण से अपृथक् कहा गया है। पंचास्तिकाय में उल्लिखित है—

"पज्जयविजुदं दव्वं विजुत्ता य पज्जयाणत्थि।
दोण्हं अणण्ण भूदं भावं समणा परुवेंति॥"

अर्थात् पर्याय से रहित कोई द्रव्य नहीं तथा द्रव्य से रहित कोई पर्याय नहीं है, दोनों अनन्यभूत हैं। वस्तुतः पदार्थ गुण और पर्यायों का अपृथक् गुच्छ है।

पर्याय दो प्रकार के माने गये हैं—व्यंजन पर्याय और अर्थपर्याय। **जैन सिद्धान्त दीपिका** में व्यंजन पर्याय को परिभाषित करते हुए कहा गया है—

"स्थूलः कालान्तरस्थायी शब्दानां संकेत विषयो व्यंजनपर्यायः।"

अर्थात् वस्तु का स्थूल एवं कालांतर स्थायी जो भेद शब्द का वाच्य बन सकता है, वह व्यंजन पर्याय है।

अर्थपर्याय को भी **जैन सिद्धान्त दीपिका** में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

"सूक्ष्मो वर्तमानवर्ती अर्थपरिणामः अर्थपर्यायः।"

अर्थात् प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण हो रहे परिवर्तन को अर्थपर्याय कहते हैं। यह परिवर्तन इतना सूक्ष्म होता है कि उसको शब्द अपना विषय नहीं बना सकता। शुद्ध, अशुद्ध के भेद से दोनों प्रकार की पर्याय दो प्रकार की होती हैं। उसमें शुद्ध द्रव्य की दोनों पर्यायें शुद्ध होती हैं तथा अशुद्ध द्रव्य की दोनों ही पर्यायें अशुद्ध होती हैं। मुक्त जीव तथा शुद्ध परमाणु की दोनों ही पर्यायें शुद्ध होती हैं तथा संसारी जीव और स्थूल स्कन्धों की दोनों ही पर्यायें अशुद्ध।

उपर्युक्त विवरण से जैनदर्शन के द्रव्य और पर्याय सिद्धान्त का स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत हुआ है। अरस्तू के द्रव्य एवं आकार तथा जैनदर्शन के द्रव्य एवं पर्याय विचार का आवश्यक एवं उपयोगी खाका प्रस्तुत करने के पश्चात् दोनों सिद्धान्तों के तुलनात्मक विवेचन की आवश्यकता महसूस होती है।

1.4 तुलना

ग्रीक युग के महान् दार्शनिक अरस्तू के दार्शनिक विचारों में द्रव्य एवं आकार का विचार केन्द्रिभूत है। अरस्तू के दर्शन से द्रव्य एवं आकार के सिद्धान्त को निकाल दिया जाय तो इस दर्शन में कुछ अवशिष्ट ही नहीं रहता। उसका कारणता सिद्धान्त एवं ईश्वर की अवधारणा भी इसी में समाहित है। अतः द्रव्य एवं आकार की अवधारणा अरस्तू के दर्शन में मूलभूत सिद्धान्त है। द्रव्य एवं पर्याय विचार भी जैनदर्शन का आवश्यक एवं उपयोगी विचार है। बिना इसके लोक की व्यवस्था को समझाया ही नहीं जा सकता। इतना होते हुए भी यह जैनदर्शन का केन्द्रिभूत विचार नहीं है। जैनदर्शन समन्वय एवं सापेक्षता को बढ़ावा देने वाला दर्शन है। अतः इस विचार के पोषक अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद इस दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है। ज्ञान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एवं प्रमाण की अवधारणा तथा श्रावकाचार एवं श्रमणाचार के कारण भी जैनदर्शन का दर्शन जगत् में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

1.5 समानता

अरस्तू ने द्रव्य एवं आकार की अवधारणा प्रस्तुतकर पाश्चात्य जगत् में चले आ रहे सामान्य एवं विशेष तथा वस्तु एवं उसके सार के द्वैत को समाप्त कर दिया था। उसके पूर्ववर्ती दार्शनिक प्लेटो ने प्रत्यय एवं वस्तु तथा सामान्य एवं विशेष के अलग-अलग अस्तित्व को स्वीकार किया था। प्लेटो के अनुसार प्रत्यय का स्थान पारमार्थिक जगत् है और वस्तु का स्थान सांसारिक जगत् है। उसने सामान्य और विशेष दोनों को अलग-अलग माना था परन्तु अरस्तू ने इस द्वैत को समाप्त करते हुए कहा था कि किसी भी सामान्य का अस्तित्व विशेष से पृथक् नहीं और कोई विशेष सामान्य से पृथक् नहीं है। सामान्य एवं विशेष अनुस्यूत है। सोना भारी है उदाहरण में सोना से परे सोने का भारीपन नहीं है और सोने के भारीपन से परे सोना नहीं है। अरस्तू कहता है कि मनुष्यत्व से परे किसी मनुष्य का अस्तित्व नहीं है और मनुष्य से परे मनुष्यत्व की कोई उपयोगिता नहीं है। अरस्तू के दर्शन में द्रव्य विशेष एवं आकार सामान्य है। उनका मानना है कि जैसे सामान्य से पृथक् विशेष नहीं और विशेष से पृथक् सामान्य नहीं वैसे ही द्रव्य से पृथक् आकार नहीं और आकार से पृथक् द्रव्य नहीं है। अरस्तू के ये विचार बिल ड्यूराण्ट के शब्दों में—

"Formless matter would be nothing, for everything has a form. Matter, in its widest sense is the possibility of form; form is the actuality, the finished reality, of matter ."(outlines of Philo. P. 79)

जैनदर्शन में भी सामान्य और विशेष को पृथक् नहीं माना गया है। वैशेषिक दर्शन में सामान्य और विशेष को पृथक्-पृथक् मानकर उनमें सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक पृथक् पदार्थ समवाय को स्वीकार किया गया है। इस संदर्भ में जैनदर्शन का मानना है कि सामान्य और विशेष जब पृथक् है ही नहीं तो अलग से पदार्थ मानने की जरूरत ही क्या है। जैनदर्शन में द्रव्य एवं पर्याय को अनुस्यूत कहा गया है। जैसे अरस्तू के दर्शन में द्रव्य से भिन्न आकार नहीं और आकार से भिन्न द्रव्य नहीं वैसे ही जैनदर्शन में द्रव्य से भिन्न पर्याय नहीं और पर्याय से भिन्न द्रव्य नहीं है। जैसे अरस्तू दर्शन में द्रव्य और आकार अवियोज्य होते हुए भी विचारों में उनकी भिन्नता का आकलन किया जा सकता है वैसे ही जैनदर्शन में द्रव्य एवं पर्याय भी अपृथक् हैं किन्तु धारणा में उनकी भी भिन्नता का आकलन होता है।

दोनों में एक प्रमुख समानता सापेक्षता की है। अरस्तू भी सापेक्षवादी दार्शनिक हैं। जैनदर्शन का सापेक्षवाद तो जगत् प्रसिद्ध है। अरस्तू का मानना है कि द्रव्य प्रत्येक काल एवं प्रत्येक स्थिति में एक-सा नहीं रहता, यही स्थिति आकार की भी है। आज का द्रव्य कल का आकार हो सकता है और कल का आकार परसों का द्रव्य हो सकता है। अत: द्रव्य एवं आकार की निरपेक्षता नहीं है। वृक्ष की दृष्टि से लकड़ी आकार है तो मेज की दृष्टि से लकड़ी द्रव्य है। जैनदर्शन में भी द्रव्य एवं पर्याय की निरपेक्षता को अस्वीकार करते हुए कहा गया है कि द्रव्य एवं पर्याय में परिवर्तन होते रहते हैं। सोने की डली (पिण्ड) कभी कंगन, कभी कुण्डल, कभी जंजीर के रूप में परिवर्तित होती रहती है। इसी कारण से जैनदर्शन में द्रव्य-गुण-पर्याय का भेदाभेदवाद प्रसिद्ध है।

1.6 विषमता

उपर्युक्त यत्किंचित समानता के बावजूद दोनों दर्शनों में विषमता के पहलू अनेक हैं, जो इस प्रकार हैं—

- दोनों दर्शनों में द्रव्य एवं आकार की मान्यता में ही अन्तर है। अरस्तू का द्रव्य जैनदर्शन का द्रव्य नहीं माना जा सकता। अरस्तू के दर्शन में द्रव्य के पूर्ण परिणमन का स्वरूप देखा जाता है जबकि जैनदर्शन में द्रव्य का परिणमन होता है परन्तु पूर्ण परिणमन नहीं। **उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यम् सत्** और **सत्**

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

द्रव्यलक्षणम् से स्पष्ट है कि द्रव्य सत् है क्योंकि उत्पाद-व्यय के साथ ध्रौव्यत्व भी है। द्रव्यानुयोग तर्कणा में स्पष्ट है— **"कुम्भमौलि सुवर्णेषु व्ययोत्पत्तिस्थिरात्मसु।**
दुःखहर्षोपयुक्तेषु हेमत्वं निश्चलं त्रिषु॥" (9/3)

अर्थात् व्यय, उत्पाद तथा स्थिरता से गुजरते हुए घट, मुकुट एवं सुवर्ण इन तीनों रूपों में सुवर्ण की स्थिरता है।

- **गुण पर्यायवद् द्रव्यं** भी अरस्तू को मान्य नहीं होगा, क्योंकि अरस्तू ने द्रव्य को निर्गुण, निरुपाधि एवं निर्विशेष माना है, सगुणत्व आकार से सम्बन्धित है, न कि द्रव्य से जबकि जैन दर्शन में गुण का आश्रयदाता द्रव्य ही है। जैनदर्शन में द्रव्य के सामान्य एवं विशेष गुणों का उल्लेख है। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व एवं अगुरुलघुत्व-ये द्रव्य के छः सामान्य गुण हैं और द्रव्य के विशेष गुण सभी द्रव्यों के अपने-अपने हैं। धर्म का गति में सहायक, अधर्म का स्थिति में सहायक, आकाश का अवगाहन कराना, जीव का उपयोग, पुद्गल का पूरण-गलन तथा काल का वर्तना विशेषगुण है जबकि अरस्तू का द्रव्य निर्गुण है।
- अरस्तू का आकार भी जैनदर्शन का पर्याय रूप नहीं है। यदि अरस्तू के आकार को जैनदर्शन का पर्याय मान लिया जाये तो जैनदर्शन में पर्याय की महिमा बढ़ जायेगी और द्रव्य की महिमा घट जायेगी। क्योंकि अरस्तू ने द्रव्य को संभाव्य और आकार को वास्तविक माना है। उसने द्रव्य को बाधक एवं आकार को साधक माना है (Matter abstructs, form constructs) उसके अनुसार जिस वस्तु में द्रव्य का जितना अधिक अंश होगा वह उतना ही अविकसित, पिछड़ा हुआ होगा और जिसमें जितना अधिक आकार होगा वह उतना अधिक विकसित होगा। बीज से वृक्ष, वृक्ष से लकड़ी, लकड़ी से मेज, कुर्सी आदि अपने कारण से अधिक विकसित हैं क्योंकि कारण द्रव्य है और कार्य आकार। जैनदर्शन तो पर्याय को अशुद्ध एवं द्रव्य को अपेक्षाकृत शुद्ध मानता है। अतः द्रव्यत्व ह्रास का और आकारत्व विकास का द्योतक यहां नहीं है।
- अरस्तू द्रव्य को विशेष और आकार को सामान्य मानता है। उसके अनुसार आकार प्रत्यय है और प्रत्यय सामान्य होते हैं और द्रव्य वस्तु है और वस्तु विशेष है, अतः द्रव्य विशेष है किन्तु जैनदर्शन इसके विपरीत द्रव्य को सामान्य और पर्याय को विशेष मानता है क्योंकि सामान्य का परिवर्तन नहीं होता, जबकि पर्याय का परिवर्तन होता रहता है। बदलते हुए पर्याय के बीच सामान्य के रूप में द्रव्य अक्षुण्ण है, ध्रौव्यत्व से युक्त हैं। सामान्य और विशेष में इस प्रकार का भिन्नत्व होते हुए दोनों इसे अनुस्यूत मानते हैं।
- अरस्तू के दर्शन में आकार द्रव्य के पूर्व में भी है और पश्चात् में भी। उसके अनुसार जब कुम्भकार घड़े की संरचना करने चलता है तो मस्तिष्क में पहले आकार बना लेता है, तत्पश्चात् मिट्टी रूपी द्रव्य की खोज करता है। जबकि जैनदर्शन में पर्याय (आकार) द्रव्य के बाद ही होता है, द्रव्य से पूर्व नहीं।
- अरस्तू ने द्रव्य एवं आकार की संयुति जगत् में ही स्वीकार की है। संसार में द्रव्यविहीन आकार और आकारविहीन द्रव्य की कल्पना संभव नहीं है। विकासवाद के अन्तर्गत अरस्तू ने निम्न छोर पर आकारविहीन द्रव्य और उच्च छोर पर द्रव्यविहीन आकार को स्वीकार किया है। यही द्रव्यविहीन आकार ही आकारों का आकार है। इसमें द्रव्य निरंश है, केवल आकार ही आकार है किन्तु जैनदर्शन में ऐसे किसी पर्याय का किसी भी स्तर पर अस्तित्व स्वीकार नहीं है जो द्रव्यविहीन हो। जैनदर्शन में व्यवहार और परमार्थ में सर्वत्र द्रव्य और पर्याय की संयुति है। द्रव्य से परे पर्याय और पर्याय से परे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

द्रव्य का कहीं भी अस्तित्व नहीं है। 'द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु' जैन को प्रत्येक परिस्थिति में मान्य है। कहा भी गया है—

"द्रव्यं पर्यायरहितं पर्यायाद्रव्यवर्जिताः।
क्व कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन वा॥"

अर्थात् किसी भी स्थिति में द्रव्य और पर्याय पृथक् नहीं हो सकते।

- अरस्तू ने द्रव्य एवं आकार के विकास की शृंखला का अंत आकारों के आकार अर्थात् ईश्वर में स्वीकार किया है। यहां ईश्वर को द्रव्यविहीन आकार माना गया है। यही संसार का निमित्त स्वरूप एवं लक्ष्य कारण भी है। समस्त विकास का अधिष्ठाता एवं समस्त गति का अंतिम कारण भी ईश्वर को माना गया है। वह प्रथम चालक (First mover) या आदि प्रवर्तक है और इस कारण से वह स्वयं अचालित (Unmoved) या स्थिर है किन्तु जैनदर्शन में ऐसे किसी ईश्वर की अवधारणा नहीं है। जैनदर्शन ऐसे किसी ईश्वर को स्वीकार भी नहीं करता, जो संसार का कर्त्ता हो, संसार का अधिष्ठाता हो। यहां तो विकास का चरम परमात्मा को माना है, जो आचार की शुद्धता से सबके लिए संभव है।

1.7 सारांश

अस्तु यहां यह कहां जाना उचित होगा कि अरस्तू एवं जैनदर्शन का द्रव्य और आकार सम्बन्धी सिद्धान्त सापेक्षता की दृष्टि से साम्यता रखते हैं किन्तु उपर्युक्त अनेक वैषम्यों से यह स्पष्ट होता है कि द्रव्य और आकार के सम्बन्ध में दोनों में बहुत दूरी है।

1.8 अभ्यास प्रश्नावली

1. निबंधात्मक प्रश्न

1. अरस्तू एवं जैनदर्शन के द्रव्य एवं आकार की अवधारणा के साम्य एवं वैषम्य को स्पष्ट कीजिए।

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. अरस्तू के द्रव्य एवं आकार की मान्यता को स्पष्ट कीजिए।
2. जैनदर्शन के द्रव्य एवं पर्याय की विवेचना कीजिए।

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. अरस्तू ने कितने कारण स्वीकार किये हैं?
2. द्रव्य लक्षण में पर्याय का उल्लेख किस जैन ग्रन्थ में नहीं हुआ है?
3. अरस्तू के दर्शन में आकारों का आकार किसे कहा गया है?
4. जैनदर्शन में 'सत्' किसे कहा गया है?
5. अरस्तू ने द्रव्य और आकारों में किसे सामान्य और किसे विशेष माना है?
6. द्रव्य और आकार की अरस्तू ने क्या परिभाषा की है?
7. जैनदर्शन में पर्याय के कितने भेद किये गये हैं?
8. अरस्तू सापेक्षवादी है या निरपेक्षवादी या दोनों?
9. जैनदर्शन के अनुसार अर्थ पर्याय क्या है?
10. जैनदर्शन का परिणामी नित्यत्ववाद क्या है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–2 : डेकार्ट का द्वैतवाद एवं जैन द्वैतवाद

संरचना

2.0 प्रस्तावना

2.1 उद्देश्य

2.2 डेकार्ट का द्वैतवाद

- 2.2.1 उग्रद्वैतवाद
- 2.2.2 द्वैतवाद के चित, अचित तत्व
- 2.2.3 सम्बन्ध की समस्या और समाधान
- 2.2.4 क्रिया–प्रतिक्रियावाद पर आक्षेप

2.3 जैन द्वैतवाद

- 2.3.1. द्वैतवाद के घटक तत्व
- 2.3.2 द्वैत तत्वों में सम्बन्ध

2.4 तुलना

- 2.4.1 साम्य
- 2.4.2 वैषम्य

2.5 सारांश

2.6 अभ्यास प्रश्नावली

2.0 प्रस्तावना

'द्वैतवाद' भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिकों की ऐसी अवधारणा है जिसमें जड़ एवं चेतन सत्ता को स्वतंत्र रूप में एकसाथ स्वीकारा जाता है। द्वैतवाद सामान्य बुद्धि से पुष्ट होता है। अपने दैनिक जीवन में हम देखते हैं कि हमारे चारों ओर जगत् में दो प्रकार के तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं। एक ओर तो पुद्गल के गुणों से समाक्रान्त जड़ वस्तुएं हैं, जो स्थान घेरती हैं। विस्तार गुण के कारण ये विभाज्य और चेतनविहीन हैं। इसके अतिरिक्त जीव प्राणियों में मनस् का अस्तित्व दिखलाई पड़ता है जो चेतन, अविभाज्य और अमूर्त्त है।

द्वैतवाद दर्शन जगत् का मान्य सिद्धान्त है। पैट्रिक के अनुसार, "हम प्रेम, आशा और विचार आदि के विषय में बात करते समय विस्तार या विभाजन या परिमाणसूचक शब्दों का प्रयोग नहीं करते। उदाहरण के लिए हम यह नहीं कहते कि इतने वर्ग गज प्रेम, इतने किलो आशा या इतने इन्च विचार है। हम नदी, पर्वत, पत्थर, तारे, परमाणु आदि के बारे में इन शब्दों का इस्तेमाल नहीं करते, क्योंकि ये अचेतन हैं। दूसरी ओर ये शब्द चेतन प्राणियों के लिए प्रयोग किये जाते हैं। इस प्रकार प्रतिदिन की भाषा में हम पुद्गल और मनस् के रूपों के लिए नितान्त भिन्न–भिन्न शब्द प्रयोग करते हैं।" पैट्रिक के उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि सामान्य भाषा के प्रयोग से भी द्वैतवाद सिद्ध होता है। नित–प्रतिदिन के अनुभव से भी यह स्पष्ट होता है कि मानसिक क्रियाएं शारीरिक क्रियाओं से भिन्न होती हैं।

दर्शन जगत् में द्वैतवाद की स्वीकृति अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों में दिखाई पड़ती है। ग्रीक दार्शनिक प्लेटो ने प्रत्यय और वस्तु तथा व्यवहार और परमार्थ का द्वैत स्वीकार किया था। द्रव्य और आकार के रूप में द्वैत अरस्तू ने स्वीकार किया। शरीर और आत्मा का द्वैत डेकार्ट के दर्शन में जगत् प्रसिद्ध है। इमेन्युअल काण्ट के दर्शन में भी व्यवहार और परमार्थ का द्वैत स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार भारतीय दर्शन में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भी द्वैतवाद की स्पष्ट अवधारणा है। उपनिषदों में चित्-अचित् का द्वैत, बौद्धों में संवृत्ति और परमार्थ का द्वैत, जैन में जीव-अजीव का द्वैत, सांख्य में प्रकृति-पुरुष का द्वैत, मध्व का जीव-जगत् का द्वैत प्रसिद्ध है।

2.1 उद्देश्य

उपर्युक्त सभी द्वैतवादी अवधारणाओं में डेकार्ट, जैन, सांख्य और मध्व का द्वैतवाद अत्यन्त प्रसिद्ध है। यहां डेकार्ट और जैन दर्शन के द्वैतवाद का तुलनात्मक विवेचन करने के पूर्व दोनों के द्वैतवाद की पृथक्-पृथक् मीमांसा अपेक्षित है।

2.2 डेकार्ट का द्वैतवाद

फ्रान्स के महान् दार्शनिक डेकार्ट को आधुनिक पाश्चात्य दर्शन का जनक कहते हैं। धर्म की कारा में कैद मध्ययुगीन दर्शन को स्वतंत्र कराने का श्रेय डेकार्ट को है। डॉ. चन्द्रधर शर्मा के अनुसार मध्ययुग में दर्शन की स्थिति उस पंख कटे कबूतर की भांति थी जो धर्म की चार दीवारी के भीतर फड़फड़ा सकता था पर उड़ नहीं सकता था। ऐसी स्थिति में दर्शन को आजाद कराने एवं नूतन दार्शनिक प्रणालियों के आविष्कार के कारण उसे आधुनिक दर्शन का पिता कहते हैं। दर्शन के क्षेत्र में डेकार्ट का अपरिमित प्रभाव माना जाता है। स्काटिश दार्शनिक थामस रीड की मान्यता है कि लॉक, बर्कले और ह्यूम के विचारों में डेकार्टीय मीमांसा दिखायी पड़ती है। डेकार्ट दर्शन जगत् में अपनी दार्शनिक पद्धति के कारण भी अमर हुआ है। वह पहला दार्शनिक था जिसने दर्शन को गणितीय नींव पर स्थापित करने की कोशिश की थी। उसका मानना था कि जैसे गणित के वाक्य दो और दो चार होते हैं, प्रामाणिक एवं असंदिग्ध हैं वैसे ही दर्शन के भी निष्कर्ष होने चाहिए। अत: दर्शन को गणित की नींव देकर दर्शन में निश्चितता, प्रामाणिकता, अनिवार्यता एवं असंदिग्धता लाने की उसने कोशिश की थी।

2.2.1 उग्रद्वैतवाद

डेकार्ट को द्वैतवादी ही नहीं, याकूब सिंह एवं डॉ. बी.एन. सिंह जैसे विद्वानों ने उग्रद्वैतवादी तक कहा है। उग्रद्वैतवाद से तात्पर्य है द्वैतवादी मान्यता में कहीं भी समझौता न हो। डेकार्ट के द्वैतवाद में ऐसा ही दृश्य देखने को मिलता है। डेकार्ट का द्वैतवाद उसके द्रव्य मीमांसा से स्पष्ट होता है। उसने द्रव्य की मीमांसा करते हुए तीन प्रकार के द्रव्य स्वीकार किये। उसके अनुसार ईश्वर, चित् और अचित् ये तीन द्रव्य हैं। इन द्रव्यों को वह दो भागों में विभक्त करता है—1. सापेक्ष द्रव्य 2. निरपेक्ष द्रव्य। डेकार्ट के अनुसार द्रव्य वह स्वतंत्र सत्ता है जो अपने अस्तित्व एवं ज्ञान के लिए किसी दूसरे पर निर्भर न हो। इस दृष्टि से डेकार्ट का निरपेक्ष द्रव्य ही सही अर्थों में द्रव्य कहला सकता है। सापेक्ष द्रव्य जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि वह किसी की अपेक्षा करता है, वह निरपेक्ष नहीं है। अब प्रश्न उठता है कि यदि वह निरपेक्ष नहीं तो फिर द्रव्य कैसे माना जा सकता है। डेकार्ट इसके प्रत्युत्तर में कहता है कि सापेक्ष द्रव्य भी द्रव्य ही है क्योंकि ईश्वर के अतिरिक्त इन्हें अन्य किसी की अपेक्षा नहीं है। सापेक्ष द्रव्य के रूप में वह चित्, अचित् को स्वीकार करता है। चित् और अचित् आपस में स्वतंत्र एवं निरपेक्ष हैं किन्तु ईश्वरापेक्ष होने के कारण ही इन्हें सापेक्ष द्रव्य कहा गया है। डेकार्ट के अनुसार इससे इनके द्रव्यत्व की कोई हानि नहीं है। डेकार्ट के दर्शन में सापेक्ष और निरपेक्ष द्रव्य का एक द्वैत है। पर इस द्वैत के कारण वह द्वैतवादी हो सकता है पर उग्रद्वैतवादी वह इस कारण से नहीं है।

डेकार्ट चित् और अचित् को सर्वथा विरोधी तत्त्व मानने के कारण उग्रद्वैतवादी है। उसका मानना है कि तत्त्व दो हैं जड़ तत्त्व अथवा शरीर और मनस् तत्त्व अथवा आत्मा। जड़ तत्त्व का मुख्य गुण विस्तार (Extention) और आत्मा का मुख्य गुण विचार (Thought) है। इस प्रकार आत्मा के गुण जड़तत्त्व के गुणों से विरुद्ध हैं। डेकार्ट के शब्दों में—

"The mind or soul of man is entirely different from body."

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अर्थात् मनुष्य का मनस् अथवा आत्मा शरीर से पूर्णतया भिन्न है और यह भिन्नता इस रूप में द्रष्टव्य है—

चित् (आत्मा)	अचित् (शरीर)
1. यह सक्रिय है	1. यह निष्क्रिय है।
2. यह चेतन है	2. यह अचेतन है।
3. अभौतिक	3. भौतिक
4. अप्रसारित	4. प्रसारित
5. मूलगुण विचार है	5. मूलगुण विस्तार है
6. सरल है	6. जटिल है
7. अविभाज्य है	7. विभाज्य है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा और शरीर आपस में विरोधी हैं। इसमें प्रथम तत्त्व आत्मा डेकार्ट दर्शन का मूल सत्य है। डेकार्ट ने सर्वप्रथम इसी सत्य पर अपना ध्यान केन्द्रित किया और इस सत्य तक पहुंचने के लिए उसने संदेह पद्धति का सहारा लिया। डेकार्ट ने संदेह को ही सत्य तक पहुंचने का माध्यम स्वीकार किया। निस्सन्देह सत्य तभी प्राप्त हो सकता है जब हम सभी मान्यताओं की सन्देहात्मक दृष्टि से परीक्षा करें। इसी को ध्यान में रखकर डेकार्ट का कहना है कि हमें सत्य प्राप्ति के लिए परम्परागत मान्यताओं से अपने को पूरी तरह पृथक् करना है। जिससे हमें निश्चित सत्य की प्राप्ति हो। इसके संदर्भ में परम्परागत विचारों, मान्यताओं एवं भावनाओं से मुक्ति पाना आवश्यक है। फाल्केनबर्ग ने History of Modern Philosophy में इस सत्य को इस रूप में अभिव्यक्त किया है—

"Let us renounce, therefore, all our old views, in order later to accept better ones in their stead or perchance to take the former up again after they shall have stood the test of rational criticism." (p.89)

अर्थात् यद्यपि पूर्व मान्यताओं एवं विचारों से मुक्ति आवश्यक है परन्तु यदि पूर्व मान्यताओं को स्वीकार भी करना हो तो परीक्षा के आधार पर अर्थात् कसौटी पर कसकर ही स्वीकार किया जाय।

2.2.2 द्वैतवाद के चित्, अचित् तत्त्व

डेकार्ट इसीलिए आत्म तत्त्व जैसे सत्य को स्वीकार करने के लिए संदेह को साधनरूप में स्वीकारता है। उसके अनुसार जैसे देखने की क्रिया से देखने वाले का, हंसने की क्रिया से हंसने वाले का अस्तित्व है वैसे ही संदेह की क्रिया से संदेह करने वाले का भी अस्तित्व है। इसी प्रकार सोचने की क्रिया से सोचने वाले का अस्तित्व स्वीकार करते हुए उसकी प्रसिद्ध उक्ति है—Cogito Ergo Sum अर्थात् I think, therefore I am अर्थात् मैं सोचता हूं इसलिए मेरी आत्मा स्वत: सिद्ध है। इस प्रकार उसने संदेह क्रिया से ही संदेहकर्त्ता की सत्ता को स्वीकार किया। यदि संदेहकर्त्ता की सत्ता में भी संदेह किया जाय तो संदेह निराधार होगा। तात्पर्य यह है कि आत्मा की सत्ता ज्ञान की पूर्व मान्यता है। उसके अनुसार—"That I doubt can not be doubted." प्राय: अन्य दार्शनिकों ने भी इस उक्ति को स्वीकार किया है। केम्पानेल के अनुसार 'मेरे ज्ञाता होने से ही मेरी सत्ता स्वत: सिद्ध है।' संत आगस्टाइन का मानना है कि 'यदि मैं अपना निराकरण भी करूं, तो भी मेरी (आत्मा की) सत्ता अनिवार्य है।' उपनिषदों में भी कहा गया है कि 'य एव हि निराकर्त्ता तदेव तस्य स्वरूपम् आदि शंकराचार्य ने भी माना है कि आत्मा का निराकरण भी आत्मा की सत्ता माने बिना संभव नहीं। अत: संदेह और संदेहकर्त्ता में गुण और गुणी, धर्म और धर्मी के सम्बन्ध होने से संदेह गुण से गुणीरूप में आत्मा का अस्तित्व अवश्य सिद्ध है। यदि मैं नहीं तो मेरा विचार भी नहीं। अपने ग्रन्थ मेडीटेशन—II में डेकार्ट कहता है—

"I find here that thought is an attribute that belongs to me, it alone can not be separated from me. I am, I exist, that is certain." (p.151)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अतः यह सिद्ध होता है कि ज्ञान, ज्ञाता के बिना संभव नहीं है। मैं ज्ञाता हूं, इसलिए मेरी सत्ता अनिवार्यतः सिद्ध है।

'मैं सोचता हूं इसलिए मैं हूं,' के द्वारा आत्मतत्त्व की सिद्धि होते ही अचित् (शरीर) की भी सिद्धि हो जाती है। आत्मा ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता है अतः उसे ज्ञेय, कार्य और भोग्य की अपेक्षा है। यही अचित् या जड़तत्त्व है। इस प्रकार चित्, अचित् इन दो तत्त्वों की सिद्धि होती है। दोनों द्रव्य हैं, क्योंकि दोनों की एक-दूसरे से स्वतंत्र सत्ता है। दोनों परस्पर निरपेक्ष और विरुद्ध हैं। एक चेतन है, दूसरा जड़। दोनों की पृथक् और समान सत्ता है। अपने अस्तित्व के लिए वे एक-दूसरे पर निर्भर नहीं है।

2.2.3 सम्बन्ध की समस्या और समाधान

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि डेकार्ट के दर्शन में आत्मा और शरीर का द्वैत सिद्ध है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि चेतन और जड़ यदि विरोधी हैं तो इनमें पारस्परिक सम्बन्ध संभव नहीं है। आत्मा और शरीर का यदि पारस्परिक सम्बन्ध नहीं तो जीवन ही असंभव हो जायेगा। चित् और अचित् के सम्बन्ध के अभाव में जगत् का वैचि=य भी सिद्ध नहीं है। अतः इस द्वैत को मानने से डेकार्ट के समक्ष सम्बन्ध की समस्या भी रही है। डेकार्ट ने इस समस्या का समाधान 'चिदाचित् संयोगवाद' से दिया है। इसी को डेकार्ट के दर्शन में क्रिया-प्रतिक्रियावाद (Interactionism) भी कहा गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा और शरीर में पीनियल ग्रन्थि के द्वारा क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। उसके अनुसार पुराटत नाड़ी ही मन और शरीर के मिलन की शैय्या है। मेडिटेशन—II में ही डेकार्ट कहता है—

"Let us then conceive here that the soul has its principal seat in the pineal gland which exists in the middle of the brain, from where it radiates forth through all the remainder of the body." (p.374)

अर्थात् तब हमें यहां यह सोचना चाहिए कि आत्मा उस छोटी ग्रन्थि में मुख्य स्थिति रखती है जो कि मस्तिष्क के मध्य में विद्यमान है और यहीं से वह शेष शरीर में प्रकाशित होती है।

इसी ग्रन्थि के द्वारा मन में होने वाली क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रभाव शरीर पर पड़ता है तथा शरीर की क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रभाव मन पर पड़ता है। डेकार्ट इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—अश्व और अश्वारोही दोनों भिन्न हैं, परन्तु उसमें पारस्परिक क्रिया संभव है। जिस प्रकार अश्वारोही अश्व की गति में वेग उत्पन्न करता है, अश्व को गतिशील बनाता है, उसी प्रकार मन भी शारीरिक क्रियाओं को उत्तेजित करता है। और जिस प्रकार अश्व को गतिशील देखकर अश्वारोही का मन खिल उठता है उसी प्रकार शरीर की अनुकूल क्रिया से मन प्रसन्न हो उठता है। उसके अनुसार मन तथा शरीर में क्रिया-प्रतिक्रिया का हम प्रतिदिन अनुभव करते हैं। हमारे शरीर को भूख, प्यास लगती है और मन खिन्न हो जाता है। पुनः मन में दुःख-सुख का भाव उत्पन्न होता है और शरीर क्षीण तथा अप्रसन्न हो जाता है। हमारा मन प्रसन्न रहता है तो चेहरा भी खिला हुआ लगता है। मन में दुःख होने पर या निराश होने पर शरीर भी क्षीण होने लगता है। अतः दोनों में अन्तर्क्रिया का सम्बन्ध सिद्ध होता है।

2.2.4 क्रिया-प्रतिक्रिया पर आक्षेप

आत्मा और शरीर के द्वैत से उपजी समस्याओं के समाधान के लिए डेकार्ट ने 'चिदचिद्संयोगवाद' के द्वारा दोनों में जो सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है उसमें अनेक प्रकार की कठिनाई दृष्टिगोचर होती है—

1. यदि आत्मा और शरीर दोनों एक-दूसरे के अत्यन्त विरोधी हैं तो इनमें किसी भी स्थिति में सामञ्जस्य नहीं हो सकता और सामञ्जस्य के अभाव में इनसे कोई कार्य नहीं हो सकता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. दोनों को आपस में विरोधी मानते हुए भी डेकार्ट ने 'पुराततनाड़ी' में क्रिया-प्रतिक्रिया के सम्बन्ध के द्वारा आत्मा और शरीर में जो सम्बन्ध स्थापित करने की कुचेष्टा की है, उसमें निम्नलिखित कठिनाई दिखाई पड़ती है—

   क. आत्मा को अभौतिक एवं अप्रसारित मानते हुए पुरातत नाड़ी में केन्द्रित करना उचित नहीं प्रतीत होता है। जब आत्मा अभौतिक है तो 'पुरातत नाड़ी में उसका मुख्य स्थान' कैसे हो सकता है।

   ख. शरीर और मन विरोधी हैं तो शरीर में कोई क्रिया उत्पन्न होने पर मन को यह कैसे पता चलता है कि इसका मानसिक उत्तर दिया जाना चाहिए।

   ग. शरीर की कुछ क्रियाओं की कोई भी मानसिक प्रतिक्रिया क्यों नहीं होती है? उदाहरण के लिए शरीर के रक्त प्रवाह से मनस् में कोई भी प्रतिक्रिया क्यों नहीं होती है?

   घ. मनुष्यों की तरह पशुओं में भी शरीर और मनस् पाया जाता है। उनके मस्तिष्क में भी 'पुरातत नाड़ी' है फिर वहां मनस् और शरीर का सम्बन्ध क्यों नहीं? डेकार्ट के अनुसार पशुओं में आत्मा और विचार शक्ति नहीं होती है तब फिर उनके शरीर में विभिन्न गतियां किस तरह होती हैं?

3. डेकार्ट का सिद्धान्त शक्ति संरक्षण सिद्धान्त के विरुद्ध है। यह नहीं कहा जा सकता कि शारीरिक घटनाओं से मानसिक घटनाएं और मानसिक घटनाओं से शारीरिक घटनाएं होती हैं।

   4. आत्मा और शरीर परस्पर विरुद्ध होने से कभी एक दूसरे के लिए उपयोगी क्रिया नहीं कर सकते।

5. दोनों यदि परस्पर विरुद्ध हैं तो इनमें क्या सम्बन्ध है? यह सम्बन्ध भौतिक है अथवा अभौतिक? यदि भौतिक हैं? तो अभौतिक आत्मा पर लागू नहीं हो सकता और यदि अभौतिक है तो भौतिक शरीर पर लागू नहीं हो सकता।
6. दो तत्त्व मानने से सबसे बड़ी समस्या आती है पहले कौन? यदि दोनों प्रारम्भ से उपस्थित थे तो उनका कारण क्या था या वे स्वयंभू थे?
7. स्वतंत्र और परस्पर विरोधी लक्षणयुक्त दो तत्त्वों के सम्बन्ध में तब तक कोई संतोषजनक समाधान प्रस्तुत नहीं हो सकता जब तक कि उनका कोई एकत्व आधार न हो।

डेकार्ट के द्वैतवाद के संदर्भ में उपर्युक्त कठिनाइयों से यह स्पष्ट होता है कि यहां भी द्वैतवाद से सम्बन्धित कमोबेश वही कठिनाइयां हैं जो अन्य द्वैतवादी दार्शनिकों के दर्शनों में देखी जाती हैं। अत: कोरा द्वैतवाद अभीष्ट नहीं है क्योंकि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है कि वह अनेकता में एकता, एकता में अनेकता और द्वैत में अद्वैत एवं अद्वैत में द्वैत को खोजे। दार्शनिक संगति के लिए भी द्वैत में अद्वैत और अद्वैत में द्वैत आवश्यक है। अत: डेकार्ट का कोरा द्वैत और उस द्वैतवाद से उद्भूत निष्पत्ति ठीक नहीं है।

2.3 जैन द्वैतवाद

अन्यान्य द्वैतवादियों की तरह जैनदर्शन भी जीव और अजीव के द्वैत को स्वीकार करता है। जिस प्रकार सांख्य प्रकृति और पुरुष को डेकार्ट चित् और अचित् को नित्य, शाश्वत, विभु, स्वतंत्र स्वीकार करता है, उसी प्रकार जैनदर्शन में जीव और अजीव को नित्य, शाश्वत, विभु, स्वतंत्र एवं अनादि स्वीकार किया गया है। जीव और अजीव के रूप में दो त्रैकालिक सत्ता स्वीकार करने के कारण जैन दर्शन भी द्वैतवादी है।

कौन सा दर्शन द्वैतवादी है या अद्वैतवादी है या बहुतत्त्ववादी, इसका ज्ञान उसकी संसार व्यवस्था से ही पता चलता है। चूंकि अद्वैत वेदान्त में जगत् को ब्रह्म का विवर्त माना गया है अर्थात् वैचित्र्यमय यह संसार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उस परमसत्ता ब्रह्म के विवर्त के अतिरिक्त कुछ नहीं है अर्थात् ब्रह्म ही एकमात्र पारमार्थिक सत्ता (एकमात्र परमार्थसत् अद्वयं ब्रह्म) मानने के कारण वेदान्त अद्वैतवादी है। इस सांसारिक व्यवस्था का मूल कारण प्रकृति और पुरुष है। प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन है। दोनों के संयोग से ही इस वैविध्यपूर्ण संसार को समझा जा सकता है अर्थात् संसार प्रकृति-पुरुष दो नित्य, शाश्वत सत्ता का परिणाम है, ऐसा मानने वाले सांख्य द्वैतवादी हैं। चिदणु के रूप में अनेक चिदणुओं को स्वीकार कर और उन्हीं के समूह को संसार मानने से लाइबनीज 'बहुतत्त्ववादी' के रूप में विख्यात है।

2.3.1 द्वैत के घटक तत्त्व

सांख्य की तरह जैनदर्शन भी द्वैतवादी है। जैनदर्शन में संसार को 'लोक' संज्ञा से अभिहित किया गया है। **'यः लोक्यते सः लोकः'** अर्थात् जो दिखाई देता है वह लोक है। यह लोक अनादिकाल से चला रहा है क्योंकि लोक के घटक तत्त्व भी अनादिकाल से चले आ रहे हैं। लोक के घटक तत्त्वों को स्पष्ट करते हुए जैनदर्शन में कहा गया है—**'षड्द्रव्यात्मको लोकः'** अर्थात् छः द्रव्यों से परिपूर्ण लोक है। इन छः द्रव्यों का उल्लेख करते हुए द्रव्यानुयोगतर्कणा में कहा गया है—

"धर्माधर्मौ नभःकालौ पुद्गलो जीव इत्यमी।
अर्थाः षट् समये ख्याता जिनैराद्यन्तवर्जिताः॥" (10/3)

अर्थात् आदि और अन्त से रहित धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल, पुद्गल और जीव ये छः द्रव्य हैं जिनका समेकित रूप लोक है। विश्व व्याख्या में जीव, पुद्गल, आकाश तथा काल इन तत्त्वों की प्रस्तुति कई भारतीय, पाश्चात्य दार्शनिकों ने दी किन्तु धर्म, अधर्म की स्वीकृति तत्त्ववाद के क्षेत्र में जैनदर्शन की मौलिक देन है। जैनेतर किसी भी दर्शन ने इस प्रकार की अभिव्यक्ति नहीं दी। भारतीय दर्शन में धर्म और अधर्म शब्द का प्रयोग तो हुआ है जिसका अभिप्राय है क्रमशः पुण्य और पापकर्म से किन्तु जैन की तत्त्वमीमांसा में धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय का प्रयोजन उस अर्थ से सर्वथा भिन्न है। जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय का विश्व व्याख्या में महत्त्वपूर्ण स्थान है। **'गति सहायो धर्मः'** एवं **'स्थितिसहायोऽधर्मः'** कहकर धर्म एवं अधर्म को परिभाषित किया गया है। जैन दर्शन के आदि संस्कृत ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने **'गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्म्मयोरुपकारः'** (5/17) कहकर धर्म और अधर्म को व्याख्यायित किया है। जीव और पुद्गल की गति में उदासीन भाव से सहायक होने वाले द्रव्य को धर्मास्तिकाय की अभिधा से सम्बोधित किया गया है। गति का असाधारण कारण धर्मास्तिकाय है। धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय सम्पूर्ण लोकव्यापी है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहित होने के कारण ये अमूर्त्त हैं। हर प्रकार की गति एवं स्थिति इन्हीं से संभव है।

'यो दत्ते सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहनम्' से **'अवगाहनो आकाशः'** कहकर सभी द्रव्यों को अवकाश देने वाले द्रव्य के रूप में आकाश को एवं **'वर्तना परिणाम क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य'(तत्त्वार्थ 5/22)** कहकर काल को व्याख्यायित किया गया है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल के उपकार हैं। श्वेताम्बर परम्परा में काल को जीव और अजीव के पर्याय के रूप में स्वीकार किया गया है। अतः इसे स्वतंत्र द्रव्य न मानकर औपचारिक द्रव्य स्वीकारा गया है।

जैनदर्शन का एकमात्र मूर्त्तद्रव्य पुद्गल है। आधुनिक विज्ञान में इसे मैटर (Matter) अथवा एनर्जी (Energy) के नाम से जाना जाता है। पुद्गल शब्द बहुत ही अर्थपूर्ण है। यह 'पुद्' और 'गल' के योग से बना है। 'पुद्' का अर्थ होता है—पूर्ण होना, मिलना, जुड़ना और 'गल' का अर्थ होता है गलना, हटना, टूटना, बिखरना। पुद्गल परमाणु, स्कन्ध अवस्था में परस्पर मिलकर अलग-अलग होते रहते हैं तथा अलग-अलग होकर मिलते-जुलते रहते हैं। इसमें टूट-फूट होती रहती है। इस टूटने और जुड़ने को विज्ञान की भाषा में फ्यूजन एण्ड फ्यूजन (Fusion and Fusion) कह सकते हैं अतः **'पूरणगलन धर्मा पुद्गलः'** अर्थात्

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पूरण-गलन स्वभावी होने से इसकी 'पुद्गल' यह सार्थक संज्ञा है। पुद्गल के गलन प्रभाव से उसका सूक्ष्मतम, अविभाज्य अंश परमाणु है और पूरण प्रभाव से उसका महत् रूप महाचितस्कन्ध है। इन पांचों अजीव द्रव्य के संदर्भ में नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने **'वृहद् द्रव्य संग्रह'** में कहा है—

"अज्जीवो पुण णेओ पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं।
कालो पुग्गल मुत्तो रुवादिगुणो अमुत्ति सेसा हु ॥" (गाथा, 15)

अर्थात् पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल इन पांचों को अजीव द्रव्य जानना चाहिए। इनमें पुद्गल तो मूर्तिमान है क्योंकि रूप आदि गुणों का धारक है और शेष चारों अमूर्त्त हैं।

उपर्युक्त पांच अजीव द्रव्य के अतिरिक्त जैन दर्शन में सबसे प्रधान द्रव्य 'जीव' है। 'चेतना लक्षणो जीवः' कहकर चेतना को इसका मुख्य लक्षण माना गया है। समस्त सुख, दुःख की प्रतीति इस चेतना से ही होती है। इसी चेतना के आधार पर समस्त जड़ द्रव्यों से इसकी अलग पहचान होती है। यह शुभाशुभ कर्म की कर्त्ता एवं भोक्ता है। स्वदेह परिमाण है। उपयोग लक्षण वाला है। यह अस्तित्ववान अविनाशीधर्मा है। **'अत्थि अविणासधम्मी करेइ वेएइ'** (सन्मति प्रकरण, 3/55) में आत्मा के उपर्युक्त स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। जैनदर्शन संसारी एवं शुद्ध जीव को अलग-अलग स्वीकार करता है। सिद्ध जीव तो शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त है। उसको हम नहीं देख सकते। हमारे अनुभव का विषय संसारी जीव बनता है। हमारा जीव के अभिज्ञान से तात्पर्य संसारी जीव से है। भगवतीसूत्र में जीव की पहचान के लक्षण को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि जीव के जीवत्व की अभिव्यक्ति शक्ति एवं प्रयत्न के द्वारा चेष्टापूर्वक गति से होती है। भगवती में ही कहा गया है—**'उवओगलक्खणे णं जीवे'** अर्थात् जीव का लक्षण उपयोग है। चेतना के व्यापार को उपयोग कहा जाता है। चेतना का व्यापार बिना शक्ति के नहीं हो सकता। अतएव प्रयत्न एवं उपयोग जीव के अभिज्ञान के हेतु हैं।

इस प्रकार जैनदर्शन में जीव और अजीव के द्वैत का उल्लेख मिलता है। 'वृहद् द्रव्य संग्रह' का प्रारम्भ ही इस द्वैत से होता है। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं—

"जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा ॥" (गाथा, 1)

अर्थात् देवेन्द्रों से वंदित, जीव और अजीव का विधान करने वाले परम जिनवर को मैं सदा नमस्कार करता हूं। इन पंक्तियों से जीव और अजीव के द्वैत को महत्त्व देते हुए उनके प्रणेता के श्रीचरणों में अपनी संपूर्णश्रद्धा को व्यक्त किया गया है जिससे यह ज्ञात होता है कि जीव और अजीव का द्वैत यहां प्रधान है। अतः संसार की दृष्टि से जीव, अजीव का द्वैत स्पष्ट है। किन्तु संसार के वैचित्र्य की दृष्टि से जीव और पुद्गल का द्वैत भी यहां अभीष्ट है। कोई बहुत सुखी है, कोई बहुत दुःखी है, कोई अपेक्षाकृत सुखी, दुःखी है, ऐसा क्यों? जैनदर्शन में इसका मूल कारण जीव और पुद्गल के संयोग को ही माना गया है। सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार, "संसारी आत्मा कर्म पुद्गलों के साथ क्षीर-नीर की तरह मिली हुई है, अतः अभिन्न है, परन्तु उनका तात्त्विक अस्तित्व स्वतंत्र है अतः वे परस्पर भिन्न भी है।" भगवतीसूत्र में जीव और पुद्गल के सम्बन्धों का निरूपण करते हुए कहा गया है—**"अत्थि णं जीवा य पोग्गला या अण्णमण्णबद्धा, अण्णमण्ण पुट्ठा, अण्णमण्णमोगाढा, अण्णमण्णसिणेहपडिबद्धा, अण्णमण्ण घडत्ताए चिट्ठइ।" (1/3/12-13)**

अर्थात् जीव और पुद्गल परस्पर बद्ध है, स्पष्ट है, अवगाहित है, स्नेह से प्रतिबद्ध है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जीव और पुद्गल में सम्बन्ध होता है, पर ये आपस में विरोधी हैं। विरोध इनमें स्पष्ट देखा जा सकता है—

जीव	पुद्गल
1. चेतन है	1. अचेतन है
2. अमूर्त्त है	2. मूर्त्त है
3. भोक्ता है	3. भोग्य है
4. अभौतिक	4. भौतिक
5. मुक्त	5. बद्ध
6. शुद्ध	6. अशुद्ध
7. अप्रसारित	7. प्रसारित

2.3.2 द्वैत तत्त्वों में सम्बन्ध

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि जीव और पुद्गल आपस में विरोधी हैं। प्रश्न यह उठता है कि इन दो विरोधी तत्त्वों में सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकता है? और सम्बन्ध के अभाव में जगत् वैचित्र्य को व्याख्यायित करना कठिन है। अतः भगवती में भगवान् महावीर ने एक उदाहरण के द्वारा जीव और पुद्गल के परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। तालाब में पानी है। उसमें सैकड़ों छिद्र वाली नौका है। जिस प्रकार वह नौका पानी से भर जाती है, वैसे ही जीव के छिद्र आश्रव हैं, कर्म पुद्गल रूपी पानी उन आश्रवरूपी छिद्रों से नौका में भर जाता है अर्थात् जैसे पानी और नौका अलग-अलग होते हुए नौका के छिद्रों से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है वैसे जैनदर्शन के अनुसार जीव और पुद्गल पृथक्-पृथक् होते हुए भी राग-द्वेष रूपी आत्मछिद्रों के कारण आत्मा से कर्म पुद्गलों का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इसे ही जैनदर्शन में बन्ध कहा गया है। तत्त्वार्थकार ने स्पष्ट किया है—**"सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते संबन्धः।"** (8/2) मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग ये इस बन्ध के कारण माने गये हैं। उद्धृत है—**"मिथ्यादर्शनाविरति प्रमादकषाय योगा बन्धहेतवः।"** (8/1) अतः स्पष्ट है कि राग, द्वेष से युक्त आत्मा के कर्म बंधते हैं—

"स्नेहासिक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम्।
रागद्वेष क्लिष्टस्य कर्मबन्धो भवत्येव ॥"

प्रश्न यह उठता है कि इन दो परस्पर विरोधी स्वभाव वाले द्रव्यों में आपसी सम्बन्ध का कोई अन्य कारण है क्या? जिस प्रकार न्याय वैशेषिक में जड़-चेतन का संयोग कराने के लिए ईश्वर को स्वीकार किया गया है क्या वैसे ही यहां भी ईश्वर को माना गया है? जैनदर्शन में सम्बन्ध कारण के रूप में किसी भी सत्ता को अस्वीकार किया गया है चाहे वह ईश्वर ही क्यों न हो। जैनदर्शन में जीव और पुद्गल के बीच भौतिक सम्बन्ध स्वीकार किया है। यहां सिद्ध एवं संसारी जीव दो प्रकार के माने गये हैं। सिद्धात्मा को सर्वथा अमूर्त्त माना गया है। अतः उसके साथ कर्म पुद्गलों का सम्बन्ध नहीं हो सकता। संसारी आत्मा सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर से आवेष्टित रहती है। किन्तु एक जन्म से दूसरे जन्म में जाते समय इसका स्थूल शरीर छूट जाता है परन्तु सूक्ष्म शरीर इसका नहीं छूटता है। अतः यह सूक्ष्म शरीर धारी जीव ही दूसरा शरीर धारण करते हैं। अर्थात् पुद्गल से सम्बन्धित होते हैं। भगवतीसूत्र में इस प्रश्न को सुलझाते हुए कहा गया है कि सिद्धात्मा का कभी भी पुद्गल से सम्बन्ध नहीं हो सकता अर्थात् अरूप कभी भी सरूप नहीं हो सकता। कर्म, राग, मोह, लेश्या एवं शरीर के कारण जीव मूर्त्त भी है। वैसे जीव स्वरूप से अमूर्त्त है किन्तु

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बद्धावस्था की अपेक्षा मूर्त्त भी है अत: उसका पुद्गल के साथ सम्बन्ध होता है। इसी तरह आत्मा एवं शरीर के सम्बन्ध के बारे में भी कहा जा सकता है। चूंकि शरीर पौद्गलिक है अर्थात् मूर्त्त है तो अमूर्त्त आत्मा का इससे सम्बन्ध कैसे होता है? इस संदर्भ में भी यही कहना अभीष्ट है कि बद्ध आत्मा एक स्थूल शरीर को छोड़ते हुए भी सूक्ष्म शरीर से आवेष्टित रहती है अत: दूसरे स्थूल शरीर से उसका सम्बन्ध होना निश्चित है। वैसे मुक्त आत्मा और शरीर परस्पर भिन्न हैं। संसारावस्था में शरीर और आत्मा का क्षीर-नीरवत या अग्नि-लोहपिण्डवत् तादात्म्य होता है।

इस प्रकार यह स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि जीव, अजीव के द्वैत के बिना 'लोक' के स्वरूप को समझा नहीं जा सकता और जीव और पुद्गल के द्वैत के बिना संसार की विविधता, अनेकता, वैचित्र्य एवं रूपहलेपन को नहीं समझा जा सकता। अत: जैन दर्शन में उपर्युक्त दो प्रकार के द्वैत को स्वीकार करते हुए उनमें अभीष्ट सम्बन्ध को भी तार्किक ढंग से स्थापित किया गया है।

2.4 तुलना

पाश्चात्य दर्शन में डेकार्ट का द्वैतवाद जितना प्रसिद्ध है उतना ही भारतीय दर्शन में सांख्य का द्वैतवाद प्रसिद्ध है। डेकार्ट के दर्शन में आत्मा और शरीर का तो सांख्य के दर्शन में प्रकृति और पुरुष का द्वैत है। छ: द्रव्य और नौ तत्त्व (दिगम्बर परम्परा में 7 तत्त्व) के आधार पर जैनदर्शन को बहुतत्त्ववादी कहा जाना चाहिए किन्तु द्रव्यों एवं तत्त्वों को जीव और अजीव में समाहित करने के कारण जैनदर्शन भी द्वैतवादी है।

2.4.1 साम्य

डेकार्ट के द्वैतवाद और जैनदर्शन के द्वैतवाद में प्रमुख समानता यह है कि दोनों में ही जड़ और चेतन के द्वैत को स्वीकार किया गया है। डेकार्ट के दर्शन में चित् और अचित् का जो द्वैत है वही जैनदर्शन में जीव, अजीव का द्वैत है। जैनदर्शन में भी आत्मा और शरीर का द्वैत है तो डेकार्ट के दर्शन में भी आत्मा और शरीर का द्वैत प्रसिद्ध है। डेकार्ट और जैनदर्शन के द्वैतवाद की सबसे महत्त्वपूर्ण समानता यह है कि दोनों ने द्रव्यों के द्वैत को स्वीकार किया है। डेकार्ट का चित्-अचित् द्रव्य है तो जैनदर्शन का जीव और अजीव या जीव और पुद्गल भी द्रव्य है। अत: दोनों का द्वैत द्रव्यद्वैत कहा जा सकता है। कहते हैं कि जहां द्वैत होगा वहां सम्बन्ध की बात अवश्य उठेगी। सांख्य के प्रकृति और पुरुष में यदि सम्बन्ध स्थापित न होता तो सांख्य के विकासवाद की अवधारणा ही न होती अर्थात् सांख्य दर्शन प्रकृति एवं पुरुष तक ही सीमित रह जाता। अगर डेकार्ट के चित् और अचित् में सम्बन्ध स्थापित न होता तो संसार की सृष्टि एवं ईश्वर की शक्तिमत्ता का प्रदर्शन न हो पाता और डेकार्ट के दर्शन का विकास न हो पाता उसी प्रकार यदि जैनदर्शन में जीव और अजीव का सम्बन्ध न होता तो लोक के स्वरूप, लोक के वैचित्र्य एवं बंधन और मोक्ष की व्याख्या न हो पाती। दोनों ने ही द्वैत से उद्भूत समस्या का समाधान सम्बन्ध के द्वारा किया है। यह बात दूसरी है कि सम्बन्ध के स्वरूप में दोनों में अन्तर है।

2.4.2 वैषम्य

डेकार्ट पाश्चात्य दार्शनिक है और जैनदर्शन भारतीय दर्शनों में एक है। पाश्चात्य दर्शन एवं भारतीय दर्शन की पृष्ठभूमि में ही अन्तर है। भारतीय दर्शन का चरमलक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है जबकि पाश्चात्य दर्शन का चरमलक्ष्य मानसिक जिज्ञासा की निवृत्ति अत: इस पृष्ठभूमि के कारण दोनों में अन्तर होना स्वाभाविक है—

1. जहां डेकार्ट के द्वैतवाद का मकसद संसार के सर्जन, व्यवस्थापन एवं सांसारिक प्राणियों की व्यवस्था तक ही सीमित है वही जैनदर्शन के द्वैतवाद का अभीष्ट केवल यहीं तक सीमित नहीं है अपितु इस द्वैत के रहस्यों का ज्ञान करके इससे परे होना है अर्थात् अद्वैत स्वरूप शुद्धात्मा की प्राप्ति करना है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. डेकार्ट आत्मा एवं शरीर को अर्थात् चित् एवं अचित् को सर्वथा विरोधी मानने के कारण उग्रद्वैतवादी कहा जाता है। उसने आत्मा एवं शरीर में इतनी दूरी स्वीकार कर ली जिससे इस द्वैत से उद्भूत समस्या के समाधान के लिए स्थापित सम्बन्ध पर अनेक प्रश्नचिह्न खड़े हो जाते हैं जबकि जैनदर्शन में आत्मा और शरीर में उतना विरोध स्वीकार नहीं किया गया है जितना डेकार्ट के दर्शन में है। यहां तो शुद्ध आत्मा की शरीर से आत्यन्तिक दूरी है जिससे कभी भी शरीर का सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता किन्तु जिस आत्मा से शरीर का सम्बन्ध स्थापित होता है वह पूर्व में सूक्ष्म शरीर से आवेष्ठित होता है। अत: जैनदर्शन द्वैतवादी तो है परन्तु उग्रद्वैतवादी नहीं है। वैसे भी जैनदर्शन अनेकान्तवादी होने के कारण किसी भी क्षेत्र में कभी भी उग्रवादी नहीं हो सकता।
3. डेकार्ट के द्वैतवाद का प्रथम तत्त्व चित् अर्थात् आत्मा भी जैनदर्शन के जीव की तुलना में काफी स्थूल है। डेकार्ट के आत्मतत्त्व जिसकी निष्पत्ति 'मैं सोचता हूं इसलिए मैं हूं' के आधार पर हुई, खिल्ली काण्ट ने यह कहकर उड़ाई कि ज्ञातास्वरूप आत्मा कभी ज्ञेय नहीं हो सकता जबकि डेकार्ट ने उसे ज्ञाता पद से उतारकर ज्ञेय बना दिया। जैनदर्शन में तो आत्मा ज्ञाता और ज्ञेय दोनों हैं। डेकार्ट के आत्मतत्त्व को 'बौद्धिक आत्मा' तक ही सीमित किया जा सकता है। उन्होंने आत्मा को 'परिमित जीवात्मा' ही समझा जिसे मानव मात्र तक ही सीमित कर दिया। वह पशुओं में भी आत्मा को स्वीकार नहीं करता। वह कहता है कि पशुओं में चैतन्य नहीं क्योंकि पशुओं में विवेक नहीं। उसके दर्शन में चैतन्य और विवेक एक ही है। डेकार्ट के इस आत्मतत्त्व पर कटाक्ष करते हुए डॉ. चन्द्रधरशर्मा ने अपने पाश्चात्य दर्शन पुस्तक में लिखा है, टूटते हुए यंत्र की खड़खड़ाहट और मुमूर्षु पशु की चीत्कार में डेकार्ट ने कोई अन्तर नहीं किया। (पृ.10) जबकि जैनदर्शन में जीव की सूक्ष्म विवेचना की गयी है। यहां तो पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय जीवों के रूप में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पति तक में जीव के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। वृहद्द्रव्यसंग्रह में स्पष्ट है—

"पुढविजलतेयवाऊ वणप्फदी विविहथावरेइंदी।
विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा होंति संखादी॥ " (गाथा, 11)

अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति इन भेदों से नाना प्रकार के स्थावर जीव हैं और ये सब एक स्पर्शन इन्द्रिय के धारक हैं तथा शंख आदि दो, तीन, चार और पांच इन्द्रियों के धारक त्रस जीव भी होते हैं।

4. डेकार्ट के अचित् तत्त्व और जैनदर्शन के अजीव तत्त्व में भी अन्तर है। डेकार्ट ने अचित्तत्त्व उन्हें ही स्वीकार किया जिसका गुण विस्तार हो। जबकि जैनदर्शन के धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल द्रव्य अजीव होते हुए भी विस्तार से रहित है। जैनदर्शन में इन्हें अभौतिक कहा गया है। डेकार्ट के अचित् तत्त्व के विस्तार गुण की अपेक्षा से जैनदर्शन का एकमात्र पुद्गल द्रव्य ही अजीव हो सकता है जबकि जैनदर्शन में धर्म, अधर्म, आकाश, काल एवं पुद्गल सभी को अजीव कहा गया है। यहां जीव और अजीव का भेद विचार एवं विस्तार गुण के कारण नहीं अपितु चेतन और अचेतन गुण से किया गया है। नेमिचन्द ने इस तथ्य को वृहद्द्रव्यसंग्रह में इस प्रकार से प्रतिपादित किया है—

"अज्जीवो पुणणेओ पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं।
कालो पुग्गल मुहत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसाहु॥" (गाथा, 15)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अर्थात् पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल इन पांचों को अजीव द्रव्य जानना चाहिए। इनमें पुद्गल द्रव्य मूर्तिमान है क्योंकि रूप, रस, गंध, स्पर्श गुणों का धारक है और शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल अमूर्त्त हैं।

5. डेकार्ट के द्वैतवाद के अन्तर्गत आत्मा और शरीर को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। यहां आत्मा को अमूर्त्त और शरीर को मूर्त्त कहा गया है जिसके कारण यहां एक समस्या रह जाती है कि अमूर्त्त आत्मा का मूर्त्त शरीर से सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकता है? डेकार्ट ने शरीर के अन्तर्गत 'पुरातत नाड़ी' को आत्मा का मुख्य स्थान मानकर संपूर्ण शरीर के साथ उसके सम्बन्ध की व्याख्या की है। शरीर में पुरातत नाड़ी आत्मा का मुख्य स्थान हो सकता है पर निश्चित स्थान नहीं है क्योंकि अपने ग्रन्थ मेडीटेशन्स II में उसने स्वयं लिखा है, "In fact, the soul is really joined to the whole body and can not properly speaking; say that it exists in anyone of its parts to the exclusion of others, because it is one and in the same manner indivisible." (p. 371)

   अर्थात् वास्तव में आत्मा संपूर्ण शरीर से संयुक्त है और हम उचित रूप में यह नहीं कह सकते हैं कि वह अन्य को छोड़कर किसी एक भाग में उपस्थित है क्योंकि वह एक है और उसी प्रकार से अविभाज्य है।

   डेकार्ट ने उपर्युक्त तथ्यों से आत्मा और शरीर से सम्बन्ध को सिद्ध करने की कोशिश की, परन्तु वह यह स्पष्ट नहीं कर सका कि अमूर्त्त आत्मा का मूर्त्त शरीर से सम्बन्ध कैसे हो सकता है? जबकि जैनदर्शन भी आत्मा को अमूर्त्त और शरीर को मूर्त्त मानता है पर शरीर से जिस आत्मा के सम्बन्ध की बात करता है, वह आत्मा अमूर्त्त नहीं अपितु मूर्त्त ही है क्योंकि वह आत्मा सूक्ष्म शरीर से आवेष्टित होने के कारण मूर्त्त ही है अतः यहां मूर्त्त आत्मा का मूर्त्त शरीर से सम्बन्ध है न कि अमूर्त्त आत्मा का मूर्त्त शरीर से। अतः यह कहना उचित है कि डेकार्ट के दर्शन में अमूर्त्त आत्मा का मूर्त्त शरीर से सम्बन्ध की समस्या का समाधान नहीं हो सका जबकि जैनदर्शन इस समस्या का समाधान करने में सफल हुआ है।

6. डेकार्ट ने चित् और अचित् अर्थात् आत्मा और शरीर को पूर्णतया भिन्न मानकर दोनों में सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है और दोनों के बीच 'क्रिया प्रतिक्रिया' (Inter actionism) का सम्बन्ध स्वीकार किया है। उसके अनुसार आत्मा की क्रिया की प्रतिक्रिया शरीर में और शरीर के क्रिया की प्रतिक्रिया आत्मा में होती है किन्तु जब आत्मा और शरीर एक दूसरे के पूर्णतया विरोधी हैं तो एक की क्रिया की दूसरी प्रतिक्रिया क्यों करेगा? डेकार्ट के दर्शन की यह समस्या है, जिसके कारण डेकार्ट के क्रिया प्रतिक्रिया सम्बन्ध की आलोचना भी हुई है। जैनदर्शन में आत्मा और शरीर के सम्बन्ध में क्षीर-नीर और अग्नि लोहपिण्डवत् तादात्म्य माना गया है, अतः यहां डेकार्ट जैसी समस्या नहीं रह जाती और सम्बन्ध की व्याख्या भी सहज हो जाती है।

7. डेकार्ट जब अमूर्त्त आत्मा का मूर्त्त शरीर से सम्बन्ध स्थापित करने में असफल हो जाता है तो ईश्वर की इच्छा को आरोपित कर सम्बन्ध को स्थापित करता है। वह कहता है "To one who pays attention to God's immensity, it is clear that nothing at all can exists which does not depend on him. This is true, not only of everything that subsists, but of all order, of every law, and of every reason of truth and godness."

   अर्थात् सारी व्यवस्थाएं ईश्वर की इच्छा से हुई हैं। अतः डेकार्ट का यहां मानना है कि ईश्वर की ऐसी इच्छा है कि आत्मा का शरीर से सम्बन्ध हो, सो होता है। जैनदर्शन चूंकि पुरुषार्थवादी है। यहां ईश्वर और ईश्वर की इच्छा से किसी भी प्रकार के कार्य संपादन को स्वीकृति नहीं मिली है। जैनदर्शन के अनुसार यदि ईश्वर की इच्छा से आत्मा और शरीर का सम्बन्ध है और ईश्वर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सर्वशक्तिमान् है तो संसार में सबको हृष्टपुष्ट होना चाहिए था, सबको शरीर और आत्मा से समान होना चाहिए था पर संसार में ऐसा देखा नहीं जाता अत: ईश्वर की इच्छा से आत्मा और शरीर के सम्बन्ध की बात शायद ही किसी के गले उतरे। इसका मतलब यह नहीं कि जैनदर्शन ईश्वरवादी नहीं है। जैनदर्शन में ईश्वर को सृष्टि या किसी कार्य का कर्त्ता स्वीकार नहीं किया गया है। यहां परमात्मा ही ईश्वर रूप है, जो सबका अभीष्ट है।

2.5 सारांश

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट होता है कि पाश्चात्य दर्शन में प्रमुख स्थान प्राप्त डेकार्ट के द्वैतवाद के समक्ष अनेक कठिनाइयां हैं जिसके कारण उसके अपने ही शिष्य ग्यूलिंक्स और मेलेब्रान्श ने उसके द्वैतवाद को पिघला दिया था और स्पिनोजा ने उसे अद्वैतवाद के रूप में परिवर्तित कर दिया था किन्तु जैनदर्शन के द्वैतवाद की सूक्ष्म विवेचना ने द्वैतवादी कठिनाइयों से इसकी सुरक्षा की है। सबसे बड़ी बात यह है कि उग्रता हर जगह समस्या उत्पन्न करती है। चूंकि डेकार्ट का द्वैतवाद उग्रता लिए हुए है अत: यहां समस्या आना स्वाभाविक था। एफ. मेयर के अनुसार, "As for descartes, the dualism between mind and body remained very dissatisfying, since descartes had divided the universe into two realms- one completely mechanical, the other completely teleological. How could there be any effective relationship between the two. How could the mind react upon matter. How could the absolute substance be combined with two relative substance." (A History of Modern philo. P. 157) जैनदर्शन ने अपने द्वैतवाद की उग्रता से रक्षा की है, इसलिए वह तार्किक एवं संगतपूर्ण है।

2.6 अभ्यास प्रश्नावली

1. निबंधात्मक प्रश्न

1. द्वैतवाद किसे कहते हैं? डेकार्ट और जैनदर्शन के द्वैतवाद के साम्य एवं वैषम्य पर प्रकाश डालिए।

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

क. क्रिया प्रतिक्रियावाद क्या है? डेकार्ट इसके द्वारा आत्मा और शरीर में तार्किक सम्बन्ध क्यों नहीं स्थापित कर पाता?

ख. जैनदर्शन में अमूर्त्त आत्मा का मूर्त्त शरीर से सम्बन्ध की समस्या का समाधान कैसे किया गया है?

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न (अति संक्षेप में उत्तर दें)

1. सांख्य के द्वैतवाद में दो तत्त्व कौन-कौन से हैं?
2. डेकार्ट के शिष्य कौन-कौन से थे?
3. जैनदर्शन के द्वैतवाद में कौन-कौन से तत्त्व हैं?
4. जैनदर्शन के द्वैतवाद के दो तत्त्वों में किस गुण को लेकर विरोध है?
5. डेकार्ट ने अचित् का गुण क्या माना है?
6. जैनदर्शन में अजीव द्रव्य कौन-कौन से हैं?
7. डेकार्ट पशुओं में आत्मा मानता है या नहीं?
8. डेकार्ट ने आत्मा और शरीर के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध माना है?
9. जैनदर्शन में पुद्गल का मूलगुण क्या है?
10. जैनदर्शन में ईश्वर किस रूप में स्वीकार्य है?

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–3 : लाइबनीज का चिदणुवाद और जैन आत्मवाद

संरचना

3.0 प्रस्तावना

3.1 उद्देश्य

3.2 लाइबनीज का द्रव्यवाद

3.2.1 चिदणुवाद

3.2.2 चिदणु के लक्षण

3.2.2.1 अविभाज्यता

3.2.2.2 तात्विकता

3.2.2.3 शाश्वतता

3.2.2.4 चेतना

3.3 चिदणु की क्रियाएं

3.4 तारतम्यता

3.5 चिदणुओं में सम्बन्ध

3.6 जैन दर्शन में आत्मवाद

3.7 तुलना

3.8 समानता

3.9 असमानता

3.10 सारांश

3.11 अभ्यास प्रश्नावली

3.0 प्रस्तावना

यूरोपीय दर्शन में लाइबनीज अरस्तू के बाद एक ऐसे दार्शनिक हुए जिन्हें सर्वज्ञान संपन्न की संज्ञा दी जा सकती है। पाश्चात्य दर्शन में जिस बुद्धिवाद की स्थापना रेने डेकार्ट (1596–1650 ई.) ने किया, उसे चरमोत्कर्ष पर पहुंचाने का श्रेय जर्मनी के महान् दार्शनिक लाइबनीज (1646–1716 ई.) को है। लाइबनीज ने अपने पूर्ववर्ती दार्शनिक डेकार्ट एवं स्पिनोजा के दार्शनिक सिद्धान्तों का अध्ययनकर उसे परिष्कृत रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। उसने डेकार्ट के द्वैतवाद की और स्पिनोजा के अद्वैतवाद की समीक्षा करके, द्वैतवाद और अद्वैतवाद को असंगतिपूर्ण सिद्धकर बहुतत्त्ववाद की वकालत की। लाइबनीज के दार्शनिक सिद्धान्तों को कालान्तर में हेगल और ह्वाइटहेड ने किसी–न–किसी रूप में स्वीकार किया, जिससे उनके दार्शनिक विचारों की श्रेष्ठता का आकलन किया जा सकता है।

3.1 उद्देश्य

यहां हमारा उद्देश्य पाश्चात्यके महान दार्शनिक लाइबनीज के चिदणुवाद का जैनदर्शन के आत्मवाद से तुलना करना है ताकि दोनों दर्शनों के विषय सम्बन्धी मूल रहस्य उद्घाटित हों सकें।

3.2 लाइबनीज का द्रव्यवाद

लाइबनीज बुद्धिवादी दार्शनिक था। बुद्धिवादी युग में 'द्रव्यविचार' दर्शन के केन्द्र में था। डेकार्ट और स्पिनोजा ने भी द्रव्यविचार से ही अपने दर्शन का प्रारम्भ किया था। लाइबनीज ने डेकार्ट और स्पिनोजा के द्रव्य विचार 'द्रव्य वह स्वतंत्र सत्ता है, जो अपने अस्तित्व एवं ज्ञान के लिए किसी दूसरे पर निर्भर नहीं' को अस्वीकार कर दिया। स्पिनोजा ने द्रव्य के अस्तित्व पर बल देते हुए अपने ग्रन्थ नीतिशास्त्र में कहा था—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

"By substance, I mean that which exists in itself, and is conceived by itself."

लाइबनीज के अनुसार द्रव्य को परम स्वतन्त्र मानना उचित है, परन्तु स्वतंत्रता का तात्पर्य डेकार्ट और स्पिनोजा से भिन्न है। लाइबनीज के अनुसार स्वतंत्र होने का अर्थ स्वतंत्र सत्ता नहीं अपितु स्वतंत्र शक्ति है। अत: द्रव्य वह नहीं जिसकी सत्ता अपने आप पर आश्रित हो अपितु, वह जिसमें स्वतंत्र क्रिया हो तथा सभी प्रकार के परिणामों का जो स्वत: आधार हो।

इस प्रकार लाइबनीज द्रव्य का लक्षण सत्ता नहीं अपितु क्रिया स्वीकार करते हैं। अत: द्रव्य को सत्ता सम्पन्न के स्थान पर शक्तिसम्पन्न कहा जाना चाहिए। लाइबनीज के द्रव्य विचार को आर. फाल्केनवर्ग ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"Substance is not that which exists through itself, but which acts through itself or that which containing in itself the ground of its changing states. Substance is to be defined by active force. Substance is being a capable of action. Because of its inner activity every existent thing is a determined individual and different from every other thing. Substance is an individual thing endowed with force." (History of Modern philo. P.270)

लाइबनीज ने उस स्वतंत्र शक्तिसम्पन्न द्रव्य को चिदणु (Monad) नाम से अभिहित किया है। चिदणु को द्रव्य मानने के कारण लाइबनीज का द्रव्य सिद्धान्त चिदणुवाद (Monodology) के नाम से प्रसिद्ध है। चिदणु (मोनाड) लाइबनीज के मस्तिष्क की उपज नहीं है। लाइबनीज के पूर्व ब्रूनो, टामस एक्विनस एवं वान हेलमोण्ट (Van Helmount) ने इस शब्द का प्रयोग किया था। ल्यूमेकर (Loemker) के अनुसार इटली के प्रसिद्ध दार्शनिक गिआर्दिनो ब्रूनो (Giordano Bruno) जीवित द्रव्य के रूप में 'चिदणु' का प्रयोग कर चुका था, पर लाइबनीज ब्रूनो के बजाय संत टामस एक्विनस का आभार स्वीकार करता है—

"I saw that these forms and these souls must be indivisible, just as is our mind, in fact, I remembered that this was the opinion of St. Thomas with regard to the souls of beasts."

कुछ लोगों के अनुसार संभवत: लाइबनीज ने मोनॉड शब्द प्रसिद्ध रासायनिक वान हेलमाण्ट से लिया था। वान हेलमाण्ट ने ही सर्वप्रथम सरल, सूक्ष्म, न्यूनतम अवयव को मोनाड या चिदणु माना है। इस विवरण से इतना तो स्पष्ट ही है कि मोनाड पहले से ही प्रचलित था। लाइबनीज के अनुसार चिदणु विश्व के परम सूक्ष्म न्यूनतम विशेष पदार्थ हैं जो शक्तिसम्पन्न, अविनश्वर तथा चिद्रूप हैं। ये चिदणु ही विश्व के परम द्रव्य हैं।

3.2.1 लाइबनीज का चिदणुवाद

लाइबनीज का चिदणुवाद 'आध्यात्मिक द्रव्यवाद' का श्रेष्ठ उदाहरण है। उसने 'चिदणु' को ही परम द्रव्य के रूप में स्वीकार किया है। यह शब्द उसने किसी से भी प्रभावित होकर लिया हो पर इसके लक्षण के निर्धारण में वह भौतिकशास्त्र (Physics) और गणितशास्त्र (Mathematics) दोनों से प्रभावित था। भौतिकशास्त्र में पदार्थ तात्त्विक है पर अविभाज्य नहीं और गणित के बिन्दु अविभाज्य तो हैं पर तात्त्विक नहीं। भौतिक पदार्थ की तात्त्विकता एवं गणित के बिन्दु की अविभाज्यता को ग्रहण कर लाइबनीज ने चिदणु को अविभाज्य एवं तात्त्विक माना है। इतिहासकार फाल्केनवर्ग के अनुसार, "चिदणु की इस धारणा में लाइबनीज ने भौतिक पदार्थ की यथार्थता तथा गणित के बिन्दु की अविभाज्यता का समन्वय किया है।"

'चिदणु' अर्थात् चेतन अणु से लाइबनीज के द्रव्य का लक्षण चेतन ही सिद्ध होता है।

3.2.2 चिदणु के लक्षण

उपर्युक्त चिन्तन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि चिदणु निरवयव, अविभाज्य तात्त्विक एवं चेतन हैं। ये अपनी शक्ति का स्वयं केन्द्र हैं। ये अनादि, अनन्त और नित्य हैं। एफ. थिली ने लाइबनीज के चिदणु के लक्षण को स्पष्ट करते हुए 'A History of Philosophy' में लिखा है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

"Body, then, is a plurality of simple forces. Since many things exists there is not one single force in nature, but an infinite number of forces, everyone of which is a particular, individual substance. Force is indivisible or simple, hence it is immaterial and unextended ..... are called metaphysical points, monads. "(p. 387)

अर्थात् द्रव्य एक नहीं अनेक हैं, ये चेतन हैं। संसार का प्रत्येक पदार्थ इन्हीं सरल शक्तिरूप तत्त्वों का संघात है। शक्ति का विभाजन संभव नहीं, क्योंकि अभौतिक होने के कारण इसमें विस्तार नहीं है। विस्तार भौतिक पदार्थों का गुण है। जिसमें विस्तार नहीं, वह भौतिक नहीं तात्त्विक एवं सरल है। इसी सरल एवं तात्त्विक द्रव्य को मोनाड (चिदणु) कहा गया है। मोनाड के मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं—

3.2.2.1 अविभाज्यता (Indivisibility)

लाइबनीज का चिदणु अविभाज्य अवयव है, अतः इसे निरवयव भी कहते हैं। न्यूनतम भाग होने के कारण इन्हें परमाणु भी कहा जा सकता है, परन्तु चिदणु और परमाणु में भेद है। भौतिक पदार्थों के अंतिम अविभाज्य अवयव को परमाणु कहते हैं। लाइबनीज के अनुसार भौतिक पदार्थों का अंतिम अविभाज्य अवयव हो ही नहीं सकता क्योंकि भौतिक पदार्थों में विस्तार गुण होता है। अतः अविभाज्य अवयव के लिए आवश्यक है उसका अभौतिक होना। इसलिए यह कहना उचित ही है कि लाइबनीज का अभौतिक चिदणु अविभाज्य हैं। उनका कोई आकार नहीं और न वे देश में स्थान ही घेरते हैं। किसी भी प्रकार के सृजन में इनका संयोग एवं वियोग होता रहता है, पर इससे इनकी निरवयवता एवं अविभाज्यता पर कोई फर्क नहीं पड़ता है।

3.2.2.2 तात्त्विकता (Reality)

चिदणु गणित के बिन्दुओं की तरह काल्पनिक नहीं हैं। इनका वास्तविक अस्तित्व है। लाइबनीज के अनुसार यह संपूर्ण संसार चिदणुओं का ही संग्रहालय है अर्थात् चिदणुओं के बिना इस संसार की कल्पना ही संभव नहीं है। चूंकि संसार प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है, अतः संसार के कारण के रूप में चिदणु की यथार्थता एवं तात्त्विकता निश्चित ही है।

3.2.2.3 शाश्वतता (Eternity)

चिदणु संवृति सत् व्यवहारिक सत् न होकर पारमार्थिक सत् हैं। ये क्षणिक, स्थायी नहीं अपितु चिरस्थायी हैं। चिदणु सृष्टि के पूर्व थे, सृष्टि में हैं और सृष्टि के उपरान्त भी रहेंगे। ये आदि एवं अंत रहित हैं। चूंकि ये विस्तार गुण से रहित है, चूंकि ये उत्पत्ति एवं विनाश से रहित है अतः इनकी शाश्वतता में कोई संदेह नहीं है। थिली ने इनकी शाश्वतता का चित्रण इस प्रकार किया है—

"Moreover, such centers of forces must be eternal, they can not be destroyed, only a miracle could destroy them-nor can they be created, monads can neither rise nor disappear." (A History of Philo. P. 387) अर्थात् चिदणु उत्पत्ति और विनाश से रहित अविनाशी एवं शाश्वत है।

3.2.2.4 चेतना (Consciousness)

चिदणु नाम से ही स्पष्ट है चिद्+अणु अर्थात् चेतन अणु। लाइबनीज के अनुसार कोई भी भौतिक सत्ता शाश्वत सत्ता नहीं हो सकती। भौतिक सत्ता में विस्तार गुण अवश्य होगा और जिसमें विस्तार होगा, वह उत्पन्न और नष्ट होगी। विस्तार और जड़ता पर्यायवाची है। चूंकि चिदणु विस्तार गुण से रहित अभौतिक द्रव्य है, अतः उनके चेतन होने में कोई संदेह नहीं है। संपूर्ण संसार को लाइबनीज चेतन मानता है। उसके अनुसार संसार में कहीं भी जड़ता नहीं है। यदि संपूर्ण संसार चेतन है तो उसके कारण रूप चिदणु का चेतन होना निश्चित ही है।

3.3 चिदणु की क्रियाएं

लाइबनीज चिदणु को सक्रिय द्रव्य मानता है। उसके अनुसार 'अर्थक्रियाकारित्व' द्रव्य का प्रमुख लक्षण है। द्रव्य का मतलब ही है शक्तिसम्पन्न होना। उसके अनुसार चूंकि द्रव्य शक्तिसम्पन्न है अतः उसका सक्रिय होना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

निश्चित है। उसकी सक्रियता दो प्रकार की है। एकरूप में प्रत्येक चिदणु समस्त विश्व को अपने भीतर प्रतिबिम्बित करता है। चिदणु सम्पूर्ण जगत् के प्रतिनिधि हैं। लाइबनीज के अनुसार, "Monad is living mirror of universe" अर्थात् चिदणु जगत् का जीता जागता आइना है। इसका मतलब यह है कि संपूर्ण जगत् को हम चिदणु में देख सकते हैं। इसी को लाइबनीज ने प्रत्यक्षीकरण की क्रिया कहा है अर्थात् चिदणु में सम्पूर्ण जगत् का प्रत्यक्ष किया जा सकता है। लाइबनीज के चिदणु की प्रत्यक्षीकरण क्रिया को आर्नाल्ड ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"Each of these substances contains in its nature law of continuation of the series of its operations and everything that has happened to it a will happen to it."

अर्थात् चिदणुओं के स्वभाव में उनके सभी व्यापार श्रेणियों के सातत्य का नियम मौजूद है।

प्रश्न यह उठता है कि चिदणुओं में सम्पूर्ण जगत् कैसे परिलक्षित होता है। इसका उत्तर देते हुए लाइबनीज ने स्पष्ट किया है कि चित् शक्ति के अतिरिक्त सम्पूर्ण विश्व में कुछ है ही नहीं। सम्पूर्ण जगत् को प्रतिबिम्बित करने से तात्पर्य प्रत्येक चिदणु में समस्त विश्व ज्ञानरूप में समाया हुआ है। व्यक्ति में समष्टि का प्रतिबिम्ब है। अणु में विराट् भरा पड़ा है। समस्त विश्व का अर्थ है समस्त चिदणु और उसका प्रतिबिम्ब। अत: चिन्मय रूप विश्व चिदणु में समाहित है, ऐसा कहना उचित ही है।

चिदणु की दूसरी क्रिया के रूप में लाइबनीज कहता है कि प्रत्येक चिदणु व्यक्ति विशेष है। वह अपनी चित्शक्ति का स्वयं केन्द्र है। उसके अनुसार प्रत्येक चिदणु में अपनी स्वतंत्र और अविभाज्य शक्ति है। कोई चिदणु अपने अस्तित्व एवं ज्ञान के लिए किसी अन्य पर निर्भर नहीं है। लाइबनीज मोनाडोलोजी ग्रन्थ में इसे इस रूप में अभिव्यक्त करता है—

"It is even necessary for each monad to be different from everyother." अर्थात् प्रत्येक चिदणु का दूसरे चिदणु से अन्तर होना आवश्यक है। आगे वह यह भी कहता है—

"Monads have no windows through which anything could enter or depart."

अर्थात् चिदणु गवाक्षहीन एवं बाह्य प्रभाव से रहित है। चिदणु की इस दूसरी क्रिया को लाइबनीज के दर्शन में 'प्रयास' कहा गया है। प्रत्येक चिदणु अपने आप में पूर्ण है, वे दूसरे चिदणु से प्रभावित नहीं होते क्योंकि प्रत्येक चिदणु छिद्ररहित है। यह चिदणु की स्वतंत्रता सिद्ध करता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि प्रत्येक चिदणु स्वतंत्र एवं निरपेक्ष हैं तो फिर जगत् को कैसे प्रतिबिम्बित करते हैं। एक तरफ यह कहना कि चिदणु गवाक्षहीन है अर्थात् दूसरों से बिल्कुल प्रभावित नहीं होते हैं तब प्रश्न यह उठता है कि फिर वे जगत् को कैसे प्रतिबिम्बित करते हैं और यदि प्रत्येक चिदणु में समस्त विश्व प्रतिबिम्बित हो रहा हो तो यह कैसे कह सकते हैं कि प्रत्येक चिदणु अपने तक सीमित हैं? लाइबनीज इस विरोधाभास का इस प्रकार समाधान करता है कि चिदणुओं के स्वतंत्र होने और जगत् को प्रतिबिम्बित करने में कोई विरोध नहीं है। चिदणुओं की अपनी चित् शक्ति है और विश्व में भी चित्शक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं है अत: चित् शक्ति के रूप में प्रत्येक चिदणु विश्व को प्रतिबिम्बित कर रहा है क्योंकि प्रत्येक चिदणु की अपनी चित्शक्ति है जिसके लिए वह किसी चिदणु पर निर्भर नहीं है। अत: चिदणु स्वतंत्र एवं गवाक्ष हीन होते हुए भी समस्त विश्व को अपने भीतर प्रतिबिम्बित करता है।

3.4. चिदणुओं की तारतम्यता

चूंकि लाइबनीज चित् तत्त्व के अतिरिक्त किसी तत्त्व को स्वीकार ही नहीं करता अत: उसके अनुसार जिसे लोग अचेतन समझते हैं, उसमें भी आंशिक चेतना है। अचेतन से तात्पर्य चेतना का अभाव नहीं अपितु ईषत् चेतना है। उसने चेतना की 5 अवस्थाएं स्वीकार की हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. अचेतन (Unconscious)
2. उपचेतन (Sub-conscious)
3. चेतन (Conscious)
4. स्वचेतन (Self-conscious)
5. सर्वचेतन (All-conscious)

अचेतन और उपचेतन को लाइबनीज ने लघुचेतना (Petite Preception) कहा है। चेतना के इन्हीं स्तरों के आधार पर वह चिदणुओं में तारतम्य की व्याख्या करता है। लाइबनीज ऐसे किसी द्रव्य की कल्पना तक नहीं करता जिसमें चेतना का अभाव हो अर्थात् चेतना उसके सभी द्रव्यों में है पर चेतना के स्तर भिन्न-भिन्न हैं। जिस प्रकार से पढ़ने की क्षमता प्रत्येक व्यक्ति में है किन्तु कोई हाईस्कूल तक ही पढ़ पाता है, कोई इण्टरमीडिएट तक तो कोई बी.ए. और कोई एम.ए. करने में सफल होता है। यद्यपि पढ़ने की क्षमता सबमें है पर देश, काल, परिस्थिति, परिवेश के कारण अध्ययन की विविधता देखी जाती है। किसी-न-किसी बाधा के कारण सबकी पढ़ाई समान रूप से नहीं हो पाती वैसे ही सभी चिदणुओं में चेतना के विकास की क्षमता है पर सब अपनी चेतनाओं का समान रूप से विकास नहीं कर पाते इसलिए चेतना के स्तरों की तरह चिदणुओं में भी तारतम्यता है। कुछ चिदणु सुषुप्तावस्था को प्राप्त हैं तो कुछ स्वप्नावस्था को तो कुछ जाग्रत अवस्था को। इस आधार पर लाइबनीज ने चिदणुओं को पांच श्रेणियों में विभक्त किया है—

1. अचेतन चिदणु (Unconscious Monad)
2. उपचेतन चिदणु (Sub-conscious Monad)
3. चेतन चिदणु (Conscious Monad)
4. स्वचेतन चिदणु (Self-conscious Monad)
5. सर्वचेतन चिदणु (All-conscious Monad)

इसमें प्रथम दो चिदणु को नग्न चिदणु (Naked monad) कहा गया है, क्योंकि विकास की दृष्टि से ये काफी पिछड़े हुए हैं। प्रथम चिदणु अचेतन है जिसका मतलब चेतना का अभाव नहीं न्यूनतम चेतना है अर्थात् जिसमें न के बराबर चेतना हो। इसे चेतनाभास भी कहा जा सकता है। इस स्तर पर चेतना सोई रहती है। चेतना की कमी के कारण इन्हें कुछ भी प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नहीं हो पाता। यह जड़ जगत् की स्थिति है। उपनिषदों में इसे 'अन्नमयकोश' कहा गया है। चिदणुओं की दूसरी श्रेणी उपचेतन चिदणु की है। इस स्तर पर स्वप्नावस्था की चेतना रहती है। इस स्तर में प्राणस्पन्दन होता है। यह वनस्पति जगत् की स्थिति है। इसे उपनिषदों का प्राणमयकोश कहा जा सकता है। यहां क्षीणतर संवेदन होता है। चेतन चिदणु की तीसरी श्रेणी है। इसमें चैतन्य जाग्रत रहता है। यह स्तर क्षीण ज्ञान और स्पष्ट संवेदन का है। यह सहज मानसिक प्रवृत्तियों का स्तर है। यह पशु जगत् की स्थिति है। उपनिषदों में इसे मनोमयकोश कहा गया है। चिदणुओं की चौथी श्रेणी स्वचेतन चिदणु की है। यह स्पष्टतर ज्ञान का स्तर है। यह मानव जगत् की स्थिति है। मानव विचारशील होता है चूंकि विचार आत्मा का गुण है, इसलिए इस स्तर को आत्मा का स्तर कहते हैं। उपनिषद् में इसे विज्ञानमय कोश कहा गया है।

इतिहासकार आर. फाल्केनवर्ग ने अपनी पुस्तक 'History of Modern Philosophy' में उपर्युक्त स्तर को तीन भागों में इस प्रकार व्यक्त किया है—

"Lowest stand the simple or naked monads which never rise above obscure and unconscious perception pass their lives in a swoop or sleep. If perception rise into conscious, feelings accompanied by memory, then the monad deserve the name of soul. And if soul rises, to self-consciousness and reason it is called spirit." (p. 274)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

फाल्केनवर्ग ने चेतना के प्रथम दो स्तर को सरल या नग्न चिदणु को निद्रा का स्तर और चेतना के स्तर को स्मृति एवं स्वचेतन के स्तर को आत्मा (Spirit) कहा है।

चिदणुओं के पांचवें स्तर को लाइबनीज चिदणुओं का चिदणु अथवा ईश्वर चिदणु (God Monad) कहा है। यह पुरुषोत्तम का स्तर है। यह चेतना की प्रकृष्टतम स्थिति है। यह अलौकिक जगत् है, इसे पारमार्थिक जगत् भी कहा जा सकता है। उपनिषद् में इसे आनन्दमय कोश कहा गया है। यहां चेतना की प्रकृष्टतम स्थिति है। इसीलिए इस स्तर को सर्वचेतन का स्तर कहा गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि चिदणुओं की तारतम्यता है। किन्तु एक प्रश्न यह उठता है कि अगर चिदणु स्वतंत्र एवं गवाक्षहीन हैं और अपने भीतर सम्पूर्ण विश्व को प्रतिबिम्बित करते हैं तो चिदणुओं में तारतम्यता कैसे? यदि चिदणु विकास करते हैं तो एक समान विकास क्यों नहीं कर लेते? आखिर चिदणुओं के इन स्तरों का कारण क्या है? लाइबनीज के अनुसार ये सभी चिदणु पृथक् होते हुए भी एक श्रृंखला में बंधे हुए हैं और सभी विकास की ओर लालायित हैं। अचेतन चिदणु उपचेतन की, उपचेतन चिदणु चेतन की एवं चेतन चिदणु स्वचेतन की लालसा रखते हैं। चार्ट से स्पष्ट है—

ईश्वर चिदणु	●
स्वचेतन चिदणु	●
चेतन चिदणु	●
उपचेतन चिदणु	●
अचेतन चिदणु	●

उपर्युक्त चार्ट से स्पष्ट है कि समस्त चिदणु एक श्रृंखला में बद्ध होकर अपने से उच्च श्रेणी प्राप्त करना चाहते हैं पर इन चिदणुओं में बाधक तत्त्व शक्तिरूप में विद्यमान होने से सब एक समान विकास नहीं कर पा रहे हैं। इनमें जो अवरोधक शक्ति है, उसे लाइबनीज सूक्ष्म जड़ता (Materia Prima) कहा है। जब यह मूर्त्तरूप ले लेता है तो उसे स्थूल जड़ता (Materia Secunda) कहा है। चिदणुओं के चिदणु ईश्वर चिदणु को छोड़कर यह सूक्ष्म जड़ता न्यूनाधिक मात्रा में सभी चिदणुओं में है, इसलिए चिदणुओं में विकास का तारतम्य है। यह सूक्ष्म जड़ता वेदान्त के अविद्या के समान है। यह कहां से आयी और क्यों आई, इसका उत्तर लाइबनीज के पास नहीं है, परन्तु अचेतन और उपचेतन चिदणु में इसका प्रकृष्टतम रूप है। चेतन चिदणु में प्रकृष्टतर रूप और स्वचेतन चिदणु में प्रकृष्टरूप में है। ईश्वर चिदणु में इसका अभाव होने से यह विकास की पराकाष्ठा है।

3.5. चिदणुओं में सम्बन्ध

अब प्रश्न यह उठता है कि जब चिदणुओं में भिन्न-भिन्न स्तर हैं और एक व्यक्ति या प्राणी असंख्य चिदणुओं का समुदाय है तो चिदणुओं की भिन्नता से कोई नया सृजन कैसे हो सकता है। भिन्न-भिन्न पृथक्-पृथक् चिदणु बिखरकर रह जायेंगे, इनसे कोई निष्पत्ति नहीं हो सकेगी। और यह संसार बिखरे हुए चिदणुओं का ढ़ेर अव्यवस्थित बनकर रह जाता। इस कारण से भिन्न-भिन्न चिदणुओं के होते हुए भी लाइबनीज ने इनमें सामञ्जस्य स्थापित किया है। लाइबनीज ने पूर्वस्थापित सामञ्जस्य (Pre stablished harmony) के माध्यम से चिदणुओं में प्रारम्भ से ही सम्बन्ध को स्वीकार किया है। चिदणुओं में सम्बन्ध की व्याख्या लाइबनीज एकतान संगीत (Orchestra) से की है। जिस प्रकार से एकतान संगीत में भिन्न-भिन्न वाद्ययंत्र होते हैं, परन्तु सबसे एक स्वर की ही सृष्टि होती है। एक की क्रिया दूसरे में प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं करती अपितु सबमें समान स्वर उत्पन्न होता है। अतः जिस प्रकार वाद्ययंत्रों की विषमता होने के बावजूद विशेष सम्बन्ध के द्वारा संगीत में विषमता नहीं होती है, उसी प्रकार चिदणुओं की भिन्नता होते हुए भी एकतान संगीत की तरह पूर्वस्थापित सामञ्जस्य के द्वारा इनमें सम्बन्ध स्थापित होता है। ए.के. रोजर्स ने लाइबनीज के दृष्टिकोण को 'A Students History of Philo.' में इस प्रकार व्यक्त किया है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

"I will say that this concomitance which I maintain is comparable to several different bands of musicians or choirs playing their parts seperately, and so placed that they do not see or even hear one-another, which can nevertheless keep perfectly together by each following their own notes, in such a way that he who hears them all finds in them a harmony that is wonderful, and much more surprising than it there had been any connection between them."(p. 283)

इसी प्रकार लाइबनीज ने दो घड़ियों का उदाहरण देकर चिदणुओं के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। दो घड़ियां एक समान समय इसलिए दे रही हैं क्योंकि एक ही घड़ीसाज ने मनोयोगपूर्वक एक बार ही इस प्रकार उनका निर्माण कर दिया है कि वे बराबर समय दें। बार-बार हस्तक्षेप न करना पड़े। इसी प्रकार ईश्वररूपी घड़ीसाज ने चिदणुओं के निर्माण के समय ही उनमें इस प्रकार सामञ्जस्य स्थापित कर दिया है कि उनका सम्बन्ध निश्चित है। इसी सम्बन्ध के आधार पर लाइबनीज ने आत्मा और शरीर के सम्बन्ध को और जगत् की व्यवस्था को सिद्ध किया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि लाइबनीज ने आध्यात्मिक द्रव्यवाद के रूप में चिदणुवाद की स्थापना की है। यद्यपि लाइबनीज ने बड़ी सूक्ष्मता से चिदणु के स्वरूप, लक्षण, भेद एवं सामञ्जस्य की व्याख्या की है, फिर भी उसके चिदणुवाद में अनेक कठिनाइयां दिखाई पड़ती हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. चिदणुओं को स्वतंत्र मानना और पूर्वस्थापित सामञ्जस्य के द्वारा सम्बन्ध स्थापित करना तर्कसंगत नहीं है।
2. चिदणुओं को गवाक्षहीन कहना और समस्त विश्व को प्रतिबिम्बित मानना भी उचित नहीं है।
3. चिदणु को एकरूप मानना और उनके स्तर स्वीकार करना उचित नहीं है।
4. चिदणु को अविनाशी कहना एवं ईश्वर द्वारा निर्मित मानना भी उचित नहीं है।
5. चिदणु को पूर्ण कहना और तारतम्य के द्वारा अपूर्ण मानना भी विरोधाभास से युक्त है।
6. चिदणुओं में स्वतंत्र चित् शक्ति मानना और उनकी चित्शक्ति को बाधा पहुंचाने वाली सूक्ष्म जड़ता को मानना ठीक नहीं है।
7. ईश्वर को चिदणु कहना और चिदणुओं का स्रष्टा मानना कथमपि उचित नहीं है।

उपर्युक्त विरोध इस तथ्य को प्रतिपादित करने में सफल सिद्ध होते हैं कि लाइबनीज का चिदणुवाद एक तार्किक द्रव्यवाद नहीं है।

3.6 जैनदर्शन में आत्मवाद

अदृश्य एवं अमूर्त्त होते हुए भी प्रायः दार्शनिकों ने आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है। यदि अन्य दर्शन ईश्वरवादी हैं तो जैनदर्शन आत्मवादी है यहां जीवन का चरम लक्ष्य ईश्वर मिलन या ईश्वर सान्निध्य नहीं अपितु परमात्मा पद की प्राप्ति है। उपनिषदों में चैतन्य स्वरूप इस इन्द्रिय अग्राह्य आत्मा को अवक्तव्य माना गया है—**"स एष नेति नेति, यतो वाचा निवर्तन्ते, नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यः।"** उपनिषद् के इस वाक्य से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा शब्दातीत है। यह स्वानुभव का विषय है। **आचारांग** में भी आत्मा के स्वरूप का कुछ ऐसा ही वर्णन मिलता है—

"सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मइ तत्थ न गाहिया।"

अर्थात् शब्द आत्मा तक नहीं पहुंच सकते, वे लौट आते हैं। चूंकि आत्मा अरूपी है अतः उसे उपमा के द्वारा बताया नहीं जा सकता अतः आत्मा शब्दातीत है। अतः यह स्पष्ट है कि अमूर्त्त, अरूपी आत्मा का अस्तित्व अवश्य है। उसका निषेध नहीं किया जा सकता। उसके निषेध में भी उसका अस्तित्व सिद्ध है।

3.6.1 आत्मा का स्वरूप

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्राय: दार्शनिक जीव किसी एक विशेषता को ग्रहण करके उसे ही उसका स्वरूप मानकर चित्रित करते हैं किन्तु जैनदर्शन में जीव का सर्वांगीण स्वरूप मिलता है। विविध दार्शनिकों के आत्मा सम्बन्धी मतों का समन्वय जैनदर्शन के आत्मस्वरूप में दृष्टिगोचर होता है। द्रव्यसंग्रह में आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि—

"जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्स सोड्ढगई॥"

अर्थात् आत्मा उपयोगमय है, अमूर्त्त है, कर्त्ता है, देहपरिमाणी है, भोक्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

3.6.2 उपयोगमय

जैन शास्त्रों में उपयोग शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है—

"उपयुज्यते वस्तु परिच्छेदं प्रतिव्यापर्यते जीवोऽनेनेति उपयोग:।"

अर्थात् जिसके द्वारा जीव वस्तु के परिच्छेद/परिज्ञान/बोध के लिए व्यापार करता है वह उपयोग है। भगवती में भी कहा गया है—"उवओगलक्खणे णं जीवे" अर्थात् जीव का लक्षण उपयोग है। प्रश्न उठता है कि उपयोग क्या है? जैनदर्शन के अनुसार "चेतना व्यापारो उपयोग:" अर्थात् चेतना का व्यापार ही उपयोग है। तत्त्वार्थ में 'चेतना लक्षणो जीव:' कहकर जीव का स्वरूप लक्षण चेतना माना गया है। नैयायिक चेतना को आत्मा का स्वरूप लक्षण न मानकर आगन्तुक लक्षण मानते हैं अत: वे ज्ञान को भी आत्मा का स्वभाव न मानकर बाहर से आता हुआ मानते हैं जबकि जैनदर्शन में आत्मा ज्ञानवान् है। एकेन्द्रिय जीवों से लेकर सिद्धों तक में यह ज्ञान हीनाधिक रूप में पाया जाता है। ज्ञान का पूर्ण विकसित रूप सिद्धों में पाया जाता है। पंचास्तिकाय ग्रन्थ में चेतना और ज्ञान को आत्मा मानते हुए कहा गया है—

"ण हि इंदियाणि जीवा काया पुण छप्पयार पण्णता।
जं हवदि तेसु णाणं जीवो ति य तं परूवंति॥ " (गाथा/21)

अर्थात् स्पर्श आदि इन्द्रियों तथा पृथ्वीकाय आदि काय ये जीव नहीं हैं। उनमें जो ज्ञान मात्रा है, वही जीव है। अत: सिद्ध है आत्मा का उपयोग लक्षण चेतना का व्यापार है और आत्मा ज्ञान स्वरूप है।

3.6.3 अमूर्त्त

चार्वाक के मूर्तिक द्रव्य का परिहार करते हुए जैनदर्शन में आत्मा को अमूर्त्त माना गया है। शुद्धस्वरूप की दृष्टि से आत्मा में पुद्गल के गुण रूप, रस, गंध और स्पर्श नहीं होते हैं इसलिए यह अमूर्तिक है पर संसार अवस्था में वह अनादि कर्मों से बद्ध होने के कारण रूपादिवान् होकर मूर्तिक होता है। यह मूर्त्तत्व गुण चेतना का विकार होता है और विकार स्थायी नहीं होता अत: वह अशुद्ध है। अत: जैनदर्शन में निश्चय से जीवों को अमूर्त्त तथा व्यवहार से जीव को मूर्त्तिक कहा गया है। द्रव्य संग्रह में स्पष्ट है—

"वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ॥" (द्रव्य गाथा, 7)

ऐसा ही चित्रण समयसार में कुन्दकुन्द ने किया है—

"अरसमसवमगंधमव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ संठाणं॥" (गाथा, 49)

अर्थात् जीव को रसरहित, रूपरहित, गंधरहित, अव्यक्त अर्थात् इन्द्रिय अगोचर, चेतनागुण वाला और शब्द रहित जानो। आचार्य अमृतचन्द्र ने 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में पुरुषनाम से आत्मा का अमूर्त्तिक लक्षण बतलाते हुए कहा है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

"अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शरसगन्धवर्णः।
गुणपर्यय समवेतः समाहितः समुत्पादव्ययध्रौव्यैः॥"

अर्थात् पुरुष (आत्मा) चेतन स्वरूप है। स्पर्श, रस, गंध और रूप से रहित है। गुण, पर्यायों से सहित तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। इस प्रकार आत्मा अमूर्त्तिक है।

3.6.4 कर्त्ता

जैनदर्शन के अनुसार जीव अपने शुभाशुभ परिणामों का कर्त्ता है। भारतीय दर्शन में सांख्य दर्शन पुरुष को कर्त्ता नहीं मानता। वह समस्त कार्यों की कर्त्री प्रकृति को मानता है। कहा गया है—**"अमूर्त्तश्चेतनो भोगी नित्यो सर्वगतोऽक्रियः।"** अर्थात् आत्मा अकर्त्ता है। जैनदर्शन के अनुसार कर्त्ता कोई और तथा भोक्ता कोई और नहीं हो सकता। जैनदर्शन में आत्मा के कर्त्तापन की स्थिति को द्रव्यसंग्रह में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

"पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्मापादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥" (गाथा, 8)

अर्थात् आत्मा व्यवहार से पुद्गल कर्म आदि का कर्त्ता है और निश्चय से चेतन कर्म का कर्त्ता है और शुद्ध नय से शुद्ध भावों का कर्त्ता है।

3.6.5 देह परिमाणत्व

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा देहपरिमाणी है। यह चींटी जैसे सूक्ष्म शरीर मिलने पर संकुचित और हाथी जैसे स्थूलकाय शरीर मिलने पर विस्तृत हो जाता है। एक दृष्टान्त देकर जैनदर्शन में इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार छोटे कमरे में दीपक का प्रकाश संकुचित हो जाता है और बड़े कमरे में उसका प्रकाश फैल जाता है। परन्तु प्रदेशों में संकोच-विस्तार होते रहने पर भी उसके लोक प्रमाण आत्म-प्रदेशों की संख्या में कोई हानि या वृद्धि नहीं होती। इस तथ्य को जैनदर्शन में इस प्रकार उकेरा गया है—

"अणु गुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेद।
असमुहदो ववहारो णिच्छयणयदो असंखदेसो वा॥" (द्रव्यसंग्रह, 10)

अर्थात् व्यवहार नय से समुद्घात अवस्था के बिना यह जीव संकोच तथा विस्तार से छोटे और बड़े शरीर के परिमाण में रहता है और निश्चयनय से जीव असंख्यात प्रदेशों का धारक है।

3.6.6 भोक्ता

चूंकि आत्मा कर्त्ता है, अतः अपने किये हुए कर्मों की भोक्ता भी है। जैनदर्शन में व्यवहार से जीव को अपने सुख, दुःखों का भोक्ता कहा गया है तथा निश्चय से अपने चैतन्यात्मक आनंदस्वरूप का भोक्ता कहा गया है। यदि आत्मा सुख, दुःख का भोक्ता न हो तो सुख, दुःख की अनुभूति ही नहीं हो सकती। बौद्धदर्शन क्षणिकवादी है अतः वह न ही नित्यात्मा को स्वीकार करता है और न ही कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व को ही मानता है। यदि जीव को अपने कर्मों का भोक्ता न माना जाय तो कर्म व्यवस्था चरमरा जायेगी तथा पाप-पुण्य की व्यवस्था भी समाप्त हो जायेगी। अतः आत्मा भोक्ता है। जैनदर्शन में आत्मा के भोक्तृत्वभाव को इस रूप में व्यक्त किया गया है—

"ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स॥" (द्र.सं. 9)

अर्थात् आत्मा व्यवहार से सुख, दुःख रूप पुद्गल कर्मों को भोगता है और निश्चयनय से आत्मा चेतन स्वभाव को भोगता है।

3.6.7 आत्मा संसारी है

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैनदर्शन आत्मा के संसारी स्वरूप को स्वीकार करता है। उसके अनुसार संसारी आत्मा ही मुक्तावस्था को प्राप्त करता है। अनादि कर्मों से बद्ध होने के कारण संसारी जीव अशुद्ध है। वह पुरुषार्थ के द्वारा कर्मों को नष्टकर शुद्ध होता है। यदि जीव पहले संसारी न होता तो उसकी मुक्ति के उपाय का अन्वेषण भी व्यर्थ है। जैनदर्शन व्यवहार से ही आत्मा को संसारी कहता है। शुद्ध नय से सभी जीव शुद्ध है। कहा भी गया है—

"मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥" (द्र. सं. 13)

अर्थात् संसारी जीव अशुद्ध नय से चौदह मार्गणा स्थानों से तथा चौदह गुणस्थानों से चौदह, चौदह प्रकार के होते हैं और शुद्ध नय से तो सब संसारी जीव शुद्ध हैं।

3.6.8 आत्मा मुक्त है

जैनदर्शन के अनुसार जब तक यह जीव राग-द्वेषादिक विषय विकारों से ग्रसित रहता है, तब तक वह संसारी रहता है। अपने पुरुषार्थ के द्वारा उन्हें नष्टकर वह शुद्ध हो जाता है। मुक्त होते ही वह अशरीरी, अष्टकर्मों से रहित, अनंत सुख से युक्त परम अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

3.6.9 ऊर्ध्वगामित्वरूप आत्मा

जैनदर्शन में जीव को ऊर्ध्वगति स्वभावी कहा गया है। जैसे दीपक की निर्वात शिखा स्वभाव से ऊपर की ओर जाती है, वैसे ही शुद्ध दशा में जीव भी ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाले होते हैं। वायु से प्रकम्पित दीपक की लौ की तरह अशुद्ध दशा में आत्मा कर्मों से प्रेरित होकर चार गतियों में इधर-उधर भ्रमण करते हैं, किन्तु शुद्ध दशा में अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव के द्वारा लोक के अग्रभाग में स्थिर हो जाते हैं। उसके आगे धर्मास्तिकाय के अभाव से गति नहीं कर पातें 'धर्मास्तिकायाभावात्' (त.सू. 10/8) कहकर जैनदर्शन में यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा लोकाग्र में ही स्थित है। जीव के ऊर्ध्वगमन स्वभाव का चित्रण करते हुए द्रव्यसंग्रह में कहा गया है—

"णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता ॥" (गाथा, 14)

अर्थात् आत्मा ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित है, सम्यक्त्व आदि गुणों की धारक है तथा अंतिम शरीर से कुछ कम सिद्ध रूप है और ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अग्रभाग में स्थित है, नित्य है तथा उत्पाद और व्यय से युक्त है।

3.6.10 आत्मा के प्रकार

आत्मा के स्वरूप के चित्रण के पश्चात् अब आत्मा के भेद पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। जैनदर्शन के जीवभेद को निम्न चार्ट के द्वारा समझा जा सकता है—

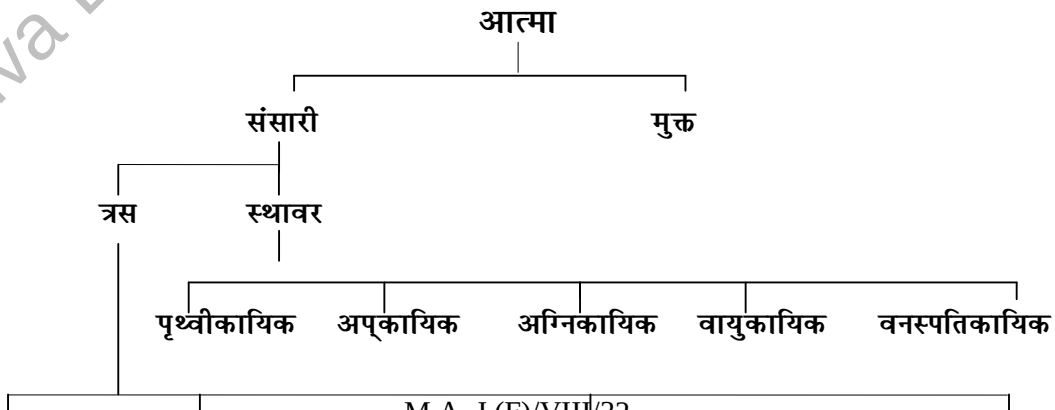

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(एकेन्द्रिय जीव, स्पर्शगुण से युक्त)

द्वीन्द्रिय	त्रीन्द्रिय	चतुरीन्द्रिय	पंचेन्द्रिय
(स्पर्श, रसना कृमि आदि)	(स्पर्श, रसना, घ्राण चींटी आदि)	(स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु भ्रमर आदि)	(स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत, मनुष्य, हाथी आदि)

गति की अपेक्षा से भेद

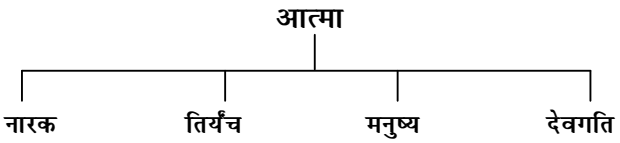

देव, मनुष्य और नारकी जीव पंचेन्द्रिय और संज्ञी ही होते हैं। तिर्यंच गति में एकेन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक के जीव असंज्ञी ही होते हैं तथा पंचेन्द्रियों में कुछ पशु-पक्षी संज्ञी और कुछ असंज्ञी दोनों होते हैं। उपर्युक्त चार्ट से जैनदर्शन में जीवभेद स्पष्ट है, अतः अधिक विवरण की यहां अपेक्षा नहीं है।

3.7 तुलना

प्रसिद्ध बुद्धिवादी दार्शनिक लाइबनीज के चिदणुवाद और जैनदर्शन के आत्मवाद की मीमांसा के पश्चात् ऐसा लगता है दोनों में काफी निकटता है। अतः यहां दोनों के साम्य एवं वैषम्य का खाका प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है।

3.8 समानता

1. जैनदर्शन के आत्मवाद एवं लाइबनीज के चिदणुवाद की मीमांसा के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि दोनों आत्मा की प्रकृष्टता को स्वीकार करने के कारण अध्यात्मवादी हैं। भारतीय दर्शन में जैनदर्शन का अध्यात्मवाद प्रसिद्ध है, परन्तु पाश्चात्य दर्शन में इस प्रकार आत्मा का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत कर लाइबनीज भी सही मायने में अध्यात्मवादी सिद्ध होता है।
2. जैनदर्शन की तरह लाइबनीज भी आत्मा को अमूर्त्त, चेतन, अविभाज्य, नित्य एवं विशिष्ट मानता है। लाइबनीज का आत्मरूप चिदणु अपनी निरवयवता, अविभाज्यता को स्पष्ट करता है।
3. एकेन्द्रिय आत्मा की अवधारणा जैनदर्शन की अपनी विशिष्ट अवधारणा है। इस अवधारणा के द्वारा जैनदर्शन पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में भी जीव के अस्तित्व को स्वीकार करता है। आचारांगसूत्र में इनके जीवत्व का सांगोपांग विवेचन किया गया है। वनस्पति में जीव की अवधारणा को प्रो. जगदीशचन्द्र बसु ने भी सिद्ध कर दिया है। अन्य एकेन्द्रिय जीवों में जीवत्व मानना जैनदर्शन की विशिष्टता है परन्तु पाश्चात्य दार्शनिक लाइबनीज ने भी इनमें जीव स्वीकार किया है। जहां जैनदर्शन इन्हें एकेन्द्रिय जीव के अन्तर्गत रखता है वही लाइबनीज ने इन्हें उपचेतन चिदणु के अन्तर्गत रखा है। चेतन के स्तर में जैनदर्शन में इनका प्रथम स्थान है परन्तु लाइबनीज के दर्शन में चेतना के स्तर में इनका द्वितीय स्थान है। अतः दोनों ही इनमें चेतना मानने के कारण आपस में निकट हैं।
4. चिदणुओं को लाइबनीज गवाक्षहीन, रन्ध्रहीन कहता है। उसके अनुसार "All monads are windowless" अर्थात् सभी चिदणु खिड़की विहीन है। सभी चिदणुओं का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। कोई किसी से प्रभावित नहीं है। सबकी अपनी चेतना है। जैनदर्शन में भी सब जीवों के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। यहां भी जीवों की अपनी विशिष्ट चेतना है। जैसे लाइबनीज चिदणु विकास के लिए लालायित हैं। हर पिछला चिदणु अगले चिदणु तक पहुंचने के लिए प्रयासरत है वैसे ही जैनदर्शन में भी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यह माना गया है कि पुरुषार्थ के द्वारा कोई भी निम्न जीव विकास कर सकता है। किसी जीव के वैशिष्ट्य को दूसरा प्रभावित नहीं कर सकता, इस संदर्भ में दोनों में मतैक्य है।

5. चेतना के स्तर दोनों में ही माने गये हैं। जैनदर्शन संसारी आत्मा में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय के स्तर को स्वीकार किया है। यहां संसारी आत्मा एवं मुक्त आत्मा का स्तर भी स्वीकृत है। बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का स्तर भी माना गया है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार बहिरात्मा सर्वत्र शरीर का अनुवर्तन करता है, अन्तरात्मा शरीर को पोषण देता है किन्तु उसकी दृष्टि आत्मा पर ही रहती है। आलोकप्रज्ञा में वे कहते हैं—

"बहिरात्मा तु सर्वत्र शरीरमनुवर्तते।
अन्तरात्मा शरीरञ्च पुष्णात्यात्मनमीक्षते॥" (पृ.38)

'संबोधि' में उन्होंने राग-द्वेष युक्त आत्मा को शरीर से मुक्त होकर परमात्मारूप में स्वीकार करते हुए कहते हैं—

"आत्मैव परमात्मास्ति, रागद्वेषविवर्जितः।
शरीर मुक्तिमापन्नः, परमात्माभवेदसौ॥" (13/11)

इसी प्रकार लाइबनीज ने भी चेतना के स्तर के आधार पर चिदणु के भेद किये हैं। जैनदर्शन के एकेन्द्रिय जीव की तुलना लाइबनीज के उपचेतन चिदणु से, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय जीवों की तुलना चेतन चिदणु से और पंचेन्द्रिय जीवों की तुलना स्वचेतन चिदणु से की जा सकती है। लाइबनीज का उपचेतन और चेतन चिदणु को जैनदर्शन की बहिरात्मा, स्वचेतनचिदणु को अन्तरात्मा और सर्वचेतन या चिदणुओं के चिदणु (ईश्वर चिदणु) को परमात्मा कहा जा सकता है।

6. जिस प्रकार से जैनदर्शन में परमात्मा को सर्वश्रेष्ठ जीव माना गया है, जो सर्वचेतन एवं शुद्धरूप है, उसी प्रकार लाइबनीज के दर्शन में परमशुद्ध एवं परमचेतन रूप ईश्वर को स्वीकार किया गया है। एफ. मेयर ने लाइबनीज के ईश्वर को इन्हीं विशेषताओं से विश्लेषित करते हुए कहा है कि—

"Leibnitz deduced various attributes of God. He believed God to be, unique, universal, necessary and incapable of limits. God is perfect, perfection being nothing but the magnitude of positive reality."

(A History of Modern Philo. P. 163)

इस प्रकार दोनों के सर्वश्रेष्ठ जीव में समानता है।

7. लाइबनीज का मानना है कि संसार में व्यवस्था चिदणुओं के चिदणु अर्थात् ईश्वर चिदणु से है। जिस प्रकार सर्वश्रेष्ठ जीव ईश्वर संसार की सम्पूर्ण व्यवस्थाओं का आधार है, उसी प्रकार जैनदर्शन में 'परमात्मा' की अवधारणा संसार की व्यवस्था में सहयोगी बनती है। हर व्यक्ति की आत्मा परमात्मा बन सकती है। चूंकि जैनदर्शन में सर्वोत्कृष्ट सत्ता के रूप में परमात्मा का एक आदर्श है, जो अप्रत्यक्ष रूप से संसार की व्यवस्था बनाये रखने में सहयोगी होती है, वैसे अचेतन, उपचेतन चेतन एवं स्वचेतन चिदणु का आदर्श ईश्वर चिदणु है। अतः सभी सांसारिक प्राणी व्यवस्था के अन्तर्गत ही सक्रिय हैं।

इस प्रकार लाइबनीज एवं जैनदर्शन के आत्मवाद में जो समानता थी, उसकी प्रस्तुति के बाद अब दोनों के आत्मवाद में असमानता का विमर्श करना उचित प्रतीत होता है।

3.9 असमानता

आध्यात्मिकता की दृष्टि से लाइबनीज भारतीय दर्शनों के अधिक निकट है। जैनदर्शन की तरह लाइबनीज ने भी 'आत्मा' (चेतना) की सूक्ष्म विवेचना की है, फिर भी दोनों के चेतनावाद में अन्तर है, जो इस प्रकार है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. आत्मा की विशिष्टता का प्रतिपादन करने के कारण जैनदर्शन को आत्मवादी कहा जाता है किन्तु लाइबनीज ने आत्मा की व्यापकता को स्वीकार कर आत्मवादी के स्थान पर सर्वात्मवादी बन गया। 'चेतना लक्षणो जीव:' कहकर यदि जैनदर्शन आत्मवादी है तो 'चेतना विशिष्टो अणु:' की मान्यता को स्वीकार कर लाइबनीज सर्वात्मवादी है।
2. जैनदर्शन जीव और अजीव दो द्रव्यों को स्वीकार कर 'द्वैतवादी' है तो लाइबनीज अनेक चिदणुओं को स्वीकार कर 'बहुतत्ववादी' है। कुछ विद्वानों के अनुसार लाइबनीज एकत्ववादी या अद्वैतवादी ही है। उसने अपने आपको बहुतत्त्ववादी कहा जाना उचित इसलिए समझा क्योंकि पाश्चात्य दर्शन में उसके पूर्व अद्वैतवादी के रूप में स्पिनोजा स्थापित हो चुका था। एकमात्र चेतना के अस्तित्व को स्वीकार करने के कारण उसे अद्वैतवादी ही कहा जाना चाहिए, परन्तु चेतना के विविध स्तरों को स्वीकार कर वह अपने को 'बहुतत्त्ववादी' के रूप में ही स्थापित किया है।
3. वैसे एकेन्द्रिय जीवों के अस्तित्व को स्वीकार कर जैनदर्शन ने आत्मा की सूक्ष्म विवेचना की है, वैसा अन्य किसी भारतीय दर्शन में देखने को नहीं मिलता है। किन्तु लाइबनीज जैनात्मवाद से एक कदम आगे बढ़ा हुआ प्रतीत होता है। उसने जैन के एकेन्द्रिय जीवों में आत्मा को स्वीकार करते हुए जड़ तत्त्वों में भी आत्मा (चेतना) को स्वीकार किया है। उसके अनुसार संसार का कण-कण पत्थर से लेकर मनुष्य तक चेतना से आप्लावित है। वह अचेतन का मतलब चेतना का अभाव न मानकर ईषत् चेतना अर्थात् आंशिक चेतना को स्वीकार करता है अर्थात् जैनदर्शन का अजीव तत्त्व भी लाइबनीज के दर्शन में चेतन रूप ले लेता है, यह लाइबनीज के दर्शन की विशेषता है।
4. जैनदर्शन जहां चेतनवादी है वहीं लाइबनीज सर्व चेतनवादी है। जैनदर्शन अचेतन एवं चेतन के द्वैत को स्वीकार करता है जबकि लाइबनीज अचेतन और चेतन के द्वैत को अस्वीकार कर मात्र चेतना की व्यापकता को स्वीकार करता है। सर्वचेतन की मान्यता से लाइबनीज अति अध्यात्मवादी कहला सकता है पर यथार्थवादी नहीं कहला सकता। संसार में प्रत्यक्ष से यह अनुभव होता है कि चेतन के साथ-साथ अचेतन भी सत् है। अचेतन (चेतना के अभाव) को स्वीकार कर जहां लाइबनीज ने प्रत्यक्ष की वास्तविकता को नकारा है वहीं संसार की वैविध्यता एवं विचित्रता को अस्वीकार कर ठीक नहीं किया है। तर्कशास्त्र की मान्यता है कि हर पक्ष का प्रतिपक्ष होता है। इस आधार पर भी चेतना का भी प्रतिपक्ष होना चाहिए किन्तु चेतना का प्रतिपक्ष अचेतन को न मानने के कारण लाइबनीज का सर्वचेतनवाद जैनदर्शन से तो दूर है ही पर तर्क की कसौटी पर भी खरा नहीं उतरता है।
5. जैनदर्शन में आत्मा और जगत् की भिन्नता को स्वीकार किया गया है। यहां आत्मा एवं जगत् की एकरूपता स्वीकार नहीं है जबकि लाइबनीज 'All monads are living mirrior of the world' कहकर सभी चिदणुओं को जगत् का जीता-जागता दर्पण कहा है। अर्थात् उसका मानना है कि प्रत्येक चिदणु में सम्पूर्ण जगत् प्रतिबिम्बित होता है। जैनदर्शन में संसारी आत्मा अर्थात् बद्ध आत्मा का अपने कर्मों के कारण जगत् से सम्बन्ध है, परन्तु परमात्मा तो पूर्णरूप से जगत् से परे है। लाइबनीज का परम चिदणु ईश्वर भी जगत् से पूर्णतया परे नहीं है, अत: दोनों के चेतनवाद में भिन्नता है।
6. लाइबनीज ने चेतना का स्तर स्वीकार किया है। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि संसार में चेतन ही चेतन सत्ता है तो चेतना में तारतम्यता कैसे? जैनदर्शन में तो चेतना की तारतम्यता जड़तत्त्वों की बाधा के कारण सिद्ध हैं। यहां तो यह माना गया है कि जो आत्मा कर्म पुद्गलों (अजीव तत्त्वों) से जिस मात्रा में आवेष्ठित हो जाती है उस मात्रा के आधार पर चेतना के विविध स्तर हैं। यहां जड़ तत्त्व के अस्तित्व को मानने के कारण चेतना का स्तर सिद्ध है किन्तु लाइबनीज के दर्शन में जड़ तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार न करने के कारण चेतना में तारतम्यता अर्थात् अचेतन, उपचेतन, चेतन, स्वचेतन की तारतम्यता सिद्ध नहीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हो सकती। यद्यपि इस समस्या से निजात पाने के लिए उसने 'सूक्ष्म जड़ता' (Materia Prima) को स्वीकार किया है। यह सूक्ष्म जड़ता जिस रूप में प्रभावित करती है उस रूप को उसने स्थूल जड़ता (Materia secunda) कहा है। यही चेतना में अवरोधक शक्ति है। यह क्या है? किस रूप में है? इसका उत्तर लाइबनीज के दर्शन में नहीं मिलता है। यद्यपि लाइबनीज जड़तत्त्व को प्रत्यक्षरूप से स्वीकार नहीं करता किन्तु यह 'सूक्ष्म जड़ता' या उसका क्रियान्वित रूप स्थूल जड़ता जड़तत्त्व से भिन्न और क्या हो सकता है?

चूंकि इस संदर्भ में यह कहना उचित ही है कि लाइबनीज के दर्शन में चेतना के स्तर की प्रामाणिकता पर संदेह व्यक्त किया जा सकता है।

7. जैनदर्शन आत्मा को नित्य एवं शाश्वत मानता है। यहां आत्मा उत्पत्ति एवं विनाश से परे है। यह अनादि एवं अनन्त है। जैनदर्शन में आत्मा की उत्पत्ति को स्वीकार नहीं किया गया है। शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा नित्य, शाश्वत है। संबोधि में आचार्य महाप्रज्ञ ने नित्य आत्मा के स्वरूप को व्यक्त करते हुए कहा है—

"गेहाद् गेहान्तरं यान्ति, मनुष्याः गेहवर्तिनः।
देहाद् देहान्तरं यान्ति, प्राणिनो देहवर्तिनः॥" (15/23)

अर्थात् एक देह से दूसरी देह में जाने वाली आत्मा नित्य है। जबकि लाइबनीज एक तरफ चिदणु को नित्य, शाश्वत कहता है और दूसरी तरफ समस्त चिदणुओं को ईश्वर द्वारा सर्जित बतलाता है। अगर चिदणु ईश्वर से निर्मित है तो शाश्वत कैसे हो सकते हैं?

8. जगत् में असंख्य चिदणुओं के अस्तित्व को लाइबनीज ने स्वीकार किया है। प्रश्न उठता है कि यदि असंख्य चिदणु हैं तो उनमें सामञ्जस्य कैसे? लाइबनीज ने इस सामञ्जस्य के लिए एकतान संगीत (Orchestra) का उदाहरण दिया है। अर्थात् एकतान संगीत में जैसे अनेक वाद्ययंत्र पृथक्-पृथक् होते हुए एक विशेष व्यक्ति के निर्देश के कारण समान स्वर निकालते हैं वैसे संसार में चिदणु पृथक्-पृथक् होते हुए भी ईश्वर के नियंत्रण के कारण इनमें पहले से ही सामञ्जस्य स्थापित है। अतः लाइबनीज एक तरफ चिदणुओं को स्वतंत्र एवं निरपेक्ष मानता है, वहीं दूसरी तरफ ईश्वर चिदणु द्वारा नियंत्रित मानता है जबकि जैनदर्शन में कोई आत्मा किसी अन्य की आत्मा के द्वारा नियंत्रित नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है कि जहां जैनदर्शन में आत्माओं के परनियंत्रण के स्थान पर स्वनियंत्रण को स्वीकार किया गया है, वहां लाइबनीज के दर्शन में चिदणुओं को स्वतंत्र मानते हुए भी ईश्वर द्वारा नियंत्रित बतलाया गया है।

9. लाइबनीज के दर्शन में जहां चिदणुओं की तारतम्यता को स्वीकारकर पूर्व स्थापित सामञ्जस्य (Pre stablished harmony) के द्वारा प्रारम्भ से ही सामञ्जस्य स्वीकार किया गया है वहां जैनदर्शन में आत्माओं के विविध स्तर स्वीकार करते हुए भी पूर्व स्थापित सामञ्जस्य जैसी किसी व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया गया है।

3.10 सारांश

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि जैन आत्मवाद और लाइबनीज के चिदणुवाद में अनेकानेक समानताओं के बावजूद भी दोनों के सिद्धान्तों में अनेक अन्तर हैं।

3.11 अभ्यास प्रश्नावली

1. निबंधात्मक प्रश्न

1. लाइबनीज के चिदणुवाद और जैनदर्शन के आत्मवाद का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. जैनदर्शन के आत्मा के स्वरूप को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।
2. लाइबनीज के चेतना के स्तर के आधार पर चिदणुओं के भेद को समझाइये।

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. पूर्वस्थापित सामञ्जस्य क्या है?
2. चिदणुओं का चिदणु किसे कहा गया है?
3. जैनदर्शन में आत्मा का लक्षण क्या है?
4. जैनदर्शन के एकेन्द्रिय जीवों में कौन से गुण हैं?
5. चिदणु मूर्त्त है या अमूर्त्त?
6. चिदणुओं की तारतम्यता का कारण क्या है?
7. जैन आत्मा के स्वरूप भेद का क्या कारण है?
8. गति की दृष्टि से जैनात्मा के कितने भेद हैं?
9. अचेतन चिदणु की उपनिषदों के किस तत्त्व से तुलना की जा सकती है?
10. जैनदर्शन में आत्मा सर्वव्यापक है या देह परिणामी?

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–4 : काण्ट का नीतिशास्त्र और जैन आचारशास्त्र

संरचना

4.0 प्रस्तावना

4.1 उद्देश्य

4.2 काण्ट की नीति मीमांसा

- 4.2.1 सदिच्छा
- 4.2.2 कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य
- 4.2.3 निरपेक्ष आदेश
- 4.2.4 नैतिकता की पूर्व मान्यताएं

4.3 जैन आचारशास्त्र

4.4 तुलना

- 4.4.1 समानता
- 4.4.2 असमानता

4.5 सारांश

4.6 अभ्यास प्रश्नावली

4.0 प्रस्तावना

पाश्चात्य आधुनिक दर्शन के इतिहास में जर्मनी के महान् दार्शनिक **इमेन्युअल काण्ट (1724–1804 ई.)** का नाम अमर है। इसका कारण उनका शुद्ध, सरल जीवन के साथ-साथ शाश्वत नैतिक चिन्तन रहा है। उनका जीवन अत्यन्त नियमित था। कहते हैं कि घड़ी की सूई रुक सकती थी किन्तु काण्ट की दिनचर्या का व्यतिक्रम नहीं हो सकता था। प्रात:काल बिस्तर छोड़ने से लेकर रात्रि में बिस्तर पर जाने तक का एक-एक मिनट का समय उनका निश्चित था। उनकी इस नियमित दिनचर्या के बारे में यहां तक कहा जाता है कि जब वे प्रात:काल भ्रमण पर निकलते थे तो लोग अपनी घड़ियां मिलाते थे। अपनी सहजता, नियमितता एवं एकान्तप्रियता के कारण काण्ट को 'कोनिग्जवर्ग का ऋषि' (काण्ट का सम्पूर्ण जीवन कोनिग्जवर्ग में ही बीता था) कहा जाता है। पाश्चात्य दर्शन में उसकी तुलना का कोई दूसरा दार्शनिक दृष्टिगोचर नहीं होता है। तभी तो पाश्चात्य विद्वान् **विल ड्यूरेण्ट** ने ठीक ही लिखा है कि आज दार्शनिक होने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को सबसे पहले काण्टवादी होना चाहिए।

काण्ट के अनेक ग्रन्थों में क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन (Critique of Pure Reason), क्रिटिक ऑफ प्रैक्टिकल रीजन (Critique of Practical Reason) और क्रिटिक ऑफ जजमेंट (Critique of Judgement) अमर कृतियां हैं। काण्ट का प्रथम ग्रन्थ ज्ञानमीमांसा का ग्रन्थ है, द्वितीय नीति-मीमांसा का और तृतीय सौन्दर्यशास्त्र का ग्रन्थ है। प्रथम में 'सत्यम्' का, द्वितीय में 'शिवम्' का और तृतीय में 'सुन्दरम्' का विवेचन है। काण्ट के दर्शन के मुख्य तीन प्रश्न हैं: हम क्या जान सकते हैं? हम क्या कर सकते हैं? और हम क्या हो सकते हैं? इन्हीं के उत्तर क्रमश: इन तीनों ग्रन्थों में हैं।

4.1 उद्देश्य

यहां हमारा प्रयास काण्ट के नीतिशास्त्र की जैन आचारशास्त्र से तुलना करना होगा ताकि दोनों का अन्तर स्पष्ट हो सके।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.2 काण्ट की नीति मीमांसा

नैतिक बनना और नैतिक कार्य करना ही काण्ट की नीतिमीमांसा का आदर्श है। काण्ट ने ज्ञान मीमांसा के क्षेत्र में जिस इन्द्रिय एवं इन्द्रिय संवेदना को महत्त्व दिया है, नीति मीमांसा में उन्हें पूर्णतया नकार दिया है। यहां उसने केवल बुद्धि को महत्त्व दिया है इसलिए उसका नैतिक दर्शन 'बुद्धिपरतावाद' के नाम से प्रसिद्ध है, जो सुखवाद का पूर्णतया विरोधी है। **डॉ. जे. एन. सिन्हा** के अनुसार सुखवाद इन्द्रियपरता के ऊपर बल देता है तो बुद्धिपरतावाद बुद्धि पर बल देता है। सुखवाद के अनुसार आत्मतृप्ति ही परम कल्याण है, बुद्धिपरता के अनुसार आत्म-विजय परम कल्याण है। आत्मतृप्ति इच्छाओं की तृप्ति को कहते हैं और आत्म-विजय इच्छाओं के दमन अथवा नियंत्रण को कहते हैं। सुखवाद बुद्धि के अधिकार एवं क्षमता की अवहेलना करता है और उसे वासना की परिचारिकामात्र समझता है। बुद्धिपरतावाद वासनाओं को ठुकराता है। वह शुद्ध बुद्धिमय जीवन का पक्षपाती है। यहां संवेग, आवेग, उद्वेग एवं भावना के लिए कोई स्थान नहीं है। **रॉजर्स** ने अपने ग्रन्थ 'A Short History of Ethics (p.192)' में लिखा है कि ह्यूम ने सुखवादियों की भांति नैतिक जीवन को सुख-दु:ख नियम के पूर्णत: अधीन मान लिया था किन्तु काण्ट ने उसे बौद्धिक स्वरूप प्रदान किया।

काण्ट के अनुसार मानव-स्वभाव का आवश्यक तत्त्व बुद्धि ही है। इन्द्रियात्मकता तो पशुता है और मानव-स्वभाव के लिए विजातीय है। अत: इन्द्रियपरक वासनाओं को जीतकर शुद्ध बुद्धिमय जीवन जीना चाहिए। इस प्रकार का जीवन जीने वाले सही मायने में सच्चरित्र एवं नैतिक होते हैं। काण्ट ने सुखवादियों की तरह नैतिकता का मूल्यांकन न तो परिणाम के आधार पर किया और न ही सुख को जीवन का लक्ष्य माना अपितु उसका मानना था कि यदि हम बौद्धिक हैं तो सच्चरित्र होंगे, योग्य होंगे और योग्य होंगे तो सुख अवश्य मिलेगा। उसने Practical Reason, p. 227 पर लिखा है—

"Morality is not properly the doctrine how we may make ourselves happy, but how we may make ourselves worthy of happiness" अर्थात् नैतिकता से तात्पर्य जीवन को सुखी बनाना नहीं अपितु जीवन को सुख के योग्य बनाना है, जो बुद्धि से संभव है। अत: यह कहा जा सकता है कि नैतिकता के क्षेत्र में काण्ट ने बुद्धि को अत्यधिक महत्त्व दिया।

4.2.1 सदिच्छा (Goodwill)

काण्ट के अनुसार सदिच्छा ही एकमात्र बौद्धिक इच्छा है। बौद्धिक इच्छा नैतिक नियम का पालन करने की इच्छा है, जिसे वह अपने ऊपर लागू करती है। इच्छा व्याहारिक बुद्धि अथवा सक्रिय बुद्धि है। व्यावहारिक बुद्धि अपने लिए विधान निर्माण करती है। वह अपने ऊपर ही नैतिक नियम लागू करती है। व्यावहारिक बुद्धि मानव स्वभाव में अवस्थित सार्वजनीन सामान्य तत्त्व है। उसके द्वारा लागू किया हुआ नैतिक नियम भी सार्वभौम है। वह स्वयं सिद्ध है। बुद्धि को उसकी सहज उपलब्धि होती है। काण्ट ने इस सदिच्छा को ही एकमात्र शुभ माना है। उसके अनुसार—

"There is nothing in the world or even out of it that can be called good except goodwill."

अर्थात् संसार या संसार से परे सदिच्छा के सिवाय कोई दूसरा शुभ नहीं है। काण्ट ने शुभ और उचित में भी अन्तर किया है। उसके अनुसार बहुधा भावजनित इच्छायें भी उपयोगी एवं लाभप्रद होती हैं, अत: उन्हें उचित तो कहा जा सकता है परन्तु उन्हें शुभ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे बौद्धिक नहीं होती है। काण्ट के अनुसार—

"An action is good not because it has good results, or because it is wise, but because it is done in obedience to this inner sense of duty, this moral law that does not come from our personal experience but legislates imperiously and a prior for all our behaviour, past, present and future. The only thing

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

unqualifiedly good in this world is a goodwill— the will to follow the moral law, regardless of profit or loss for ourselves."

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि काण्ट की सदिच्छा, स्वयं शासित इच्छा, लक्ष्यहीन इच्छा है। यह न परिणाम पर आधारित है, न कानून द्वारा निर्गमित है और न कोई उद्देश्ययुक्त है। संवेग, आवेग, उद्वेग, कामना एवं भावना आदि पर आधारित इच्छा तो परतंत्र होती है। जहां परतंत्रता है वहां अनैतिकता है। अत: सदिच्छा स्वयं शासित एवं नैतिक हैं। **जॉन आर. सिलबर** ने अपने एक निबन्ध में काण्ट के 'सदिच्छा' सम्बन्धी नीतिशास्त्र को कॉपरनिकसी क्रान्ति कहा है। काण्ट के पूर्व नीतिशास्त्र में यह माना जाता था कि मानव इच्छा स्वयं भावनाओं और वासनाओं से अनुशासित होती हैं किन्तु काण्ट ने सदिच्छा के रूप में शुद्ध, शुभ, स्वतंत्र, पवित्र एवं आप्तकाम के रूप में स्वीकार किया है, जो भावनाओं से पूर्णतया अप्रभावित है। अंत में काण्ट इस सदिच्छा को 'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य भाव' से प्रेरित इच्छा मानता है अर्थात् "A goodwill is a will which wills nothing." सदिच्छा एक ऐसी इच्छा है, जो किसी की इच्छा नहीं करती है। अत: यह कहा जा सकता है कि काण्ट के दर्शन में सदिच्छा आप्तकाम की स्थिति है। इसका कोई बाह्य मूल्य नहीं अपितु अपने में ही वास्तविक मूल्य है। यह कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य का आदेश है। यह एक ऐसा रत्न है जो अपने ही प्रकाश से चमकता है।

4.2.2 कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य (Duty for Duty's sake)

काण्ट की सदिच्छा सम्बन्धी अवधारणा से यह स्पष्ट होता है कि काण्ट ने कर्त्तव्य को परिणाम के लिए नहीं अपितु कर्त्तव्य को कर्त्तव्य के लिए स्वीकार किया है। परिणाम के लिए कर्त्तव्य करने से परिणाम की अप्राप्ति या कम प्राप्ति पर निराशा का आना स्वाभाविक है और यह निराशा जीवन के लिए प्राय: अभिशाप साबित होती है। जीवन में प्रत्येक व्यक्ति से अनेक प्रकार के कार्य होते हैं पर 'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य' के वर्ग में कितने कार्य आ पाते हैं। जीवन में घटित होने वाले कार्यों को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है—

1. कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो भावनाओं एवं उद्वेगों से प्रेरित होकर किये जाते हैं। ऐसे कार्य न चाहते हुए बहुधा बाध्य होकर करना पड़ता है। यात्रा करते समय अक्षम, असहाय एवं अभावग्रस्त भिखारी को कुछ देने के लिए मचल जाना कर्त्तव्यभाव नहीं है अपितु करुणार्द होकर उसके प्रति सहानुभूति व्यक्त की जाती है। उसे दया का पात्र समझकर दयाभाव से उसकी सहायता की जाती है। इस प्रकार के कार्य में कहीं भी कर्त्तव्यभाव नहीं होता। इस प्रकार कुछ कार्य संवेगों एवं वासनाओं से बाध्य होकर किये जाते हैं।
2. कुछ कार्य स्वार्थ के वशीभूत होकर किये जाते हैं। चुनाव के समय प्राय: पूंजीपतियों की थैलियां राजनैतिक दलों के प्रत्याशियों के लिए खुल जाती हैं। उसके पीछे उनकी भावना रहती है कि उनके धन से चुनाव में विजयी प्रत्याशी उनके काले धन्धे वाले व्यापार में मदद करेंगे। यदि माता-पिता द्वारा अपनी संतान का पालन-पोषण वृद्धावस्था का सहारा बनने के उद्देश्य से किया जाता है तो वह कार्य भी इसी वर्ग में आता है।
3. प्रथम दो श्रेणी के कार्य के अतिरिक्त तीसरी श्रेणी है कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य करने की। यहां न भावना का ज्वार होता है और न ही स्वार्थ की पूर्ति का लक्ष्य ही। यहां तो कर्त्तव्य की शुद्ध सात्विक भावना होती है।

काण्ट ने इसी तीसरे प्रकार के कार्य को ही 'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य' का सिद्धान्त कहा है। यहां न कोई प्रयोजन होता है और न कोई प्रेरणा। यह गीता के निष्काम कर्म जैसा ही है। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूमा ते सङ्ग.ोऽस्त्वकर्मणि॥" (2/47)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अर्थात् हे अर्जुन! तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने में है, फल में कदापि नहीं अतः कर्मफल का हेतु (इच्छुक) मत बनो और अकर्म में भी तुम्हारी रति नहीं होनी चाहिए।

गीता में कृष्ण तो अर्जुन से यहां तक कहते हैं कि हे अर्जुन! तीनों लोकों में मेरे लिए करणीय कोई कार्य नहीं है और प्राप्त करने के लिए कोई ऐसी अपेक्षा भी नहीं है जिसे मैं प्राप्त न कर चुका हूँ फिर भी मैं कर्म में लगा रहता हूँ। इसी प्रकार काण्ट का भी मानना था कि बिना किसी परिणाम के, बिना किसी अपेक्षा के, बिना किसी भावना की प्रेरणा से अपितु कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य भाव से कार्य करना चाहिए किन्तु काण्ट और गीता में इस समानता के बावजूद एक महत्त्वपूर्ण असमानता है कि जहां गीता ईश्वर पर परिणाम अर्पित कर कर्त्तव्य भाव से कार्य करने की प्रेरणा देती है वहीं काण्ट ने परिणाम की उपेक्षा कर 'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य' के शुद्ध भाव से कार्य को अंजाम देने के लिए कहा है। यह कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य का सिद्धान्त काण्ट के दर्शन में निरपेक्ष आदेश है, जो बिना किसी अपेक्षा के स्वतः घटित होता है।

4.2.3 निरपेक्ष आदेश (Categorical Imperative)

काण्ट ने नैतिक आदेश को ही निरपेक्ष आदेश कहा है और इसका पालन हर परिस्थिति में अनिवार्य है। काण्ट के 'निरपेक्ष आदेश' में 'आदेश' की व्याख्या करते हुए पाटन ने कहा है— "The conception of an objective principle, so for as it is necessitating for a will is called a command of reason and the formula or the command is called an imperative." अर्थात् किसी विषयात्मक सिद्धान्त का विचार, जहां तक कि वह इच्छा के लिए आवश्यक हो, बुद्धि की आज्ञा कहलाता है और वह सूत्र या आज्ञा एक आदेश है।

यह आदेश दो प्रकार का है। प्रथम सहैतुक आदेश (Hypothetical Imperative) और दूसरा अहैतुक या निरपेक्ष आदेश (Categorical Imperative) है। सहैतुक आदेश के भी दो भेद किये जा सकते हैं—प्रथम नैमित्तिक आदेश (Problematic Imperative) और दूसरा व्यावहारिक आदेश (Pragmatic Imperative) है।

जब किसी निमित्त या अपेक्षा से किसी आदेश का पालन किया जाता है तो वह आदेश नैमित्तिक आदेश (Problematic Imperative) कहलाता है। उसका पालन भी इसलिए किया जाता है क्योंकि उस निमित्त या अपेक्षा को संतुष्ट करना होता है। यदि कोई इच्छा इसलिए उत्पन्न होती है कि सभी लोगों की या अधिकांश लोगों की वैसी इच्छा होती है तो उसे व्यावहारिक आदेश कहा जाता है। जब किसी चीज को अधिक से अधिक लोग चाहते हों तो उस चाहत को अपने लिए अनिवार्य समझ लेना और यदि किसी चीज को अधिक से अधिक लोग नहीं चाहते हों तो उसे अपने लिए भी निरर्थक समझना ही व्यावहारिक आदेश है। ये दोनों आदेश चूंकि सकारण है इसीलिए इन्हें सांकेतिक या सहैतुक आदेश माना जाता है।

निरपेक्ष आदेश उपर्युक्त दोनों सहैतुक आदेशों के विपरीत कारण रहित आदेश है और इसके नियम को ही नैतिक नियम कहा जाता है। यह शुद्ध बुद्धि का विधान है और सार्वभौम सत्य है। इसकी निम्नलिखित विशेषताएं हैं—

1. निरपेक्ष आदेश शुद्ध बुद्धि का आदेश है। यह भावना या संवेग पर निर्भर नहीं करता है। निरपेक्ष आदेश की पालना के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी भावना या संवेगों की तिलांजलि देनी होती है।
2. यह आदेश 'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य' की बात करता है जिसका न कोई अपवाद है और न कोई छूट।
3. यह आदेश देशकाल की सीमा से परे सार्वभौमिक है। इसका पालन हर प्रकार के व्यक्ति को सहज ही करना पड़ता है।
4. निरपेक्ष आदेश को न तो व्यक्तिगत नियम कहा जा सकता है और न ही समष्टिगत सिद्धान्त ही अपितु यह आदेश दोनों के समन्वय से ही उत्पन्न होता है।
5. निरपेक्ष आदेश किसी बाह्य उद्देश्य की अपेक्षा नहीं करता बल्कि केवल उचित दिशा में संकल्प को प्रवृत्त करने की अपेक्षा रखता है। यह हेतुरहित, साध्यरहित तथा प्रयोजनरहित आदेश है। इस आदेश को स्पष्ट

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

करते हुए काण्ट ने अपने ग्रन्थ Fundamental Principles of the Metaphysics of Morals में पांच सूत्र दिये हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. सार्वभौम विधान का सूत्र
2. प्रकृति-विधान का सूत्र
3. स्वयं साध्य का सूत्र
4. स्वतन्त्रता का सूत्र
5. साध्यों के राज्य का सूत्र

4.2.3.1 सार्वभौम विधान का सूत्र

केवल उसी सूत्र पर कार्य करो जिसके माध्यम से तुम उसी समय इच्छा कर सको कि उसे एक सार्वभौमिक नियम होना चाहिए। काण्ट के अनुसार "Act only on that maxim through which you can at the same time that it should become a universal law."

काण्ट ने इस सूत्र के माध्यम से कहा कि जब भी हम कोई कार्य करने चले तो जरा ठहरें और सोचें कि क्या मेरा यह कार्य सार्वभौमिक हो सकता है, इसे सार्वभौमिक मान्यता मिल सकती है। यदि ऐसा संभव हो तो हमें वह कार्य करना चाहिए अन्यथा उसकी तिलांजलि दे देनी चाहिए। कोई व्यक्ति चोरी करने, किसी को मारने का कार्य करने चलता है तो इस नियम पर गौर करने से वह इन बुरे कार्यों से अपने को बचा सकता है। इस प्रकार यह सूत्र हमारे दैनिक कार्यों के लिए अच्छी कसौटी प्रस्तुत करता है, जिस पर परखने के उपरान्त हम अपने प्रस्तावित कार्यों के शुभत्व अथवा अशुभत्व का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

4.2.3.2 प्रकृति-विधान का सूत्र

ऐसा कार्य करो कि मानव तुम्हारी कर्म का सूत्र तुम्हारी इच्छा के द्वारा प्रकृति का एक सार्वभौमिक विधान बनने वाला हो। "Act as if the maxim of your action were to become through your will a universal law of nature." अर्थात् जैसे प्रकृति का कार्य किसी वर्ग विशेष, जाति विशेष एवं सम्प्रदाय विशेष के लिए नहीं होता। जैसे प्रकृति का किसी से राग-द्वेष नहीं होता उसी प्रकार हमारे कार्य भी बिना किसी भेदभाव के और राग-द्वेष से ऊपर उठकर होने चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि काण्ट ने हमें जो प्रकृति के अनुसार कार्य करने की प्रेरणा दी है। उससे न केवल हमारी सात्विक प्रवृत्ति में वृद्धि होती है अपितु अपने कार्यों को अनासक्त एवं निर्लिप्त भाव से करने का संदेश मिलता है, जो कि 'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य' के सिद्धान्त की पराकाष्ठा है।

4.2.3.3 स्वयं साध्य का सूत्र

इस प्रकार कार्य करो कि स्वयं अपने व्यक्तित्व में और प्रत्येक अन्य के व्यक्तित्व में निहित मानवता का तुम एक ही समय में सदा साध्यवत प्रयोग करो।

"So act as to use humanity, both in your own person and in the person of every other, always at the same time as an end, never simply as a means." तात्पर्य यह है कि मानवता का व्यवहार ही साध्य है, इसे साधन कभी मत समझो। जैसे दण्ड के निवर्तनवादी सिद्धान्त में एक उदाहरण दिया जाता है कि न्यायाधीश ने भेड़ की चोरी करने वाले एक गड़रिये को दण्ड की सजा सुनाते हुए कहा कि तुम्हें दण्ड इसलिए नहीं दिया जा रहा है कि तुमने भेड़ की चोरी की है अपितु इसलिए दण्ड दिया जा रहा है ताकि भविष्य में भेड़ की चोरी न हो। अर्थात् तुम्हारे दण्ड से दूसरों को सबक मिले। इसी प्रकार जीवन में दूसरों को साधन के रूप में उपयोग करने के उदाहरण मिलते हैं जिस पर काण्ट इस सूत्र के माध्यम से रोक लगाता है। इससे हम सम्पूर्ण संसार के मनुष्य के प्रति मानवता का व्यवहार करने के लिए कटिबद्ध हो सकते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.2.3.4 स्वतन्त्रता का सूत्र

इस प्रकार कार्य करो कि तुम्हारी इच्छा उसी समय अपने सूत्र के माध्यम से अपने आपको सार्वभौमिक नियम बनाने वाली समझ सके।

"So act that your will can regard itself at the same time as making universal law through its maxim."

तात्पर्य यह है कि मनुष्य को स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करना चाहिए किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि वह जिस कार्य को करने की इच्छा कर रहा है उसे सार्वभौमिक नियम के रूप में माना जा सकता है अथवा नहीं। स्वतन्त्रता का सूत्र हमें अपनी सदिच्छा के अनुसार नियम बनाने का विचार प्रस्तुत करता है। यह सूत्र वस्तुतः सार्वभौमिक नियम वाले सूत्र का सहायक है। इसमें मनुष्य के इच्छा स्वातन्=य पर बल दिये जाने के कारण ही काण्ट ने इसे स्वतन्त्रता का सूत्र कहा है।

4.2.3.5 साध्यों के राज्य का सूत्र

इस प्रकार कार्य करो कि मानो कि तुम अपने सूत्र के माध्यम से साध्यों के एक सार्वभौमिक राज्य में एक नियमकार सदस्य हो।

"So act as if you were always through your maxim a law making member in a universal kingdom of ends**."**

तात्पर्य यह है कि हम अपने लिए और समस्त मानवता के लिए किस प्रकार नियमकार बन सकते हैं। काण्ट इस सूत्र के माध्यम से यह कहना चाहता है कि जिस प्रकार साध्यों के राज्य में एक नियमकार सदस्य कोई नियम बनाने के पहले उस नियम के सभी पक्षों का अध्ययन-चिन्तन-मनन के पश्चात् ही उस पर निर्णय लेता है उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य को कोई भी कार्य करने के पूर्व उसके सभी पहलुओं पर विचार-विमर्श कर लेना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काण्ट ने जिन पांच सूत्रों का निर्माण निरपेक्ष आदेशों के स्पष्टीकरण के लिए किया है, उनका केवल सैद्धान्तिक मूल्य ही नहीं, अपितु व्यावहारिक मूल्य भी है। जीवन के पग-पग पर हमारे समक्ष जो नैतिक समस्याएं उत्पन्न होती हैं, उनके समाधान में ये सूत्र हमारा सम्यक् पथ-प्रदर्शन करते हैं।

4.2.4 नैतिक जीवन की पूर्व मान्यताएं (Ethical Postulates)

नैतिक जीवन की स्वीकृति एवं स्पष्टीकरण हेतु काण्ट ने जिन पूर्व मान्यताओं को स्वीकार किया उनका भी वर्णन वर्तमान संदर्भ में अनिवार्य प्रतीत होता है। काण्ट के अनुसार नैतिक जीवन को समुचित रूप से प्रस्तुत करने के लिए इनकी स्वीकृति नितान्त अनिवार्य है, इसीलिए इन्हें पूर्व मान्यताएं कहते हैं। यह निम्न तीन हैं—

4.2.4.1 संकल्प, स्वातन्त्र्य (Freedom of will)

नैतिक जीवन के स्पष्टीकरण हेतु यह सर्वप्रथम तथा सर्वाधिक महत्त्व रखने वाली पूर्व मान्यता है। काण्ट के मतानुसार संकल्प तभी स्वतन्त्र है, जब उसके ऊपर अपना ही कानून चलता हो, जब वह केवल कर्त्तव्यबुद्धि द्वारा ही संचालित होता हो। नैतिक जीवन में अनुभूति के लिए कोई स्थान नहीं है। नैतिक जीवन के लिए संकल्प स्वातन्=य आवश्यक है और संकल्प स्वातन्त्र्य के लिए शुद्ध बुद्धिमय जीवन आवश्यक है। भाव और संवेग जीवन को पथभ्रष्ट करते हैं; संकल्प की स्वतन्त्रता को बाधित करते हैं। काण्ट भय, दबाव एवं सहानुभूति में किये गये किसी कार्य को निन्दनीय समझता है। उसने दयार्द्र होकर किसी रोगी की सेवा और निर्धन की सहायता को भी नैतिक कार्य नहीं माना है। नैतिकता के लिए पूर्व मान्यता है—संकल्प की स्वतन्त्रता और प्रत्येक स्थिति में इसका पालन होना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.2.4.2 आत्मा की अमरता (Immortality of Soul)

काण्ट ने आत्मा के अमरत्व को भी माना है। उसका मत है कि यदि आत्मा के अमरत्व की कल्पना न की जाय तो नैतिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जायेगी। जीवन के अंतिम क्षणों में लोग अनैतिक कार्य भी करने लगेंगे क्योंकि उन्हें यह विश्वास रहेगा कि आत्मा तो नष्ट हो जायेगी अत: कर्मफल भोगने का कोई प्रश्न ही नहीं है। इस प्रकार नैतिक उत्तरदायित्व का लोप हो जायेगा।

अतएव काण्ट का दृढ़मत है कि मृत्यु के पश्चात् जीवन को किसी-न-किसी रूप में स्वीकार करना परमावश्यक है ताकि हमारे आदर्श सम्बन्धी अधूरे प्रयास पूर्ण हो सकें और हम नैतिक जीवन की चरम निष्पत्ति को स्वीकार कर सकें।

4.2.4.3 ईश्वरास्था (Faith in God)

नैतिक जीवन में आस्था रखने वाले व्यक्ति को न्याय मिले इसलिए काण्ट ने ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया। वैसे प्राय: देखा यह जाता है कि सत्य के पथ पर चलने वाले धर्मानुयायियों को जीवन भर कष्ट झेलना पड़ता है पर इस प्रकार के कष्ट के बावजूद भी काण्ट का मानना है कि यह ईश्वर की परीक्षा है और जो इस परीक्षा में खरा उतरता है, वह जन्म-जन्मान्तर तक सुखी रहता है। अत: किसी महाकुकर्मी और अनैतिक व्यक्ति को सुखी देखकर यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि नीतिशास्त्र का विधान गलत है। ईश्वर की नैतिक व्यवस्था कभी गलत नहीं हो सकती। यदि ईश्वरास्था न रहे तो नैतिक नियमों का मूल्य धीरे-धीरे घटता जायेगा और अन्ततोगत्वा विलुप्त हो जायेगा। अत: काण्ट का यह मानना है कि ईश्वरास्था नैतिक व्यवस्था के लिए आवश्यक है।

इस प्रकार काण्ट ने संकल्प-स्वातन्त्रय, आत्मा के अमरत्व और ईश्वरास्था इन त्रिमान्यताओं के द्वारा नीतिशास्त्र की यथार्थता का प्रतिपादन किया है।

4.3.0 जैन आचार शास्त्र

भारतीय श्रमण परम्परा में शुद्ध आचरण, त्यागमय जीवन, पूर्ण वैराग्य और कठोर तपस्या की अधिमान्यता से संपृक्त जैनधर्म आचार के संदर्भ में उत्थान के शिखर का संस्पर्श करता है। जिन जितेन्द्रिय (वीतरागी) को अपना आदर्श मानने वाले जैन कहलाते हैं, जिससे भी इसे आचार की चरम शुद्धता का प्रतिपादन करने वाला दर्शन कहा जा सकता है। 'आचारांग' जैन आचारशास्त्र का प्रमुख ग्रन्थ है।

जहां तक जैनधर्म का संदर्भ है यहां मनुष्य के सदाचरण को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है और उसे चित्त शुद्धि के लिए आवश्यक माना गया है। यहां भी अन्य भारतीय मनीषाओं की तरह जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष को ही माना गया है। जिसे प्राप्त करने के पश्चात् जीव समस्त सांसारिक बन्धनों से पूर्णत: मुक्त हो जाता है। यह मोक्ष तभी संभव है जब जीवन उन सभी संस्कारों से पूर्णतया मुक्त हो जाय, जो उसके कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं और जिनके कारण वह सांसारिक बन्धनों में फंस जाता है। उसे जैनदर्शन में आस्रव कहा गया है, जिसका परिणाम बन्ध है। जीवन को समस्त कर्मों के संस्कारों से मुक्त कराने के लिए जो विधियां आस्रव और बन्ध को नष्ट करती हैं, उन्हें संवर और निर्जरा कहा गया है। संवर और निर्जरा परम तत्त्व मोक्ष की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। संक्षेप में संवर और निर्जरा ही जैन आचार है। संवर में पांच चारित्र, पंच समिति, तीन गुप्ति, दस धर्म, द्वादश अनुप्रेक्षाएं और बाइस परीषहों पर विजय प्राप्त करने का विधान तत्त्वार्थसूत्र के नौवें अध्याय में किया गया है। प्रश्नव्याकरण और स्थानांगसूत्र में संवर तत्त्व के अन्तर्गत महाव्रतों को भी लिया गया है। निर्जरा में बारह प्रकार से तप की साधना कर कर्म निर्जरित किये जाते हैं जिससे आत्मा का शुद्ध स्वरूप जो ज्ञानमय, दर्शनमय और सुखमय और अनन्त वीर्यमय है, वह प्रकट होता है। तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव निरोध रूप संवर के उपाय के बारे में कहा गया है—**'स गुप्ति समिति**

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

धर्मानुप्रेक्षा परीषहजय चारित्रैः (9/2)' अर्थात् तीन गुप्ति, पांच समिति, दसधर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाइस परीषहजय और पांच प्रकार के चारित्र हैं। **तपसा निर्जराच (9/3)** कहकर बारह प्रकार के तप को निर्जरा के अन्तर्गत रखा गया है, जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

4.3.1 गुप्तियां

योग अर्थात् मन, वचन और काय की स्वेच्छाचारिता को रोकना गुप्ति है। गुप्ति का जीवन के निर्माण में बहुत बड़ा महत्त्व है क्योंकि भवबन्धन से मुक्ति इसके बिना नहीं मिलती। उमास्वाति ने **'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति'** कहकर योगों का सम्यक् प्रकार से निग्रह करना ही गुप्ति स्वीकार किया है। **गुप्ति** के तीन प्रकार हैं—कायगुप्ति—शारीरिक व्यापार का निरोध कायगुप्ति है। वाक् गुप्ति—बोलने के व्यापार का निग्रह वाक् गुप्ति है। मनोगुप्ति—संकल्प आदि मन के व्यापार का निग्रह मनोगुप्ति है।

4.3.2 समितियां

समितियां कर्म को रोकने के पांच बाहरी उपाय हैं। मूलाचार की दूसरी गाथा में ईर्या, भाषा, एषणा, निक्षेप और उत्सर्ग इन पांच समितियों का उल्लेख हैं। चलने, फिरने के नियम का पालन करना अर्थात् चार हाथ आगे की जमीन को देखते हुए धीरे-धीरे गमन करना ईर्यासमिति है। हित-मित और संदेहरहित वचन बोलना भाषा समिति है। 46 दोष और 32 अन्तराय टालकर भोजन लेना एषणा समिति है। शास्त्र, कमण्डल आदि धर्म के उपकरणों को देखभाल कर रखना, उठाना, निक्षेप समिति है और चर, स्थावर जीवों को जिससे बाधा न पहुंचे इस तरह से शुद्ध जन्तुरहित भूमि में मलमूत्र आदि करना उत्सर्ग समिति है। तत्त्वार्थसूत्र में इन्हें **ईर्याभाषैषणा दान निक्षेपोत्सर्गाः समितयः (9/5)** कहा गया है। गुप्ति में क्रियामात्र का निषेध मुख्य है और समिति में आवश्यक क्रिया को सावधानीपूर्वक करने की मुख्यता है।

4.3.3 धर्म

जैनधर्म में दस धर्म बतलाये गये हैं। जिनके पालन से कर्म आत्मा में प्रवेश नहीं करते। तत्त्वार्थ में **उत्तम क्षमा मार्दवार्जव शौच सत्य संयम तपस्त्यागाकिञ्चन्य ब्रह्मचर्याणिधर्मः** अर्थात् उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये धर्म के दस भेद वर्णित हैं। क्रोध की उत्पत्ति के निमित्त होते हुए भी परिणामों में मलिनता न होना क्षमा है। उत्तम जाति, कुल, रूप, विज्ञान, ऐश्वर्य आदि होते हुए भी उनका घमण्ड न करना मार्दव है। मन, वचन और काय की कुटिलता का न होना आर्जव है। लोभ का अत्यन्त अभाव शौच है। सज्जन पुरुषों के बीच में सुन्दर वचन बोलना सत्य धर्म है। एकेन्द्रिय आदि जीवों को भी पीड़ा न पहुंचाना प्राणी संयम है और इन्द्रियों के विषयों में राग का न होना इन्द्रिय संयम है। कर्मों का क्षय करने के लिए अनशन आदि करना तप है। चेतन और अचेतन परिग्रह को छोड़ना त्याग है। शरीर आदि से भी ममत्व न करना आकिञ्चन्य है। स्त्री विषयक सहवास, स्मरण और कथा आदि से विरत होकर आत्मा में लीन रहना ब्रह्मचर्य है।

4.3.4 अनुप्रेक्षा

जैन दर्शन में बारह अनुप्रेक्षाओं को भी महत्त्व दिया गया है। अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ एवं धर्मानुप्रेक्षा की भावना करने से मनुष्य दस धर्मों को भी अच्छी तरह से पालता है और परीषहों को जीतने का उत्साह करता है।

4.3.5 परीषह

जैनदर्शन में संवर के मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के लिए बाइस परीषहों को सहने पर बल दिया है। जो स्वेच्छा से भूख, प्यास आदि परीषह को सहते हैं, उनके ऊपर जब कोई उपसर्ग आता है तो कष्ट सहन करने का अभ्यास होने से वे उन उपसर्गों से घबराकर अपने मार्ग से च्युत नहीं होते।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन परीषहों को क्लेशरहित चित्त से सहन करने से महान संवर होता है।

4.3.6 चारित्र

कर्मों के निवारण करने के लिए जो अन्तरंग और बहिरंग प्रवृत्ति होती है, वह चारित्र है। परिणामों की विशुद्धि के तारतम्य की अपेक्षा से और निमित्त भेद से चारित्र के 5 प्रकार हैं— सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापना चारित्र, परिहार विशुद्धि चारित्र, सूक्ष्म साम्पराय चारित्र और यथाख्यात चारित्र। यह पांचों प्रकार का चारित्र आत्मा की स्थिरता का कारण होने से संवर का प्रयोजक है।

4.3.7 पंच महाव्रत

व्रतों का पालन करके आत्मा में कर्म पुद्गलों का प्रवेश रोकने के लिए जैन आचारशास्त्र में पांच महाव्रतों का बड़ा महत्त्व है। मूलाचार में इसका उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

"हिंसा विरदी सच्चं अदत्त परिवज्जणंच वंभं च।
संयविमुत्ती य तह महत्तया पंच पण्णता ॥" (गाथा 4)

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य ये पांच महाव्रत हैं। तत्त्वार्थसूत्र में **देश सर्वताऽणुमहती** कहकर हिंसादिक से एक देश विरति अणुव्रत है और पूर्ण विरति महाव्रत है।

4.3.8 तप

जिन साधनों से निर्जरा होती है, जैनदर्शन में उसे तप कहा गया है। बाह्य तप और आन्तरिक तप के रूप में तपस्या के दो भेद किये गये हैं। अनशन, ऊनोदरी (अवमौदर्य), भिक्षाचरी (वृत्ति परिसंख्यान), रस परित्याग, विविक्तशय्या एवं कायक्लेश ये छः बाह्य तप हैं। जिन साधनों से बाह्य द्रव्य की अपेक्षा होने से जो दूसरों को दिखायी पड़े वह बाह्य तप है तथा इसके विपरीत जिसमें मानसिक क्रिया की प्रधानता हो वे आभ्यन्तर तप है। तत्त्वार्थ में प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्य स्वाध्याय व्युत्सर्ग ध्यानान्युत्तरम कहा गया है। अर्थात् प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छः आंतरिक तप हैं।

जैनधर्म में ये सभी साधन गृहत्यागी साधुओं के लिए बतलाये गये हैं, परन्तु यहां गृहस्थों की उपेक्षा नहीं की गयी है। गृहस्थ नैतिक मूल्यों का परिपालन करते हुए अपने सांसारिक जीवन को सुखमय बना सकता है। इनके लिए बारह व्रतों का विधान किया गया है। इनमें पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत है। उमास्वामी के अनुसार **अणुव्रतोऽगारी** अर्थात् जो पांच पापों का एक देश से त्याग करता है उस अणुव्रती को अगारी कहते हैं। अनावश्यक हिंसा न करना अहिंसा अणुव्रत, ऐसा झूठ न बोलना जिससे किसी का घर बर्बाद हो जाय, सत्य अणुव्रत, किसी की वस्तु को आदेश के बिना न लेना अस्तेय अणुव्रत, स्वस्त्री के अतिरिक्त भोग का त्याग ब्रह्मचर्य अणुव्रत तथा धन-धान्य, की सीमा निश्चित करना अपरिग्रह अणुव्रत है।

दिशा विशेष में मर्यादा बांध लेना दिग्व्रत और निश्चित देश की सीमा कर लेना देशव्रत तथा लाभ रहित पापकर्म से बचना अनर्थदण्ड विरति है। तीनों संध्याओं में समस्त पापकर्म से विरत होकर नियत स्थान पर नियत समय के लिए मन, वचन एवं काय को एकाग्र करने को सामायिक कहते हैं। पर्व के दिन उपवास करने को पौषधोपवास कहते हैं। कुछ समय के लिए या जीवन पर्यन्त के लिए उपभोग और परिभोग का परिमाण करना भोगोपभोग व्रत है। मोक्ष के लिए तत्पर संयमी अतिथि को शुद्ध चित्त से निर्दोष भिक्षा देना अतिथि-संविभाग व्रत है। इसके अतिरिक्त मरणकाल उपस्थित होने पर गृहस्थ को प्रीतिपूर्वक संलेखना करना चाहिए। तत्त्वार्थ के सातवें अध्याय में **'मारणान्तिकी सल्लेखनां जोषिता'** के माध्यम से यह कहा गया है कि जब मरणकाल उपस्थित हो तो गृहस्थ को सबका मोह छोड़कर धीरे-धीरे खाना-पीना छोड़ देना चाहिए

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

और इस तरह शरीर को कृश करने के साथ कषायों को भी कृश करना चाहिए तथा धर्म ध्यानपूर्वक मृत्यु का स्वागत करना चाहिए।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि जैनदर्शन का आचारशास्त्र अन्यों की तुलना में कठोर है। यहां चारित्रकपूर्णता एवं आत्मोपलब्धि को विशेष महत्त्व दिया गया है। चारित्रिकपूर्णता की दृष्टि से उपर्युक्त सूत्रों की साधना जैन दृष्टि से अत्यावश्यक है। उस साधना में श्रमण और श्रावकों के लिए नैतिक दृष्टि से जिन अर्हताओं की अपेक्षा की गयी है, उनमें किसी प्रकार की शिथिलता एवं अपवाद जैन दर्शन को मान्य नहीं है।

4.4 तुलना

यद्यपि पाश्चात्य नीतिशास्त्र में जर्मनी के महान् दार्शनिक इमेन्युअल काण्ट को अपने नैतिक नियमों की निरपेक्षता के कारण कठोरतावादी कहा गया है, पर कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य की भावना और सदिच्छा काण्ट के नीतिशास्त्र के वे सिद्धान्त हैं जिसके लिए दर्शन जगत् में उसका नाम अमर है। श्रमणाचार और श्रावकाचार के वैशिष्ट्य से जैन आचारशास्त्र महिमा मंडित है। तप, उपवास, व्रत, संन्यास एवं वैराग्य ने जैन आचारशास्त्र को महतो महीयान बना दिया है। पाश्चात्य दर्शन में जहां काण्ट का नीतिशास्त्र अपने वैशिष्ट्य के कारण प्रसिद्ध है। वही भारतीय दर्शन में जैन आचारशास्त्र अपने त्याग तपस्या के लिए प्रसिद्ध है। आचार सिद्धान्त की दृष्टि से दोनों में तुलना करते हैं तो समानता के कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र दृष्टिगोचर होते हैं।

4.4.1 समानता

1. पाश्चात्य नीतिशास्त्र में एरिस्टिपस और एपीक्यूरस के सुखवाद और बेंथम तथा मिल के उपयोगितावाद में शुभ और अशुभ का निर्धारण परिणाम के आधार पर होता दिखाई पड़ता है। परन्तु काण्ट ने अपने नीतिशास्त्र के अन्तर्गत परिणाम को महत्त्व नहीं दिया। वह परिणाम के आधार पर शुभत्व एवं अशुभत्व का निर्धारण नहीं करता। वह सुखवादियों की तरह यह नहीं मानता कि जिस कार्य का परिणाम सुख हो वह शुभ और जिस कार्य का परिणाम दु:ख हो वह अशुभ है अपितु उसका मानना है कि यदि अच्छे भाव से सोच-विचार कर कार्य किया गया है तो वह परिणाम कुछ भी दे वह शुभ ही कहा जायेगा। काण्ट स्वयं कहता है—

   "A goodwill is good, not because of the consequences. A goodwill is good in itself and like a jewel shines by its own light." जैनदर्शन में भी मूल्यांकन परिणाम के आधार पर नहीं अपितु भाव के आधार पर ही किया गया है। मछली मारने का भाव लेकर नदी के किनारे गया हुआ मछुआरा एक भी मछली मारने में भले ही सफल न हो पाया हो और हल चलाने वाला किसान हल चलाते हुए भले ही अनेक जीवों की हिंसा कर ली हो पर भाव के आधार पर मछुआरे को जैनदर्शन के अनुसार अधिक पापबन्ध होगा। अत: दोनों ही दर्शनों के आचारशास्त्र में परिणाम के स्थान पर शुद्ध भाव को महत्त्व दिया गया है।

2. साध्य साधन को न्यायोचित ठहराता है जैसे भौतिक दर्शनों की मान्यता के विपरीत दोनों ही नैतिक दर्शनों में साधन शुद्धि पर बल दिया गया है। जैनदर्शन में तो प्रत्येक स्थिति में अहिंसात्मक साधनों की अपेक्षा की गयी है। आचार्य भिक्षु ने तो किसी भी परिस्थिति में साधनशुद्धि का अपवाद स्वीकार नहीं किया। उनका मानना है कि खून से सना हुआ वस्त्र कभी खून से साफ नहीं हो सकता। उनके अनुसार **"लोही खरड्यो जो पीतांबर, लोही सू केम धोवायो रे।"** अत: आचार्य भिक्षु ने शुद्ध साधन के रूप में संयम और हृदय परिवर्तन को अधिक महत्त्व दिया है।

   इमेन्युअल काण्ट ने भी किसी भी परिस्थिति में अशुद्ध साधनों को स्वीकार नहीं किया है। वह कहता है कि किसी भी लाभ के लिए झूठ, फरेब एवं हिंसात्मक साधन गर्हित है। अपवित्र साधन अपनाने से कोई

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पूर्ण नहीं बन सकता जबकि काण्ट ने सभी को पूर्ण बनने का आह्वान किया था। अत: साधनों की पवित्रता दोनों ही नैतिक दर्शनों में अभीष्ट है।

3. दोनों ही नैतिक दर्शनों में श्रद्धा को महत्त्व दिया गया है। काण्ट ने तो यहां तक स्वीकार किया है कि मैंने श्रद्धा के लिए प्रज्ञा को भी कुर्बान किया है। इसीलिए काण्ट ने अन्य पाश्चात्य दार्शनिकों की तरह ईश्वर को तर्क का विषय न मानकर श्रद्धा का विषय माना है। इसी संदर्भ में श्रद्धा सम्बन्धी उसका उपर्युक्त वाक्य प्रसिद्ध है। जैनदर्शन में भी **'सम्यक् दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष मार्ग:'** में सम्यक् दर्शन को प्रारम्भ में रखकर श्रद्धा की महत्ता को स्वीकार किया है। **आचार्य कुन्दकुन्द** ने भी **दर्शन पाहुड** में श्रद्धा के महत्त्व को उजागर किया है।
4. जैनदर्शन में व्रतों के पालन पर बल दिया गया है। श्रावक एवं श्रमणों के अलग-अलग व्रतों का विधान कर जैनदर्शन में व्रतों की अनुपालना को आवश्यक माना गया है। काण्ट ने इस प्रकार के अलग-अलग व्रतों का कोई विधान नहीं किया है किन्तु काण्ट के दर्शन में कर्त्तव्य के महत्त्व को उजागर किया गया है। काण्ट के कर्त्तव्य को ही एक अर्थ में व्रत कहा जा सकता है।
5. दोनों ही दर्शनों में व्रत को सार्वभौमिक माना गया है। जैनदर्शन के अनुसार भी व्रत देश-काल सापेक्ष नहीं है अपितु हर देश और हर काल में व्रतों की अनुपालना होनी चाहिए उसी प्रकार काण्ट के दर्शन में सार्वभौमिक विधान के सूत्र के अन्तर्गत यही कहा गया है कि हमें वही कार्य करना चाहिए जो सार्वभौमिक बन सके। जिसकी सार्वभौमिकता में संदेह हो उसे कदापि नहीं करना चाहिए।
6. जैन नीतिशास्त्र में सदिच्छा प्राणतत्त्व है और काण्ट के नैतिक दर्शन में भी सदिच्छा को एक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर अतिरिक्त महत्त्व दिया गया है। अत: दोनों ही दर्शनों में सदिच्छा उपयोगी है।
7. दोनों ही दर्शनों में नैतिकता का कोई अपवाद स्वीकार नहीं किया गया है इस कारण से जैन नीतिशास्त्र को भी अति कठिन माना जाता है और काण्ट को तो कठोरतावादी के अलंकरण से अलंकृत किया गया है।

4.4.2 असमानता

उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण समानता के बावजूद दोनों के नीतिशास्त्र विषयक अन्तर स्पष्ट है—

1. नैतिक दर्शन के क्षेत्र में काण्ट शुद्ध बुद्धिवादी है। उसने भावना की पूर्णतया उपेक्षा की है। मनोविज्ञान में बुद्धि के साथ-साथ भावना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिसकी उपेक्षा करके काण्ट का नीतिशास्त्र अमनोवैज्ञानिक हो गया है, वही जैन नीतिशास्त्र में भावना के महत्त्व को स्वीकार किया है, इसलिए मनोवैज्ञानिक है। जैन अहिंसा की अवधारणा भावना की उपेक्षा से संभव भी नहीं है। काण्ट ने भावना की उपेक्षा करके अपने नैतिक दर्शन में अनेक विरोध को पाल लिया है, जो जैन नीतिशास्त्र में नहीं है। काण्ट का सिद्धान्त मनुष्य के भावपक्ष की पूर्ण अवहेलना कर एकांगी बन गया, जबकि जैन नीतिशास्त्र पूर्ण है।

2. दोनों ही नीतिशास्त्र के मूल्य वैयक्तिक अधिक हैं, सामाजिक कम फिर भी जैनदर्शन में काण्ट की अपेक्षा सामाजिकता के तत्त्व अधिक हैं। सामाजिकता के लिए भावना और सापेक्षता का महत्त्व है जिसे जैनदर्शन में तो स्वीकार किया गया है जबकि काण्ट ने इसके विपरीत बुद्धि और निरपेक्षता को महत्त्व दिया है। जेम्सलेथ ने काण्ट के नीतिशास्त्र में सामाजिकता की अवहेलना पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा है—

"Kill your sensibility and you separate yourself from your fellows." अर्थात् अपनी संवेगशीलता का दमन करो और अपने साथियों से अलग हो जाओ अर्थात् असामाजिक हो जाओ। काण्ट का नीतिशास्त्र कुछ ऐसा ही है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. काण्ट ने तो 'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य' का सिद्धान्त दिया है और परिणाम की पूर्ण उपेक्षा की है किन्तु जैनदर्शन में जीवन के चरम लक्ष्य 'मोक्ष' को स्वीकार कर संवर और निर्जरा के रूप में श्रमणाचार को और 'शुद्ध नैतिक जीवन' के लक्ष्य का निर्धारण कर श्रावकाचार का विधान किया गया है।
4. यद्यपि दोनों ही दर्शनों में नैतिकता का कोई अपवाद मान्य नहीं है। फिर भी जैनदर्शन में नैतिक मूल्यों में होने वाली भूल के लिए प्रायश्चित्त का विधान है जबकि काण्ट के नैतिक दर्शन में किसी भी प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान नहीं है, इसी कारण मेकेग्न्जी को यह कहना पड़ा "Law is made for the sake of man not man for the sake of law" अर्थात् नियम मनुष्य के लिए बने हैं न कि मनुष्य नियम के लिए। इस कारण से काण्ट का नीतिशास्त्र अधिक संकीर्ण हो गया।
5. सदिच्छा को दोनों ही नैतिक दर्शनों में समुचित स्थान प्राप्त है। जैनदर्शन में सदिच्छा से तात्पर्य हमारी इच्छा या संकल्प का सच्चाई से युक्त होना जबकि काण्ट ने 'A goodwill is a will which wills nothing' कहकर सदिच्छा को एक ऐसी इच्छा माना जो कोई इच्छा ही नहीं करती अर्थात् काण्ट ने तो सदिच्छा को आप्तकाम के रूप में स्वीकार कर सदिच्छा की मूल मान्यता का ही अन्त कर दिया।
6. काण्ट ने संकल्प-स्वातन्=य, आत्मा की अमरता और ईश्वरास्था के रूप में नैतिकता की तीन मान्यताएं स्वीकार की हैं। यद्यपि जैन नीतिशास्त्र में ऐसी विशेष मान्यता का उल्लेख काण्ट की तरह नहीं किया गया है किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जैन नीतिशास्त्र को संकल्प की स्वतन्त्रता और आत्मा की अमरता स्वीकार है किन्तु ईश्वर की किसी नैतिक व्यवस्था के रूप में कोई ईश्वरास्था स्वीकार नहीं है। काण्ट की तरह जैनदर्शन में अलग से किसी ईश्वर की मान्यता नहीं है। यहां तो हर किसी में ईश्वर बनने की क्षमता है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार—

"कौन कहता है अरे, ईश्वर मिलेगा साधना से।
वह स्वयं मैं, मैं स्वयं वह, भावमय आराधना से॥
वह नहीं मुझसे विलग, मैं नहीं उससे विलग।
एक स्वर है, एक लय है, त्वं अहं का भेद किससे ॥"

अर्थात् जैनदर्शन काण्ट की तरह नैतिक व्यवस्था के सर्जक के रूप में किसी स्वतंत्र ईश्वर को स्वीकार नहीं करता। यहां तो अपने कर्म ही अपनी नैतिक एवं अनैतिक व्यवस्था के सर्जक हैं। आयारो में स्पष्ट है—

"कामेसु गिद्धा णियचं करेंति
सं सिच्चमाणा पुणरेंति गब्भं॥"

अर्थात् काम भोगों में आसक्त जन कर्मों का संचय करते रहते हैं और इन कर्मों के फलस्वरूप वे पुनः पुनः जन्म धारण करते रहते हैं। इसी प्रकार स्थानांगसूत्र में भी स्पष्ट है—

"इह लोगे सुचिण्ण कम्मा इहलोगे सुहफल विवाग संजुत्ता भवंति।
इह लोगे सुचिण्ण कम्मा परलोगे सुहफल संजुत्ता भवंति॥"

अर्थात् इस लोक में अच्छे कर्म इस लोक में और परलोक में अच्छे फल प्रदान करते हैं।

7. काण्ट का नीतिशास्त्र शुद्ध बुद्धि परक है जबकि जैन नीतिशास्त्र भावना और बुद्धिपरक दोनों हैं। यहां **'जयंचरे जयंचिट्ठे जयमासे जयंसये'** इत्यादि कहकर जहां सोच विचार कर सावधानीपूर्वक कार्य करने के रूप में बुद्धि की महत्ता को स्वीकार किया गया है वहीं **'मित्ति में सव्वभूएसु'** कहकर भावना के महत्त्व को भी प्रतिपादित किया गया है। जैनदर्शन की अहिंसा भावना की उपेक्षा से संभव भी नहीं है।

4.5 सारांश– इस प्रकार यह कहने में कोई संकोच तो नहीं होना चाहिए कि काण्ट का नैतिक दर्शन अति आदर्शपरक है और जैन नीतिशास्त्र श्रमणाचार के रूप में अति आध्यात्मिक है तो श्रावकाचार के रूप में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आध्यात्मिक और यथार्थपरक दोनों हैं। श्रावकाचार और श्रमणाचार का अलग-अलग भेद काण्ट के दर्शन में न होने के कारण काण्ट का नैतिक दर्शन यथार्थपरक नहीं हो सका वहीं श्रावकाचार के रूप में जैन नैतिक दर्शन की यथार्थता स्पष्ट है।

4.6 अभ्यास प्रश्नावली

निबंधात्मक प्रश्न

1. काण्ट और जैन के नैतिक दर्शन की तुलनात्मक विवेचना कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. काण्ट के निरपेक्ष आदेश की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।
2. जैनदर्शन के श्रमणाचार को स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. काण्ट ने नैतिकता की कितनी मान्यताएं स्वीकार की?
2. जैनदर्शन में श्रावक के कितने आचार हैं?
3. काण्ट के तीन प्रमुख ग्रन्थों में नैतिक दर्शन किस ग्रन्थ से सम्बन्धित है?
4. जैनदर्शन में परीषह कितने हैं?
5. क्या जैन नीतिशास्त्र में भावना की उपेक्षा की गयी है?
6. काण्ट ने निरपेक्ष आदेश की व्याख्या में कितने सूत्र दिए हैं?
7. क्या काण्ट ने नैतिकता का कोई अपवाद स्वीकार किया है?
8. जैन आचारशास्त्र का प्रमुख ग्रन्थ कौन सा है?
9. काण्ट ने सदिच्छा का क्या अर्थ किया है?
10. जैन दर्शन में तप संवर है या निर्जरा?

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. तीन
2. बारह
3. क्रिटिक ऑफ प्रैक्टीकल रीजन
4. बाइस
5. नहीं
6. पांच
7. नहीं
8. आचारांग भाष्य
9. जो किसी की इच्छा नहीं करती
10. निर्जरा।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग–2 : पाश्चात्य प्रत्यय एवं जैन दर्शन

इकाई–5 : देशकाल (लाइबनीज, काण्ट, न्यूटन आइन्स्टीन, जैनधर्म)

संरचना

5.0 प्रस्तावना
5.1 उद्देश्य
5.2 न्यूटन का मत
5.3 लाइबनीज की अवधारणा
5.4 काण्ट के विचार
5.5 आइन्स्टीन की अवधारणा
5.6 जैन दर्शन में देशकाल
5.7 तुलना
5.8 सारांश
5.9 अभ्यास प्रश्नावली

5.0 प्रस्तावना

वैविध्यपूर्ण अखिल ब्रह्माण्ड के अनन्त सत्यों में एक सत्य है देश और काल। देश और काल की अवधारणा एक ऐसी अवधारणा है जिसका ज्ञान मन्दबुद्धि वाले एक साधारण व्यक्ति को भी है। प्रायः हर कोई जानता है कि दूर, निकट, यहां-वहां, इधर-उधर आदि देश के बोधक हैं तो प्राचीन और अर्वाचीन का बोधक है काल। इतना होते हुए भी देश और काल के सन्दर्भ में जितना बौद्धिक व्यायाम हुआ है उतना शायद ही किसी विषय पर हुआ हो। सचमुच देश और काल के वास्तविक स्वरूप के स्पष्टीकरण एवं निश्चयीकरण की दार्शनिक एवं वैज्ञानिक समस्या रही है। दार्शनिक तो आधारभूत तथ्यों के स्वरूप में स्वभाव से ही अभिरुचि रखने के कारण बहुत दिनों से इनकी विवेचना करते रहे हैं, परन्तु आधुनिक काल में दिक् तथा काल के स्वरूप का प्रश्न दार्शनिकों से कहीं अधिक भौतिकशास्त्रियों का प्रश्न बन गया है।

5.1 उद्देश्य

यहां हमारा उद्देश्य न्यूटन, लाइबनीज, काण्ट और आइन्स्टीन के देशकाल सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत कर जैनदर्शन के देशकाल सम्बन्धी अवधारणा से उनकी तुलना करना है।

5.2 न्यूटन का मत

आइन्स्टीन के आपेक्षिकता के सिद्धान्त (Theory of Relativity) से पूर्व वैज्ञानिक जगत् में 'आकाश और काल' सम्बन्धी एक सर्वमान्य सिद्धान्त था, जो कि सर आइजक न्यूटन (1642 ई. से 1727 ई.) द्वारा सर्वप्रथम दिया गया। दार्शनिक गेसेण्डी के आकाश सम्बन्धी विचारों से प्रभावित होकर न्यूटन ने इस सिद्धान्त की स्थापना की थी। अपनी विश्वविख्यात पुस्तक प्रिंसिपिया (Principia) में आकाश और काल का विवेचन करते हुए न्यूटन ने लिखा है—'निरपेक्ष आकाश, अपने स्वभाव और बाह्य किसी वस्तु की अपेक्षा के बिना सदा एक सा और स्थिर रहता है। और काल के सम्बन्ध में निरपेक्ष, वास्तविक और गणितिक काल स्वभावतः किसी बाह्य वस्तु की अपेक्षा बिना सदा समान रूप से अपने आप बहता है।' न्यूटन की इन व्याख्याओं से स्पष्ट हो जाता है कि न्यूटन ने वस्तुनिष्ठ रूप से आकाश और काल को स्वतंत्र माना है। इनका अस्तित्व न तो ज्ञाता पर निर्भर है और न अन्य भौतिक पदार्थों पर, जिनको वे आश्रय देते हैं अथवा सम्बन्धित करते हैं। आम व्यक्तियों की भी यही धारणा लगती है कि देश और काल किसी पर निर्भर नहीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हैं अपितु सभी वस्तुएं एवं सभी घटनाएं इन पर निर्भर हैं। वैशेषिक दर्शन भी देश और काल को दो नित्य सत्ताओं के रूप में स्वीकार करता है। अतः यह विचार भी न्यूटन के विचार की ही संपुष्टि करता है कि देश और काल दो वस्तुनिष्ठ सत्ताएं हैं जिनके अन्दर विश्व की समस्त घटनाएं घटित होती हैं। देश के अंदर एक सहअस्तित्व या साथ-साथ अस्तित्व (Co-existence or togetherness) के रूप में वस्तुएं स्थित हैं तथा काल के अन्तर्गत एक पूर्वापर (Successive) रूप में एक के बाद दूसरी घटनाएं घटती हैं। वस्तुओं का ऊपर-नीचे नजदीक-दूर, बड़ा-छोटा के रूप में हमें ज्ञान इसी कारण होता है कि वे देश के अन्तर्गत हैं।

'स्थान की अपेक्षा से सभी वस्तुएं देश में ही हैं' न्यूटन के इस कथन का मतलब यही है कि देश स्थिर एवं अगतिशील है तथा पृथ्वी एवं अन्य आकाशीय पिण्ड उसी में ही समाहित हैं। यह देश (आकाश) असीम विस्तार वाला है। चाहे कोई ज्ञाता या द्रष्टा उसका अनुभव करे या नहीं फिर भी सदा से उसका अस्तित्व रहा है और रहेगा। जो कुछ भी घटित हो रहा है, आकाश के परे उसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। न्यूटन के अनुसार देश की सातत्यता है। वह एक और अखण्ड तत्त्व है, सर्वत्र एक रूप है। भिन्न-भिन्न पदार्थों द्वारा अवगाहित होने पर भी उनके गुणों में परिवर्तन नहीं आता है। काल को भी उसने एक स्वतंत्र तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। न्यूटन के देश और काल सम्बन्धी विचारों को श्लीक (Schlik) ने अपनी पुस्तक Space and Time in Contemporary Physics में निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है—"Absolute time or mathematical time blows invirtue of its own nature uniformly and without reference to any external object. Absolute space by virtue of its own nature and without reference to any external object always remains the same and is immovable." अर्थात् निरपेक्ष देश और काल की अपनी वस्तुनिष्ठ सत्ताएं हैं। किसी भी वस्तु या घटना से स्वतंत्र उनका अस्तित्व है। वे असीम और नित्य सन्दूक हैं जिसमें समस्त वस्तुएं रखी रहती हैं। न्यूटनीय भौतिक विज्ञान ने आकाश के साथ भौतिक ईथर का अविच्छिन्न सम्बन्ध जोड़कर गति की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया। यहां ईथर एक ऐसा भौतिक तत्त्व माना गया जो समग्र देश में व्याप्त है और जो प्रकाश-तरंगों के प्रसार में यानी सहायक होता है अथवा ध्वनि की तरंगों के प्रसार के हवा सहायक होती है। किन्तु प्रकाश तरंगों के प्रसार में सहायक ईथर की मान्यता को वैज्ञानिक अनुसंधानों के आधार पर कालान्तर में माइकलसन और मार्ले ने अस्वीकार कर दिया। निरपेक्ष देश-काल सम्बन्धी अवधारणा को न्यूटन के अतिरिक्त गैलेलियो ने भी स्वीकार किया। डेकार्ट, स्पिनोजा भी इसी मत को स्वीकार करते हैं। G-W- Cunningham ने अपने पुस्तक Problems of Philosophy में इसी निरपेक्ष आकाश और काल को स्वीकार करते हुए लिखा है—

"The space of conceptionis pure more or less independent of material objects and so is readily thought of as one. Conceptual time is more are less independent."

अर्थात् देश और काल स्वतंत्र एवं निरपेक्ष हैं।

5.3 देश-काल सम्बन्धी लाइबनीज की अवधारणा

लाइबनीज (1646 ई. 1716 ई.) के देश-काल की अवधारणा न्यूटन के देश-काल के विरोध में उद्भूत हुई दिखाई पड़ती है। उसके अनुसार देश और काल की स्वतंत्र तथा निरपेक्ष सत्ता नहीं है। ये प्रतिबिम्ब वस्तु की वर्गणा है न कि विश्व की। देश-काल वैचारिक या आदर्श हैं। वे स्वतः सत्य नहीं हैं। जिन प्रत्यक्षों या प्रत्ययों को वे सम्बन्धित करते हैं उनके बिना उनका अस्तित्व नहीं रह सकता। देश प्रत्यक्षों एवं प्रत्ययों के सह-अस्तित्व या युगपद् भाव का विन्यास (Order) है। काल प्रत्यक्षों या प्रत्ययों के पूर्वापर (आगे पीछे होने का भाव) का विन्यास है। इस प्रकार देश-काल चिदणुओं के प्रत्यक्षों या प्रत्ययों से सम्बन्धित हैं। वे सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं। वे प्रत्ययों के विन्यास हैं, वस्तु सत् नहीं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लाइबनीज के अनुसार यदि न्यूटन के देश-काल की अवधारणा को स्वीकार कर लिया जाय तो इससे शुद्ध भौतिकवाद को बढ़ावा मिलेगा। इससे ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता, अनन्तता एवं पूर्णता को समझाया नहीं जा सकता। यदि देश-काल निरपेक्ष सत् है तो ईश्वर की अद्वितीयता में भी बाधा उत्पन्न होती है। ईश्वरवादी जहां सब कुछ ईश्वर द्वारा उद्भूत मानते हैं वहां यदि देश-काल को ईश्वर से परे सत् माना जाय तो ईश्वरवाद अभिशप्त होगा। कहते हैं कि न्यूटन को लाइबनीज की इस आपत्ति से बेचैनी हुई और उसने इस समस्या का हल खोजते हुए कहा कि देश-काल ईश्वर के संवेदना केन्द्र (Sensorium) हैं। जैसे मनुष्यों के संवेदना-केन्द्र होता है जो उनके प्रत्यक्षों को संगठित और विन्यस्त करता है उसी प्रकार ईश्वर में भी संवेदना केन्द्र है जो उसके प्रत्यक्षों को संगठित और विन्यस्त करता है। यह संवेदना केन्द्र देश-काल है क्योंकि देश-काल में ही विश्व की सभी वस्तुएं जो ईश्वर के प्रत्यक्ष या प्रत्यय हैं, संगठित एवं व्यवस्थित हैं। लाइबनीज इस समाधान से संतुष्ट दिखाई नहीं पड़ता। न्यूटन की बात उसके गले नहीं उतरी और इस पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उसने कहा कि यदि देश-काल ईश्वर का संवेदना केन्द्र है तो फिर ईश्वर का चिदणु एवं सर्वश्रेष्ठ चिदणु है जो विश्वरूप नहीं, विश्व से पृथक् है। ईश्वर तो विश्व की व्यवस्था करता है तो वह विश्वरूप कैसे हो सकता है। यदि ईश्वर को विश्व रूप मानें तो इसका मतलब होगा कि वह अपनी व्यवस्था करता है। इसलिए लाइबनीज न्यूटनीय देश-काल को ईश्वरवाद के विपरीत मानता है।

इस प्रकार लाइबनीज के अनुसार देश-काल स्वतंत्र एवं निरपेक्ष नहीं अपितु वस्तुओं के सापेक्ष एवं सदा परिवर्तनशील है। वह वस्तुओं का ऐसा कोई विन्यास नहीं स्वीकार करता जो शाश्वत एवं स्थिर हो। इसलिए कोई ऐसा स्थान य क्षण नहीं है जो वस्तुओं का अनिवार्य गुण हो। परिवर्तनशील वस्तुओं एवं चिदणुओं के परिवर्तनशील विन्यास में किसी परिस्थिति विशेष को लेकर स्थान और क्षण की कल्पना की जाती है। इस प्रकार लाइबनीज का यह मत अद्वैत वेदान्त के मत से मिलता-जुलता है जिसके अनुसार देश-काल मिथ्या वर्गणाएं हैं जिनके द्वारा जगत् अभिव्यक्त होता है। अतः लाइबनीज के देश-काल को वस्तु सत् न मानकर प्रपंच, आभास एवं प्रतिबिम्ब के रूप में माना है। उसके अनुसार देश और काल वास्तविक वस्तुओं के भ्रान्त प्रतिबिम्ब हैं, वे शुद्ध प्रत्यय नहीं हैं। वे संवेद हैं और सभी संवेद अस्पष्ट प्रत्यय हैं।

5.4 काण्ट के विचारों में देश और काल

काण्ट अपने ज्ञान सिद्धान्त के अन्तर्गत यह मानता है कि कोई भी ज्ञान इन्द्रिय और बुद्धि के समन्वय से होता है। इन्द्रियां ज्ञान के लिए सामग्री देती हैं तो बुद्धि ज्ञान के लिए सांचे का कार्य करती है। अर्थात् अनुभूत सामग्री बुद्धि के पास जिन माध्यमों या द्वारों से होकर जाती है, उन्हीं को काण्ट देश और काल मानता है। अतः उसके अनुसार ज्ञान = अनुभूत सामग्री + देश-काल + बुद्धि विकल्प और देश-काल=ज्ञान—(अनुभूत सामग्री + बुद्धि विकल्प)। इस प्रकार काण्ट ज्ञान की खोज करता हुआ देश-काल तक पहुंचता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि उसके अनुसार देश और काल क्या है? यह पदार्थ या द्रव्य है या किसी पदार्थ का गुण है या प्रत्यय है? न्यूटन ने देश-काल को स्वतंत्र पदार्थ स्वीकार किया और लाइबनीज ने इसे बाह्य वस्तुओं का गुण माना। वह इनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानता है। लाइबनीज का कहना है कि देश और काल तो ऊपर-नीचे रखी हुई वस्तुओं तथा पहले-पीछे होने वाली घटनाओं के गुण हैं। इसी प्रकार ह्यूम आदि अनुभववादी दार्शनिक देश और काल को केवल मानसिक प्रत्यय या विचार मानते हैं। काण्ट इन तीनों मतों की समीक्षा करता है। उसके अनुसार देश और काल न पदार्थ है न गुण है और न प्रत्यय ही। देश-काल स्वतंत्र, निरपेक्ष पदार्थ नहीं हैं क्योंकि ऐसा किसी को दृष्टिगोचर नहीं होता है। देश-काल गुण भी नहीं है क्योंकि वस्तुएं या घटनाएं इसके कारण हैं, अतः यह वस्तुओं एवं घटनाओं का गुण भी नहीं है। ये

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मन के परिणाम, प्रत्यय या विचार भी नहीं है यदि ये मन के शुद्ध विचार या प्रत्यय मान भी लिये जाये तो इनकी सत्ता निश्चित रूप से आन्तरिक ही होगी और ये किसी बाह्य संवेदनाओं के कारण नहीं हो सकते।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि देश और काल न तो द्रव्य है और न ही गुण या प्रत्यय अपितु देश और काल वे मानसिक धर्म हैं, जो संवेदनाओं के अनिवार्य आधार हैं। उसके अनुसार देश और काल वस्तुनिष्ठ सत्ताएं नहीं है, बल्कि हमारे मन के दो आकार हैं जिनके द्वारा ही भौतिक विश्व सम्बन्धी हमारा कोई भी प्रत्यक्षीकरण संभव होता है। काण्ट ने देश-काल को प्रत्यक्षीकरण के दो माध्यमों के रूप में लिया है। उनका कथन है—'Space and time are not realities of the phenomenal world, but modes under which we see things apart.' अर्थात् देश-काल वस्तुगत की वास्तविकताएं नहीं हैं बल्कि वस्तुओं को अलग-अलग रूप से देखने के हमारे दो माध्यम हैं।

डॉ. बी.एन. सिंह के अनुसार काण्ट के दर्शन में देश और काल वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ है, क्योंकि ये ज्ञाता से भिन्न नहीं हैं। ये ज्ञाता से अलग नहीं हो सकते। अलग न होने के कारण ही इन्हें ज्ञाता का मानसिक धर्म माना गया है। इन्हें आलंकारिक भाषा में ज्ञाता का चश्मा कहा गया है जिनके कारण ही व्यक्ति बाह्य विषयों को देखता है। जिस प्रकार बाह्य विषयों के अवलोकन में चश्में की अनिवार्यता है, उसी प्रकार संवेदनाओं को ग्रहण करने में देश और काल की। ये तो ज्ञाता के मानसिक धर्म हैं। ये धर्म संवेदनाओं के साथ किस प्रकार जुड़े हुए हैं, इन्हें एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। जन्म से कोई एक नीला चश्मा धारण करता है कभी चश्मे को अपनी आंखों से अलग नहीं करता। फलतः उसे सभी वस्तुएं नीली दिखाई देती हैं। उसके लिए नीलापन सभी वस्तुओं का आवश्यक धर्म या लक्षण बन जाता है। इसी प्रकार भोजन पाचन यंत्र से एक विशेष रस की उत्पत्ति होती है। जैसे ही शरीर में भोजन पचना प्रारम्भ होता है तो पाचक यंत्र इस रस को मिला देता है अतः इस रस को भोजन पचने का आवश्यक अंग मान लिया गया। इसी प्रकार जैसे ही हमें संवेदनाएं मुख्य होने लगती हैं वैसे ही इन पर देश और काल का आवरण या रंग चढ़ जाता है। देश-काल के बिना संवेदनाओं का ग्रहण असंभव है। देश-काल के संदर्भ में काण्ट ने क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन में इस प्रकार कहा है— "Time is nothing but the foprm of internal sense, that is, of our intution of ourselves and of our internal states. Space is nothing but the form of all phenomena of the external senses. It is the subjective condition of our sensibility, without which no external intution is possible for us." अर्थात् आन्तरिक अनुभवों का आधार काल तथा बाह्य अनुभवों का आधार देश है। बाह्य इन्द्रिय से जिन विषयों का ज्ञान होता है वे सभी देश में स्थित पाये जाते हैं। इसी प्रकार अन्तःकरण से हम जो कुछ जानते हैं अर्थात् हम अपने मन के अन्दर जिन-जिन भावों को जानते हैं वे सभी काल में पाये जाते हैं।

काण्ट देश और काल की दो प्रकार से व्याख्या करता है। एक तात्त्विक व्याख्या है जिसमें वह सिद्ध करता है कि देश और काल प्रागनुभविक हैं। दूसरे देश-काल को प्रत्यक्ष रूप न मानकर काण्ट इसके अस्तित्व को मानता है। देश-काल की तात्त्विक व्याख्या करते हुए काण्ट चार प्रमाण देता है—

1. देश और काल अनुभवजन्य नहीं हैं। कारण जब हमें देश या काल का अनुभव होता है तो हमें क्रमशः सह अस्तित्व या अनुक्रम का अनुभव होता है। किन्तु यह अस्तित्व और अनुक्रम हमें देश और काल का अनुभव नहीं कराते क्योंकि सह अस्तित्व स्वयं देश पर और अनुक्रम काल पर निर्भर है। हम जिस भी किसी माध्यम से देश और काल को जानने का प्रयास करेंगे, वे माध्यम स्वयं देश-काल पर निर्भर होंगे। अतः यह कहा जा सकता है कि देश और काल प्रागनुभविक हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. हम देश की कल्पना करते समय देश में स्थित सभी विषयों को देश से हटा सकते हैं किन्तु किसी विषय की कल्पना करते समय हम उस विषय को देश से अलग नहीं हटा सकते। अत: देश हमारे संवेद्य विषयों का आधार है। इसी प्रकार काल भी हमारे संवेद्य विषयों का आधार है।
3. देश और काल सामान्य प्रत्यय नहीं हैं। जो सामान्य होता है उसके अनेक विशेष होते हैं जैसे गोत्व के अन्दर काली, नीली, पीली गायें हैं। इसी प्रकार यदि देश और काल सामान्य प्रत्यय होते तो उनके भी विशेष देश और विशेष काल होते। किन्तु विशेष देश और विशेष काल जो अनुभव में आते हैं वे या महाकाल और एक क्षण में वह सम्बन्ध नहीं हैं जो गोत्व और गाय में हैं। देश और काल विशेष इकाई हैं और उनके अंश उनके अन्दर हैं, न कि उनके पहले।
4. देश और काल अनन्त हैं। वे अविभाज्य और अखण्ड हैं अत: अनुभवपूर्व हैं।
   अत: काण्ट देश-काल को अनुभवजन्य न मानकर प्रागनुभविक मानता है तथा साथ-ही-साथ वह इन्हें प्रत्यय रूप (Concept) न मानकर प्रत्यक्ष रूप (Percept) मानता है। उसके अनुसार प्रत्यय तो बुद्धि का धर्म है। जब हमें संवेदनाएं प्राप्त हो जाती हैं तब बुद्धि इनमें व्यवस्था लाती है। चूंकि संवेदना देश-काल के माध्यम से प्राप्त करते हैं और उसके बाद बुद्धि का कार्य होता है। अत: देश और काल प्रत्ययरूप न होकर प्रत्यक्षरूप हैं।

इस प्रकार देश-काल सम्बन्धी काण्ट की अवधारणा में न्यूटन और लाइबनीज के मतों का समन्वय होता है। लाइबनीज की भांति काण्ट मानता है कि देश और काल विषयिगत हैं और उनका सम्बन्ध संवेदना से है। फिर वह न्यूटन से इस विषय में मतैक्य रखता है कि देश और काल अनन्त, असीम और अखण्ड हैं किन्तु जहां न्यूटन देश-काल को स्वयं वस्तु मानता है वहां काण्ट उनको वस्तुओं का आधार मानता है, न कि स्वयं वस्तुएं। उसके अनुसार देश और काल स्वत: सद् वस्तुएं नहीं हैं। उनका अनिवार्य सम्बन्ध प्रत्यक्ष से रहता है। वे प्रत्यक्ष के आकार हैं। इस दृष्टि से देखा जाय तो काण्ट के अनुसार देश और काल विषयगत भी हो जाते हैं। वास्तव में उनके दर्शन में विषयीगत और विषयगत का वह अर्थ नहीं है जो अन्य दर्शनों में हैं। इस कारण उचित रूप में उन्हें न तो विषयीगत कहा जा सकता है और न ही विषयगत। अन्त में हम यही कह सकते हैं कि काण्ट के दर्शन में देश और काल व्यवहारत: वास्तविक (Empirically Real) और परमार्थत: वैचारिक (Transcendentally Ideal) है।

यद्यपि काण्ट के देश-काल सम्बन्धी विचार में न्यूटन और लाइबनीज के विचारों का समन्वय देखा जाता है इसलिए यह अधिक उपयुक्त दिखाई पड़ता है किन्तु बट्रेन्ड रसेल (B. Russell) ने काण्ट के देश-काल पर आक्षेप व्यक्त करते हुए कहा कि यदि देश-काल मन के आकार यानी आत्मनिष्ठ होते तो फिर कुछ दार्शनिक सम्बन्धों को हम बराबर एक ही तरह का कैसे देखते? हम हमेशा यह पाते हैं कि हमारी आंखें हमारे मुख से ऊपर हैं और हमारे नाक दोनों आखों के बीच में ही है तथा ऐसे ही अन्य अंग भी एक दूसरे के साथ निश्चित दैशिक सम्बन्ध से ही सम्बन्धित है। हम उन्हें कुछ दूसरे प्रकार के सम्बन्धों में बंधा हुअ क्यों नहीं देखते हैं। इसी तथ्य को रसेल अपनी पुस्तक कहते हैं—"There is here, as through out kant's theory of subjectivity of space and time, a dificulty wi\hich be seems never to have been felt. What induces me to arrange objects of perception as I do rather than otherwise/ Why, for instance do I always see people's eyes above their mouths and not below them."

5.5 आइन्स्टीन के विचारों में देश-काल की अवधारणा

न्यूटन के निरपेक्ष देश और काल के सिद्धान्त से भौतिक विभाव में उपस्थित होने वाली समस्याओं का हल निकालने का प्रयत्न अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के वैज्ञानिकों द्वारा खूब किया गया। यहीं से प्रकाश तरंगों के प्रसार के माध्यम के रूप में जो भौतिक ईथर की कल्पना हुई तो इस पर माइकलसन और मोर्ले ने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विशेष अनुसंधान किये। उनके अनुसंधानों पर भी जब कोई समाधान नहीं निकल रहा था तो 1905 में अल्बर्ट आइन्स्टीन ने आपेक्षिकता के सिद्धान्त (Theory of Realivity) को जन्म दिया और वैज्ञानिक जगत् की ईथर की परिकल्पना तो तिलांजलि दे दी और देश काल की निरपेक्षता को अस्वीकार कर उन्हें सापेक्ष बना दिया। जहां न्यूटन के विचारों में देश, काल और भौतिक पदार्थ सभी एक दूसरे से स्वतंत्र थे वहीं आइन्स्टीन के सिद्धान्त में ये एक दूसरे से सम्बन्धित हो गये। विश्व 'देश-काल' की संयुक्त चतुर्वैमितिक सततता बन गया और उसके गुणधर्म उसमें समाहित भौतिक पदार्थों पर आधारित हो गये। भौतिक पदार्थों की गति एवं स्थिति का सीधा प्रभाव देश-काल की सततता पर पड़ता है। आपेक्षिकता के इस सिद्धान्त के अनुसार देश की तीन विमिति (लम्बाई, चौड़ाई और ऊंचाई अथवा गहराई) और काल की एक विमिति मिलकर एक चतुर्वैमितिक अखण्डता का निर्माण करती है और हमारे वास्तविक जगत् में होने वाली सभी घटनाएं इस चतुर्विमितिक सततता की विविध अवस्थाओं के रूप में सामने आती हैं।

आइन्स्टीन ने अपने आपेक्षिकता के सिद्धान्त के अन्तर्गत देश और काल के निरपेक्ष अस्तित्व को अस्वीकार कर उन्हें ज्ञाता सापेक्ष स्वीकार किया है। उनके अनुसार जिस प्रकार रंग, आकार अथवा परिमाण हमारी चेतना से उत्पन्न विचार हैं, उसी प्रकार देश और काल भी हमारी आन्तरिक कल्पना के ही रूप है। जिन वस्तुओं को हम आकाश में देखते हैं, उनके क्रम के अतिरिक्त देश की कोई वस्तु सापेक्ष वास्तविकता नहीं है। इसी प्रकार जिन घटनाओं के द्वारा हम काल को मापते हैं, उन घटनाओं के क्रम के अतिरिक्त काल का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। देश और काल का स्वतंत्र वस्तु सापेक्ष अस्तित्व न होने पर भी देशकाल की संयुक्त चतुर्वैमितिक सततता वस्तु सापेक्ष वास्तविकता का प्रतीक है। जब इस सततता का देश और काल के रूप में पृथक्करण किया जाता है तब ये भेद ज्ञाता-सापेक्ष होते हैं, किन्तु जब वे चतुर्वैमितिक सततता के रूप में जुड़ते हैं तब उसके द्वारा हमें वस्तु सापेक्ष विश्व का ज्ञान होता है। इस तथ्य की स्वीकृति सर जेम्स जीन्स के शब्दों में भी मिलता है कि हम समग्र प्रकृति को इस ढांचें (चतुर्मितिक सततता) में व्यक्त कर सकते हैं, इसलिए यह वस्तु सापेक्ष है। किन्तु देश और काल में इसका विभागीकरण भी कर सकते हैं, यह ज्ञाता सापेक्ष है। राईशन बार.. ने आपेक्षिकता के सिद्धान्त को मान्य रखते हुए यह माना कि देश और काल का वस्तु सापेक्ष अस्तित्व है। आपेक्षिकता के सिद्धान्त के अन्तर्गत यह सर्वमान्य निष्कर्ष नहीं निकल सका कि देश और काल वस्तु सापेक्ष है या ज्ञाता सापेक्ष या दोनों, यही इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी रही है।

5.6 जैनदर्शन में देश (आकाश) और काल

देश को जैनदर्शन में आकाश द्रव्य के नाम से जाना जाता है। पाश्चात्य दर्शनों के 'अवगाहनों इति आकाशः' अर्थात् आकाश वह द्रव्य है जो अन्य सभी द्रव्यों को अवगाह/आश्रय देता है। द्रव्यानुयोग तर्कणा में इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है कि—

यो दत्ते सर्वद्रव्याणां साधारणववगाहनम्।
लोकालोक प्रकारेण द्रव्याकाशः स उच्यते॥ (10/8)

अर्थात् जो साधारणरूप से जब द्रव्यों को अवगाहन अर्थात् रहने को देता है, वह आकाश द्रव्य है और लोक एवं अलोक इसके दो भेद हैं।

आकाश द्रव्य को व्याख्यायिक करते हुए वृहद् द्रव्य संग्रह में इस प्रकार कहा गया है—

अवगासदाण जोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं॥ (1/19)

इस तथ्य के वैशिष्ट्य के बारे में गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—"भगवन्! आकाश तत्त्व से जीवों और अजीवों को क्या लाभ होता है?"

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भगवान् ने कहा—"गौतम! यदि आकाश नहीं होता तो ये जीव कहां होते? ये धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहां व्याप्त होते? काल कहां बरतता? पुद्गल का रंगमंच कहां बनता?" यह विश्व निराधार ही होता।

अतः सभी द्रव्यों का आधार आकाशास्तिकाय ही है। यद्यपि सभी द्रव्य अपने-अपने स्वरूप की दृष्टि से स्वप्रतिष्ठित हैं किन्तु क्षेत्र या आयतन की दृष्टि से आकाश-प्रतिष्ठ होते हैं। द्रव्य की दृष्टि से आकाश एक अखण्ड, स्वतंत्र एवं वस्तुनिष्ठ सत् है तो क्षेत्र की दृष्टि से अनन्त और असीम है। यह सर्वव्यापी है। काल की दृष्टि से अनादि और अनन्त है तथा भाव की दृष्टि से अमूर्त्त, अभौतिक, अचेतन एवं अगतिशील है। समस्त आकाश द्रव्य अन्य द्रव्यों के द्वारा अवगाहित नहीं है, अतः एक होने पर भी अन्य द्रव्यों के अस्तित्व के कारण वह दो भागों में विभाजित हो जाता है—लोकाकाश और अलोकाकाश। आकाश का भाग जो धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय—इन पांच द्रव्यों द्वारा अवगाहित है, वह लोकाकाश है। शेष भाग, जहां आकाश के अतिरिक्त और कोई द्रव्य नहीं होता, वह अलोकाकाश है। लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या असंख्यात है, अलोकाकाश के प्रदेशों की संख्या अनन्त है। लोकाकाश एक अखण्ड, सांत और ससीम है तथा अलोकाकाश एक अखण्ड, असीम और अनन्त है। बृहद्द्रव्य संग्रह में इस प्रकार से उल्लेख है—

धम्माऽधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावादिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो॥ (1/20)

अर्थात् धर्म-अधर्म, काल, पुद्गल और जीव के पांचों द्रव्य जितने आकाश में हैं, वह तो लोकाकाश है और उस लोकाकाश के आगे अलोकाकाश है।

द्रव्यानुयोग तर्कणा में इसी अर्थ का विचार करते हुए कहा गया है—

धर्मादिसंयुतो लोकोऽलोकस्तेषां वियोगतः।
निरवधिः स्वयं तस्यावधित्वं तु निरर्थकम्॥ (10/9)

अलोक के संस्थान (आकार) के सम्बन्ध में गौतम द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर भगवान् महावीर ने कहा—गौतम! शुबिर (खाली) गोले में रही हुई रिक्तता जैसा उसका आकार है। अर्थात् अलोक एक विशाल गोले के समान है, जिसकी त्रिज्या, अंत हैं। इस कथन से यही स्पष्ट होता है कि धर्मादि पांच द्रव्यों को धारण करने वाला यह विश्व (लोकाकाश) अनन्त आकाश समुद्र में एक द्वीप के समान है। जैनदर्शन के अनुसार दिक् (देश) कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है, अपितु आकाश का ही एक भाग है। आकाश के जिस भाग से वस्तु का व्यपदेश या निरुपण किया जाता है, वह दिक् कहलाता है। अतः पाश्चात्य दर्शनों एवं वैज्ञानिकों ने जिस देश (Space) का उल्लेख किया है वह जैनदर्शन का आकाश ही है।

जैनदर्शन में अस्तिकाय द्रव्यों से परे अनास्तिकाय द्रव्य के रूप में 'काल' को स्वीकार किया गया है। काल के अतीत समय नष्ट हो जाते हैं। अनागत समय अनुत्पन्न होते हैं। इसलिए उसका स्कन्ध नहीं बनता। वर्तमान समय एक होता है, इसलिए उसका तिर्यक-प्रचय (तिरछा फेलाव) नहीं होता। काल का स्कन्ध या तिर्यक् प्रचय नहीं होता, इसलिए वह अस्तिकाय नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार काल औपचारिक द्रव्य है। वस्तुवृत्या वह जीव और अजीव का पर्याय है। जहां इसके जीव-अजीव के पर्याय होने का उल्लेख है, वहां इसे द्रव्य भी कहा गया है। ये दोनों कथन विरोधी नहीं हैं, किन्तु सापेक्ष हैं। उसे द्रव्य मानने के कारण इसकी उपयोगिता है— "उपकारकं द्रव्यम्।" वर्तना, परिणमन, क्रिया, परत्व, अपरत्व आदि काल के उपकार हैं। इन्हीं के कारण यह द्रव्य माना जाता है। पदार्थों की स्थिति आदि के लिए जिसका व्यवहार होता है, वह आवलिका आदि रूप काल जीव, अजीव से भिन्न नहीं हो, उन्हीं के पर्याय हैं। द्रव्यानुयोगतर्कणा में जीव, अजीवत्व काल का उल्लेख किया गया है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

"जीवाजीवमयः कालः समये न पृथक्कृतः।
इत्येके संगिरन्तेऽत्र धारयन्तः शुभां मतिम्॥"

अर्थात् काल जीव, अजीव रूप है। यह कोई पृथक् द्रव्य नहीं है। किन्तु दिगम्बर परम्परा में काल को अणुरूप माना गया है जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नराशि की तरह अवस्थित है। वृहद् द्रव्य संग्रह में स्पष्ट है—

"लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इथ्किक्का।
रयणाणं रासी इव ते कालाणू असंखदव्वाणि॥"

अर्थात् जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों की राशि के समान परस्पर भिन्न होकर एक-एक स्थित है वे कालाणु हैं और असंख्यात द्रव्य है।

जैनदर्शन के अनुसार आकाश और काल विवरण चार्ट से अधिक स्पष्ट होगा—

	चेतन/अचेतन	मूर्त्त/अमूर्त्त	प्रवेश परिमाण	गुण	एक/अंत	क्षेत्रीय अवस्थिति
आकाश	अचेतन	अमूर्त्त	अनंत	अवगाहना	एक	लोक-परिमाण
काल	अचेतन	अमूर्त्त	एक	वरतना	असंख्यात	लोक-परिमाण

इस प्रकार विभिन्न दर्शनों के अनुसार देश-काल की अवधारणा को स्पष्ट करने के पश्चात् जैनदर्शन से उनकी तुलना यहां अपेक्षित है।

5.7 विभिन्न दर्शनों के देश-काल सम्बन्धी विचार का जैनदर्शन से तुलना

देश-काल के उपर्युक्त चित्रण से यह स्पष्ट होता है कि इसका स्वरूप रहस्यमय बना हुआ है। कुछ लोग इसे स्वतंत्र और निरपेक्ष मानते हैं। स्वतंत्र और निरपेक्ष मानने वालों में कुछ लोग पदार्थ के रूप में तो कुछ लोग गुण के रूप में विषयनिष्ठ मानते हैं। कुछ लोगों के अनुसार देश और काल विषयनिष्ठ हो ही नहीं सकते, ये विषयनिष्ठ या आत्मनिष्ठ हैं। कुछ लोग इन्हें अनुभव निरपेक्ष प्रत्यक्ष मानते हैं तो कुछ लोग सापेक्ष स्वीकार करते हैं। सापेक्ष में भी वस्तु सापेक्ष और ज्ञातासापेक्ष का विवाद है। इस प्रकार देश-काल एक रहस्यात्मक पहेली बना हुआ है और इस सन्दर्भ में दार्शनिकों ने काफी बौद्धिक व्यायाम किया है।

देश-काल के सन्दर्भ में सबसे प्राचीन एवं व्यवस्थित विचार पाश्चात्य दर्शन में अरस्तू के मिलते हैं। अरस्तू ने जहां देश (आकाश) को अभौतिक, अचेतन एवं अगतिशील पात्र के रूप में स्वीकार किया, वहां तक वह जैन विचारधारा के निकट है किन्तु जब वह देश रूपी पात्र के सन्दर्भ में यह कहता है कि 'रिक्तदेश' असंभव है तब ऐसा प्रतीत होता है कि अरस्तू की पहुंच जैनदर्शन के लोकाकाश तक ही सीमित है, अलोकाकाश तक उसकी पहुंच नहीं हो सकी। अतः यह कहा जा सकता है कि जहां जैनदर्शन में देश अनंत और असीम है वहां अरस्तू देश को सांत और ससीम मानता है। उसके अनुसार देश वहीं तक है जहां तक विश्व है। चूंकि विश्व को मीलों, गजों में मापा जा सकता है अतः देश को भी मापा जा सकता है। इसीलिए देश सांत है। अरस्तू के दर्शन में विविध प्रकार के परिवर्तनों का माध्यम 'काल' को माना गया है, यह जैनदर्शन को भी मान्य है। अरस्तू की काल की सातत्यता भी जैनदर्शन को मान्य है परन्तु काल के माध्यम से अरस्तू आत्मतत्त्व की जिस प्रकार खोज करता है, वैसा जैनदर्शन में दृष्टिगोचर नहीं होता है।

न्यूटन ने अपने देश-काल की निरपेक्ष अवधारणा के अन्तर्गत देश को एक अखण्ड और अगतिशील माना है, ऐसा ही हम जैनदर्शन में भी देखते हैं पर न्यूटनीय भौतिक विज्ञान में गति की समस्या को सुलझाने के लिए यहां भौतिक ईथर की शरण ली गयी। जिसे कालान्तर में पूर्णतया नकार दिया वहीं जैनदर्शन में गति और स्थिति के लिए धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य को क्रमशः स्वीकार किया गया है। भौतिक ईथर जहां

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

समस्या को सुलझाने के स्थान पर उलझाता रहा वहां अभौतिक ईथर (धर्मद्रव्य) से समस्या का समाधान होता रहा। एडिंग्टन ने ईथर सम्बन्धी अपनी जो मान्यता 'न्यूपाथवेज इन साइन्स' में दी है वह जैनदर्शन के धर्मास्तिकाय के अनुकूल है। उसके अनुसार यद्यपि अपेक्षिकता के सिद्धान्त ने भौतिक ईथर को अस्वीकार कर दिया है किन्तु तब भी अभौतिक ईथर का अस्तित्व संभव हो सकता है। एडिंग्टन ने आकाश और ईथर में अविच्छिन्न सम्बन्ध की भी कल्पना की। अत: एडिंग्टन का अभौतिक ईथर, धर्मास्तिकाय हो सकता है। इस प्रकार न्यूटन के निरपेक्ष आकाश की अवधारणा जैनदर्शन के निकट लगती है। काल के बारे में न्यूटन और जैनदर्शन में बहुत कुछ साम्य होते हुए भी यह प्रमुख अन्तर है कि जहां न्यूटन के आकाश और काल को निरपेक्ष मानकर उनमें पारस्परिक सम्बन्ध को अस्वीकार किया है वहां जैनदर्शन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध का विरोधी नहीं।

देश और काल के संदर्भ में डेकार्ट और स्पिनोजा का अभिमत जैनदर्शन से सम्बन्धित नहीं है। डेकार्ट ने पुद्गल (Matter) के गुण और स्पिनोजा ने परमतत्त्व के गुण के रूप में देश-काल को जो स्वीकार किया है, जैनदर्शन उससे भी सहमत नहीं है। जैनदर्शन में देश (आकाश) और काल गुणरूप नहीं अपितु द्रव्य हैं। 'षड्द्रव्यात्मको लोका:' के छ: द्रव्यों में देश और काल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैनदर्शन लाइबनीज के देश और काल की अवधारणा से सहमत नहीं है। यहां देश और काल के निरपेक्ष अस्तित्व को अस्वीकार कर इसे प्रपंच, कल्पना एवं आभास रूप में स्वीकार किया है। यह वास्तविक वस्तुओं का भ्रान्त प्रतिबिम्ब है किन्तु जैनदर्शन में इन्हें प्रतिभास एवं प्रतिबिम्ब रूप न मानकर वास्तविक माना गया है। यहां यह स्पष्ट है कि आकाश आभासरूप हो तो आभासिक आधार ही सत्य होगा जो कि ठीक नहीं है। इसीलिए काण्ट ने लाइबनीज के देश-काल विचार को अस्वीकार कर एक नयी अवधारणा को जन्म दिया कि देश-काल अनुभवनिरपेक्ष है। काण्ट ने ज्ञान के लिए देश-काल को आवश्यक माना। जैनदर्शन भी यह मानता है कि ज्ञान में आकाश-काल का योगदान है, परन्तु जैनदर्शन जहां आकाश और काल के निरपेक्ष अस्तित्व को स्वीकार करता है वहां काण्ट इन्हें ऐसा मानसिक धर्म मानता है जो संवेदनाओं के अनिवार्य आधार हैं। काण्ट देश-काल को मन का आकार मानकर इन्हीं के माध्यम से समस्त विश्व के प्रत्यक्षीकरण को भी स्वीकार किया। अत: यहां यह कहा जा सकता है कि जैनदर्शन में देश और काल का स्वतंत्र अस्तित्व है जबकि काण्ट इन्हें मानसिक धर्म ही मानता है। अत: काण्ट के दर्शन में देश और काल विषयिनिष्ठ हैं तो जैनदर्शन में विषयनिष्ठ।

आइन्स्टीन का देश-काल सम्बन्धी सापेक्ष सिद्धान्त देश-काल के निरपेक्ष अस्तित्व पर जिस प्रकार चोट करता है वह जैनदर्शन को कभी अभीष्ट नहीं। आपेक्षिकता के सिद्धान्त की भूल इसी तथ्य में निहित है कि उसमें जानने की अशक्यता को वास्तविक असंभवता में उलझा दिया। आइन्स्टीन के आपेक्षिकता सिद्धान्त में कहा गया है—"किसी भी प्रकार के प्रयोग के द्वारा किसी भी गतिमान निकाय के निरपेक्ष गति का पता नहीं लगाया जा सकता।" इस सिद्धान्त के आधार पर सामान्यतया यह तात्पर्य निकाला जा सकता है कि निरपेक्ष आकाश का कोई अस्तित्व नहीं है। यदि ऐसा ही है तो जैनदर्शन के आकाशास्तिकाय से आपेक्षिकता सिद्धान्त के देश से कोई भेद नहीं है। आइन्स्टीन देश-काल को ज्ञाता सापेक्ष मानता है जिसे जैनदर्शन कभी स्वीकार नहीं कर सकता और यदि स्वीकार भी करे तो अन्य द्रव्यों के आश्रय की विकट समस्या खड़ी होती। अत: तार्किक विवेचन से भी यही स्पष्ट होता है कि आइन्स्टीन के देश-काल की अवधारणा से काम नहीं चल सकता। विश्व की सम्पूर्ण व्यवस्था को समझाने के लिए इनके वास्तविक निरपेक्ष अस्तित्व को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

5.8 सारांश–उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि आकाश और काल विश्व की गति-स्थिति सम्बन्धी समस्याओं को हल करने वाले जैनदर्शन के सिद्धान्त वस्तुत: आज के वैज्ञानिकों के सामने एक सम्यक्

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दार्शनिक प्रणाली उपस्थित करते हैं। जैनदर्शन में निरुपित देश-काल सिद्धान्त का स्रोत तर्क ही नहीं अपितु अन्तः अनुभूति एवं विशिष्ट साधना है। इसलिए पाश्चात्य दार्शनिक एवं वैज्ञानिकों की अपेक्षा यह अधिक उपयुक्त एवं समीचीन है। इसकी तार्किकता में भी कोई संदेह नहीं है।

5.9 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. विभिन्न पाश्चात्य दर्शनों के देश-काल सम्बन्धी सिद्धान्त की जैनदर्शन के देश-काल से तुलना कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. काण्ट के देश और काल की अवधारणा को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।
2. जैनदर्शन के आकाश और काल द्रव्य की व्याख्या कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'रिक्त देश असंभव है' किसका कथन है?
2. 'द्रव्यों से परे भी आकाश है', किसकी मान्यता है?
3. 'देश-काल का निरपेक्ष अस्तित्व है' यह कि पाश्चात्य विचारक ने स्वीकार किया है।
4. न्यूटन ने देश-काल की व्याख्या अपने किस ग्रन्थ में किया है?
5. 'देश-काल' विषयनिष्ठ है' किसने स्वीकार किया है?
6. देश-काल को दो मानसिक द्वार के रूप में किसने स्वीकार किया है।
7. कालाणु की मान्यता किसकी है?
8. देश-काल को सापेक्ष किसने माना है?
9. अभौतिक ईथर को किसने स्वीकार किया है?
10. भौतिक ईथर को किसने माना है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. अरस्तू 2. जैनदर्शन 3. न्यूटन 4. प्रिन्सिपिया
5. लाइबनीज 6. काण्ट 7. दिगम्बर जैनदर्शन 8. आइन्स्टीन
9. एडिंग्टन 10. न्यूटन।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–6 : पाश्चात्य दर्शन में आत्मा (डेकार्ट, ह्यूम, काण्ट) और जैनदर्शन में आत्मा

संरचना

6.0 प्रस्तावना

6.1 उद्देश्य

6.2 डेकार्ट के दर्शन में आत्मतत्व

6.3 डेकार्ट एवं जैन दर्शन में तुलना

6.3.1 समानता

6.3.2 असमानता

6.4 डेविड ह्यूम का आत्मवाद

6.5 काण्ट का आत्मवाद

6.6 तुलना

6.6.1 समानता

6.6.2 असमानता

6.7 सारांश

6.8 अभ्यास प्रश्नावली

6.0 प्रस्तावना

पाश्चात्य दर्शन के आदियुग की कहानी भौतिक तत्त्वों के चिन्तन–मंथन की कहानी रही है। थेलीज से लेकर प्रोटागोरस एवं जार्जियस तक प्राय: सभी दार्शनिकों का बहिर्मुखी चिन्तन रहा है। इस दौरान एनेक्जेगोरस ने चिन्तन को अन्तर्मुखी भले बनाया हो परन्तु आत्मतत्त्व का समुचित विवेचन पाश्चात्य दर्शन में सर्वप्रथम प्लेटो के दार्शनिक विचारों में देखा जाता है। प्लेटो के अनुसार आत्मा जीवन–शक्ति है। प्रजातन्त्र (439) में उन्होंने स्पष्टरूप से कहा है कि आत्मा जीवधारियों के जीवन का वह अंश है जिसका मृत्यु के बाद भी विनाश नहीं होता। प्लेटो ने अपने ग्रन्थ फेइड्रास में तीन प्रकार की आत्माओं का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—बौद्धिक, कुलीन एवं अकुलीन आत्मा। उसके अनुसार पेड़–पौधों में अकुलीन आत्मा, पशुओं में अकुलीन एवं कुलीन आत्मा तथा मनुष्यों में तीनों आत्माएं पायी जाती हैं। इसी प्रकार पाश्चात्य दार्शनिक अरस्तू ने भी क्षमता के आधार पर आत्मा के तीन रूप स्वीकार किये हैं—

1. पोषक आत्मा (Nutritive Soul) 2. संवेदनआत्मा (Sensitive Soul) 3. बौद्धिक आत्मा (Rational Soul)

अरस्तु ने भी पेड़–पौधों में पोषक आत्मा और पशुओं में पोषक एवं संवेदन आत्मा तथा मनुष्यों में तीनों आत्माओं को स्वीकार किया है किन्तु पाश्चात्य के आधुनिक दर्शन का जनक फ्रान्स का महान् दार्शनिक रेने डेकार्ट ने आत्मा को केवल बौद्धिक आत्मा के रूप में स्वीकार कर केवल मनुष्यों में ही आत्मा को स्वीकार किया है।

6.1 उद्देश्य

यों तो अधिकांश पाश्चात्य दार्शनिकों ने आत्मतत्त्व के बारे में चिंतन–मंथन किया है परन्तु यहां पाश्चात्य आधुनिक युग के तीन महान् दार्शनिक रेने डेकार्ट (1596 ई. से 1650 ई.), डेविड ह्यूम (1711 ई. से 1776 ई.) और इमेन्युअल काण्ट (1724 ई. से 1804 ई.) के आत्म सम्बन्धी विचारों का जैन दर्शन के आत्मतत्त्व से तुलना किया जाना अभीष्ट है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6.2 डेकार्ट के दर्शन में आत्मतत्त्व

डेकार्ट को आधुनिक दर्शन का ही नहीं वरन् 'आधुनिक दार्शनिक प्रणाली का पिता' (Father of Modern Method) मानते हैं क्योंकि डेकार्ट ने सर्वप्रथम दर्शन के क्षेत्र में वैज्ञानिक प्रणाली को जन्म दिया। बट्रेन्ड रसेल ने अपनी पुस्तक History of Western Philosophy में इस सच्चाई को उजागर करते हुए कहा है—"Rene Descartes usually considered the founder of modern philosophy and I think rightly. He is the first man with philosophic capacity whose outlook is profoundly affected by the new physics and astronomy."

डेकार्ट ने प्रत्येक क्षेत्र में स्वतन्त्र निर्णय को महत्त्व दिया है। उसके अनुसार हम दर्शन के किसी सम्प्रत्यय पर विचार करें तो हमें मूल (जड़) से ही चिन्तन करना होगा। किसी के चिन्तन को आधार मानकर आगे सोचना मूर्खता है। वह स्पष्ट शब्दों में कहता है—

"We shall never become philosophers even though we shall read all the reasonings of Plato and Aristotle and if we can not form a sound judgement upon any proposition." अर्थात् प्लेटो और अरस्तू को पढ़कर हम दार्शनिक नहीं बन सकते, यदि हम स्वतंत्र निर्णय न कर सके। इसीलिए डेकार्ट ने आत्मा के संदर्भ में समस्त प्रकार के पूर्व चिन्तनों की उपेक्षा करके नवीनतम ढंग से आत्मा के बारे में सोचना शुरु किया।

6.2.1 सन्देह से आत्मा की खोज

डेकार्ट की विशेषता यह रही कि उन्होंने बिना परीक्षा के किसी भी तथ्य को स्वीकार नहीं किया। परीक्षा के लिए एवं सत्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने 'संदेह की पद्धति' को अपनाया। उनके अनुसार सत्य साध्य है और संदेह साधन। डेकार्ट के पूर्व पाइरोसेक्सटस आदि कई सन्देहवादी हो चुके थे, परन्तु संदेह को दार्शनिक पद्धति के रूप में स्वीकार करने का श्रेय एकमात्र डेकार्ट को है। डेकार्ट की तरह डेविड ह्यूम ने भी दर्शन का प्रारम्भ संदेह से स्वीकार किया है परन्तु दोनों में स्पष्ट भेद यह है कि जहां डेकार्ट ने संदेह को मात्र साधन के रूप में स्वीकार किया वहीं ह्यूम ने संदेह को साध्य और साधन दोनों स्वीकार किया है। इसी कारण डेकार्ट संदेह से प्रारम्भ कर आत्मा जैसे सत्य तक पहुंचता है तो ह्यूम संदेह से प्रारम्भ कर संदेह के निष्कर्ष पर ही पहुंचता है। अत: संदेह को साधन के रूप में स्वीकार कर डेकार्ट संदेहवादी नहीं है परन्तु ह्यूम संदेह को साधन, साध्य दोनों रूप में स्वीकार कर संदेहवादी दार्शनिक के रूप में प्रसिद्ध हुआ है। इसीलिए सत्य कहा गया है "The doubt in Descartes is the starting point of his philosophy not its conclusion."

मेडीटेशन भाग दो में डेकार्ट ने इस संदेह से सत्य रूप आत्मा की खोज का उल्लेख इस प्रकार किया है। संदेह की क्रिया से संदेह करने वाले की तर्ज पर चिन्तन की क्रिया से चिन्तन करने वाले के रूप में उसने आत्म तत्त्व को स्वीकार किया। डिसकोर्स आन मेथड भाग चार में इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए उसने कहा है कि मैंने सावधानी से परीक्षण किया कि मैं क्या हूँ? मैंने देखा कि मैं सोच सकता हूँ कि मेरे देह नहीं था, कोई जगत् या स्थान नहीं था जहां मैं हो सकता। इतना होते हुए भी मैंने देखा कि मैं यह नहीं सोच सकता था कि मैं नहीं था। इसके ठीक विपरीत अन्य वस्तुओं की सत्यता पर संशय करने का मैंने जो विचार किया, उसी से स्पष्टत: और निश्चित रूप से यह निष्कर्ष निकला कि मैं था। यदि मैं क्षण भर के लिए सोचना बंद कर देता तो मुझे यह विश्वास करने का आधार तक न मिलता कि उस क्षण 'मैं' का अस्तित्व भी हो सकता था, भले ही जिन वस्तुओं की मैंने कल्पना की थी वे सत् होती। इससे मुझे ज्ञात हुआ कि मैं एक द्रव्य या जिसका सम्पूर्ण स्वभाव सोचना है और जिसके अस्तित्व के लिए किसी स्थान की आवश्यकता नहीं है या जो किसी भौतिक वस्तु पर निर्भर नहीं है। अत: यह मैं अर्थात् आत्मा जिसके द्वारा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मैं जो हूँ, देह से पूर्णतया भिन्न है और इसको जानना देह को जानने से अधिक आसान है। यह जो है वह कभी नष्ट नहीं होगा। देह के नष्ट होने पर भी इसका अस्तित्व है।

मेडीटेशन भाग दो में वह स्पष्ट रूप से कहता है कि सावधानी पूर्वक सभी वस्तुओं का परीक्षण करके अन्ततोगत्वा मुझे अवश्य निष्कर्ष निकालना है और प्रतिपादन करना है कि मैं हूँ, मेरा अस्तित्व है। यह वाक्य जब-जब मैं इसे बोलता हूँ या अपने मन में सोचता हूँ तब-तब अवश्य सत् है। इस प्रकार संदेह की विधि से 'मैं सोचता हूँ, इसलिए मै हूँ' (Cogito Ergo Sum) का निष्कर्ष डेकार्ट दर्शन का एक महावाक्य बन गया जो आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है। डेकार्ट दर्शन की प्रतिक्रिया करते हुए बेनेडिक्ट स्पिनोजा (1632 ई. से 1677 ई.) ने 'काजिटो आरगो सम' को एक साधारण वाक्य मानते हुए एक समानार्थक वाक्य दिया—'यह आत्मा चेतन है।' इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा चेतन है।

6.2.2 आत्म अस्तित्व के प्रमाण

यद्यपि डेकार्ट आत्मा के अस्तित्व को स्वत: सिद्ध मानता है फिर भी उसके ग्रन्थों के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि उसने आत्मा के अस्तित्व के लिए निम्नलिखित दो प्रमाण दिये हैं—

6.2.2.1 प्रातिभ प्रमाण

आत्मा स्वयं प्रकाश और स्वयंसिद्ध है। उसका ज्ञान प्रातिभ है। प्रत्येक को अपने प्रातिभज्ञान से पता चलता है कि मैं हूँ। यह ज्ञान स्पष्ट और विवेकपूर्ण है। यह अपनी प्रामाणिकता स्वयं प्रस्तुत करता है। इसकी प्रामाणिकता के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है। यह तो स्वत: प्रमाणित एवं स्वत: सिद्ध है। डेकार्ट के अनुसार—"Cogito Ergo sum is not a syllogism. It is simple movement of thought. A direct intution 'I think' or 'I doubt' immediately implies "I am."

6.2.2.2 अखण्डनीयता

आत्मा का अस्तित्व अखण्डनीय है क्योंकि उसका खण्डन बदतोव्याघात है। जैसे कोई वक्ता बोलते समय यह नहीं कह सकता कि वह मौन व्रत लिए हुए है क्योंकि बोलना और मौन की बात करना बदतोव्याघात है वैसे कोई पुरुष नहीं कह सकता कि मैं नहीं हूँ, क्योंकि उसका यह कथन व्याघातक है। यदि वह अपने को 'नहीं हूँ', ऐसा मानता है तो फिर वह यह कैसे कह सकता है? वह अपने को 'नहीं हूँ' तभी कह सकता है जबकि वह स्वयं हो। 'य: एव हि निराकर्त्ता तदेव तस्य स्वरूपम्' अर्थात् निराकरण में ही आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है।

इस प्रकार काण्ट आत्मा के अस्तित्व को निश्चित रूप से सिद्ध मानते हुए कहता है "I find here that thought is an attribute that belongs to me, it alone can not be separated from me. I am, I exist, that is certain." अर्थात् मेरा अस्तित्व निश्चित है।

6.2.3 आत्मा का स्वरूप

डेकार्ट के अनुसार यह आत्मा अथवा विचारशील द्रव्य, स्वतंत्र (free), चेतन (Conscious), अभौतिक (Immaterial), प्रयोजनात्मक (Teleological or purposive), सरल (simple), अविभाज्य (Indivisible) तथा शाश्वत (Eternal) है। जानना, इच्छा करना तथा अनुभूति आदि विभिन्न मानसिक क्रियाएं आत्मा की भिन्न-भिन्न क्रियाएं हैं। आत्मा देश और काल से परे अप्रसारित है। वह अद्वितीय, गतिशील और शाश्वत तत्त्व है। चिन्तन करना आत्मा का धर्म है। चिन्तन के अनेक स्वरूप हैं, जैसे सन्देह करना, समझना, स्वीकार करना, अस्वीकार करना, इच्छा करना, कल्पना करना आदि। डिसकोर्स आन मेथड्स में उल्लिखित है—"It is a thing that doubts, understands, affirms, denies, wills, refuses imagines and perceives, ... all other properties belong to my nature."

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस प्रकार डेकार्ट ने आत्मा को एक द्रव्य माना है जिसका अनिवार्य गुण चिन्तन करना है। डेकार्ट की आत्मा न तो अगोचर (Transcendent) तत्त्व है और न गोचर जीव। वह वस्तु सत् है किन्तु फिक्टे की अगोचर आत्मा की भांति वह ज्ञेय विषयों से परे नहीं है। वह ज्ञेय के माध्यम से विदित है परन्तु गोचर जीव नहीं है। मैं जाता हूँ, मैं बोलता हूँ, मैं खाता हूँ, मैं सोता हूँ आदि में जो 'मैं' है वह डेकार्ट की आत्मा नहीं है। डेकार्ट की आत्मा मै सोचता हूं, मै जानता हूं, मै संशय करता हूं, मैं कल्पना करता हूँ, मैं क्रोध, मोह आदि करता हूँ और मैं इच्छा करता हूँ के 'मैं' का अर्थ देती है।

डेकार्ट एक बुद्धिवादी दार्शनिक था। उसने समस्त ज्ञान का आधार एकमात्र बुद्धि को स्वीकार किया था। इन्द्रियानुभव या इन्द्रिय संवेदना से किसी प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता। इसी कारण से उसने आत्मा को भी बुद्धि या विवेक तक ही सीमित कर दिया था। इसलिए उसके दर्शन में आत्मा बौद्धिक आत्मा के स्तर पर ही सीमित रह गयी। यद्यपि अरस्तू ने भी बौद्धिक आत्मा (Rational Soul) को स्वीकार किया था किन्तु उसने बौद्धिक आत्मा के साथ-साथ पोषक आत्मा एवं संवेदन आत्मा को भी स्वीकार किया था किन्तु डेकार्ट केवल बौद्धिक आत्मा को स्वीकार कर पशुओं आदि को आत्महीन बना दिया।

6.2.4 आत्मा का आधार

चूंकि डेकार्ट द्वैतवादी है, इसलिए वह आत्मा के साथ-साथ शरीर के अस्तित्व को भी स्वीकार करता है। जैसा कि द्वैतवाद में यह होता है कि मान्य दोनों तत्त्व एक-दूसरे के विरोधी गुणों वाले होते हैं अत: डेकार्ट के भी दो तत्त्व आत्मा (चित्त) और शरीर (अचित्त) विरोधी गुण वाले हैं। आत्मा का गुण चैतन्य है और शरीर का गुण विस्तार है। विरोधी गुणों के कारण दोनों कभी एक नहीं हो सकते। डेकार्ट के इस दार्शनिक चिन्तन के संदर्भ में यह उल्लेख भी है कि—

"The mind or soul of man is entirely different from body." अर्थात् मनुष्य का मनस् अथवा आत्मा शरीर से पूर्णतया भिन्न है। उसके अनुसार जो कुछ शरीर है वह आत्मा नहीं है और जो आत्मा है वह शरीर नहीं है।

अब प्रश्न यह उठता है कि आत्मा के साथ-साथ शरीर भी सत्य है। डेकार्ट के दर्शन में दोनों ही द्रव्य हैं। ये दोनों आपस में विरोधी हैं तो फिर दोनों में सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकता है? बिना सम्बन्ध के डेकार्ट के दर्शन की गाड़ी आगे नहीं बढ़ सकती अत: दोनों में सम्बन्ध स्वीकार करना डेकार्ट की मजबूरी है और यह सम्बन्ध डेकार्ट क्रिया-प्रतिक्रियावाद के आधार पर स्वीकार करता है। उसके अनुसार शरीर में आत्मा का प्रमुख आधार पीनियल ग्लैण्ड (Pineal gland) है। डेकार्ट के शब्दों में—"Let us then conceive here that the soul has its principal seat in the little gland which exists in the middle of the brain, from where it radiates forth through all the remainder of the body." अर्थात् तब हमें यहां यह सोचना चाहिए कि आत्मा उस छोटी ग्रन्थि में मुख्य स्थिति रखती है, जो कि मस्तिष्क के मध्य में विद्यमान है और यहीं से वह शेष शरीर में प्रकाशित होती है।

इस प्रकार डेकार्ट ने पीनियल ग्रन्थि में आत्मा का निवास स्थान मानकर शरीर और आत्मा के सम्बन्ध के रूप में क्रिया-प्रतिक्रियावाद को स्वीकार किया है। उसके अनुसार इस अन्त:क्रिया से पारस्परिक आदान-प्रदान होता है। हमारा शरीर चलता है तो चलने की अनुभूति आत्मा को होती है और आत्मा में प्रेम उत्पन्न होता है तो शरीर को भी इसकी अनुभूति होती है। इस तरह क्रिया-प्रतिक्रियावाद के सम्बन्ध के आधार पर दो विरोधी द्रव्यों में आपसी सम्बन्ध स्थापित होता है।

6.2.5 समीक्षा

आत्मा के संदर्भ में डेकार्ट ने यद्यपि सांगोपांग विवेचन किया है फिर भी डेकार्ट के आत्मतत्त्व के संदर्भ में अनेक अनुत्तरित प्रश्न रह जाते हैं, जो इस प्रकार है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. एक तरफ डेकार्ट आत्मा को अभौतिक मानता है और दूसरी तरफ पुरातत् नाड़ी (पीनियल ग्लैण्ड) में उसका निवास स्थान स्वीकार करता है, जो ठीक नहीं है। यदि आत्मा विस्तारगुण से रहित अभौतिक है तो यह पीनियल ग्लैण्ड में कैसे रह सकता है और पीनियल ग्लैण्ड में रहता है तो अभौतिक नहीं हो सकता।
2. डेकार्ट ने आत्मा को एक द्रव्य के रूप में स्वीकार किया है किन्तु द्रव्य के रूप में वह आत्मा को सिद्ध नहीं कर पाता। उसके अनुसार चिन्तन करने के माध्यम से चिन्तन करने वाले का अस्तित्व है, यह तो सिद्ध होता है परन्तु इस आधार पर यह सिद्ध नहीं होता कि आत्मा एक द्रव्य है।
3. डेविड ह्यूम के अनुसार डेकार्ट के आत्मतत्त्व को जानने का मैंने भरपूर प्रयास किया परन्तु मुझे अनुभवों के सातत्य के अतिरिक्त कोई नित्य आत्मा नाम का द्रव्य नहीं मिला। डेकार्ट की यह भूल रही कि उसने भ्रमवश अनुभवों के सातत्य को ही आत्मा मान लिया। इसीलिए उसके आत्मतत्त्व के संदर्भ में अनेक प्रश्नचिह्न लगाये जाते हैं।
4. डेकार्ट के आत्मतत्त्व पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए काण्ट ने कहा है कि आत्मा जैसे ज्ञाता तत्त्व को ज्ञेय बनाकर डेकार्ट ने दर्शन का सबसे ज्यादा अहित किया है। ज्ञाता कभी ज्ञेय नहीं हो सकता। जो जानने का विषय नहीं है अपितु सबको जानता है उसे ज्ञान का विषय कैसे बनाया जा सकता है।
5. आत्मा और शरीर के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाया जाता है कि शरीर पर आघात पहुंचने से चैतन्य लुप्त क्यों हो जाता है और चैतन्य के चिन्ताग्रस्त हो जाने से शरीर दुर्बल क्यों होता है। ऐसे प्रश्नों का डेकार्ट के पास कोई उत्तर नहीं है, सिवाय यह कहने के कि ईश्वर की यही इच्छा है कि एक ही क्रिया से दूसरे में प्रतिक्रिया हो।

इतना होने पर भी एक व्यवस्थित पद्धति के माध्यम से आत्मतत्त्व को स्वीकार करना और उसकी प्रयोजनमूलक व्याख्या करना डेकार्ट के आत्मतत्त्व का माहात्म्य है।

6.3 डेकार्ट और जैनदर्शन के आत्मतत्त्व की तुलना

षड्द्रव्यों एवं सप्त या नौ तत्त्वों में जीव की महिमा का गुणगान जैनदर्शन में खूब हुआ है। पंचास्तिकाय में आत्मा के संदर्भ में कहा गया है कि जो तत्त्व चेतन स्वरूप है, ज्ञानवान है, सभी को जानता, देखता है और सुख-दु:ख का अनुभव करता है, उसे जीव कहते हैं। स्वामी कार्त्तिकेय ने कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में जीवतत्त्व के महत्त्व को बतलाते हुए कहा है कि जीव ही उत्तम गुणों का धाम है, सब द्रव्यों में उत्तम द्रव्य है और सब तत्त्वों में परम तत्त्व है। जैनदर्शन की इस प्रकार की आत्मा और डेकार्ट दर्शन की आत्मा में अनेक समानताएं और असमानताएं हैं, जो इस प्रकार हैं—

6.3.1 समानता

1. दोनों ही दर्शनों में आत्मा के विरोधी जड़ द्रव्यों को स्वीकार किया गया है। जैनदर्शन में आत्मा को जीव कहा गया है और जीव के विपरीत अजीव को भी स्वीकार किया गया है। तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक में "जीवाजीवौ हि धर्मिणो" कहकर जीव और अजीव को ही मूलतत्त्व स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार डेकार्ट ने भी चित्त (आत्मा) और अचित्त (शरीर) को स्वीकार किया है। यहां चित्त का गुण चैतन्य और अचित् का गुण विस्तार माना गया है। जैनदर्शन में भी जीव को चैतन्य स्वरूप और पुद्गल को विस्तार गुण से युक्त माना गया है।
2. डेकार्ट ने आत्मा को अभौतिक माना है। उसके अनुसार अचित्त तत्त्व भौतिक है और आत्मा अभौतिक है। डेकार्ट ने इन दो विरोधी द्रव्यों में सम्बन्ध स्थापित किये हैं। इस सम्बन्ध के संदर्भ में यह प्रश्नचिह्न लगाया जाता है कि आत्मा और शरीर का सम्बन्ध भौतिक हो या अभौतिक? यदि भौतिक सम्बन्ध है तो अभौतिक आत्मा पर लागू नहीं होता और अभौतिक सम्बन्ध हो तो भौतिक शरीर पर लागू नहीं होता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैनदर्शन में भी शुद्ध आत्मा को अभौतिक माना है और पुद्गल को भौतिक माना है। लेकिन यहां डेकार्ट के सम्बन्ध की समस्या नहीं है क्योंकि जिस आत्मा का भौतिक पुद्गल से सम्बन्ध होता है वह आत्मा शुद्ध अभौतिक न होकर भौतिक गुणों से समाक्रान्त है।

3. जैनदर्शन में आत्मा को कारण-कार्य की शृंखला से परे माना गया है। कारण-कार्य शृंखला में प्राय: वे तत्त्व पाये जाते हैं जिनकी उत्पत्ति होती है। आत्मा नित्य, शाश्वत, विभु है। वह उत्पत्ति, विनाश से परे है इसलिए कारण-कार्य की शृंखला से मुक्त है। यहां आत्मा नित्य है किन्तु कूटस्थ नित्य नहीं है। डेकार्ट ने भी आत्मा को नित्य, शाश्वत, विभु मानकर कारण-कार्य की शृंखला से इसे मुक्त माना है। डेकार्ट दर्शन में भी आत्मा उत्पत्ति, विनाश से परे नित्य है।
4. डेकार्ट ने संशय के द्वारा आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया है। डेकार्ट ने स्पष्ट कहा है कि संदेह सत्य तक पहुंचने का महत्त्वपूर्ण माध्यम है। संशयेन् विजानाति संशयात्मा विनश्यति आर्ष वाक्य डेकार्ट के आत्मास्तित्व का आधार कहा जा सकता है। सचमुच संशय को साधन रूप में अपनाकर आत्मा सम्बन्धी संशय को दूर किया जा सकता है। जैनदर्शन में भी संशय द्वारा आत्मा की सिद्धि का संकेत मिलता है। अकलंक ने तत्त्वार्थवार्तिक में कहा है कि 'आत्मा है' इस प्रकार का होने वाला ज्ञान यदि संशय रूप है तो आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है, क्योंकि अवस्तु का संशय नहीं होता है। जिसका अस्तित्व नहीं है, उसके विषय में संशय होने का प्रश्न ही नहीं होता है। अनात्मवादियों को आत्मा के विषय में संशय होता है, इसलिए भी सिद्ध है कि आत्मा का अस्तित्व है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने भी विशेषावश्यक भाष्य में संशय द्वारा आत्मा की सत्ता सिद्ध की है। उनके अनुसार 'जीव है या नहीं' यह संशय ज्ञान है और ज्ञान ही जीव है, अत: संशयज्ञान से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। उन्होंने इस विषय में दूसरा तर्क यह दिया है कि संशय करने वाला कोई चेतन पदार्थ ही हो सकता है इस प्रकार संशय करने वाले के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है।
5. डेकार्ट ने आत्मा को 'ज्ञेय' स्वीकार किया है। मैं सोचता हूँ इसलिए मै हूँ—डेकार्ट दर्शन का आत्मा सम्बन्धी मूल वाक्य सोचने के आधार पर आत्मा के ज्ञेयत्व को सिद्ध करता है। अर्थात् आत्मा का अस्तित्व है, इसका ज्ञान हमें चिन्तन की क्रिया से है। जैनदर्शन में भी आत्मा को ज्ञेय रूप माना गया है। जैसे चैतन्य क्रिया से डेकार्ट के दर्शन में आत्मा का ज्ञेयत्व सिद्ध है वैसे ही मल्लिसेन ने स्याद्वादमंजरी (कारिका 17) में स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार काटने रूप क्रिया का कोई कर्त्ता अवश्य होता है उसी प्रकार देखने, जानने रूप क्रिया का भी कोई कर्त्ता होना चाहिए और जो इनका कर्त्ता है वही आत्मा है। अत: यहां भी जानने रूप क्रिया के कर्त्ता के रूप में आत्मा का ज्ञेयत्व सिद्ध है।

6.3.2 असमानता

उपर्युक्त समानता के बावजूद दोनों के आत्मतत्त्व में अनेक असमानताएं हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. डेकार्ट ने आत्मा को अपरिणामी एवं अपरिवर्तनशील माना है। आत्मा विवेकी है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। किन्तु जैनदर्शन में आत्मा अन्य द्रव्यों की तरह परिणामी एवं नित्य दोनों माना गया है। वह भी उत्पाद-व्यय एवं ध्रौव्य स्वभाव वाला है। पंचास्तिकाय के अनुसार द्रव्य की अपेक्षा से आत्म-द्रव्य नित्य एवं अपरिणामी तथा पर्याय की अपेक्षा से अनित्य तथा परिणामी है। हरिवंशपुराण (3/108) में कहा भी है—**"द्रव्यपर्यायरूपत्वान्नित्यानित्योभयात्मका:"** अर्थात् आत्मा द्रव्य की दृष्टि से नित्य एवं पर्याय की दृष्टि से अनित्य है। बाल्यावस्था से युवावस्था और युवावस्था से जरावस्था प्राप्त करना तथा कर्मों के अनुसार मनुष्य गति, नरक गति, तिर्यंच गति और देवगति को प्राप्त करना आत्मा का परिणाम कहलाता है। यदि आत्मा को परिणामी न माना जाए तो बन्धन तथा मोक्ष असंभव हो जायेंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा गया है—'जीव पुण्य-पापादि रूप से परिणत होता रहता है। यद्यपि जीव अनादि निधन है तो भी नवीन-नवीन पर्यायों में परिणत होता रहता है।'

2. डेकार्ट ने आत्मा के ज्ञेयत्व धर्म को स्वीकार किया है किन्तु उसे ज्ञातारूप में किसी भी हालत में स्वीकार नहीं किया है किन्तु जैनदर्शन में आत्मा ज्ञेय और ज्ञाता दोनों रूप हैं। आत्मा सर्वज्ञ रूप में सब कुछ जानने वाला है, इसलिए ज्ञाता रूप है और आत्मा विभिन्न माध्यमों से जाना जाता है अतः ज्ञेय भी है।
3. जहां डेकार्ट ने आत्मा का निवास स्थान पीनियल ग्लैण्ड स्वीकार किया है, वहीं जैनदर्शन में आत्मा को शरीर परिमाण स्वीकार किया गया है। पंचास्तिकायतात्पर्यवृत्ति में उल्लेख है—सर्वत्र देहमध्ये जीवोऽस्ति न चैकदेशे अर्थात् आत्मा को अपने संचित कर्म के अनुसार जितना छोटा-बड़ा शरीर मिलता है उस पूरे शरीर में व्याप्त होकर रहता है। शरीर का कोई भी अंश ऐसा नहीं होता जहां आत्मा न हो। उदाहरणार्थ जब पद्मराग रत्न को छोटे बर्तन में रखे हुए दूध में डाला जाता है तो वह उस सम्पूर्ण दूध को प्रकाशित करता है और जब उसी रत्न को बड़े बर्तन में रखे हुए दूध में डाला जाता है तो वह उस बड़े बर्तन के दूध को प्रकाशित करता है। तर्कभाषा में कहा गया है कि शरीर के किसी भाग में होने वाली वेदना की अनुभूति आत्मा को होती है अतः आत्मा देह परिमाण है।
4. जैनदर्शन में आत्मा को अनंत ज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य एवं अनंत आनंद रूप माना गया है, वही डेकार्ट के दर्शन में आत्मा मात्र बौद्धिक है। इससे ऐसा लगता है कि डेकार्ट के दर्शन की आत्मा जैनदर्शन की आत्मा से काफी स्थूलरूप है।
5. जैनदर्शन में आत्मा को बहुत व्यापक स्वरूप दिया गया है। यहां पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में भी जीव स्वीकार करते हुए इन्हें एकेन्द्रिय जीव के अन्तर्गत रखा गया है। इसके अतिरिक्त यहां सीप, शंख में द्वीन्द्रिय, खटमल, पिपीलिका में त्रीन्द्रिय, मच्छर, मधुमक्खी में चतुरीन्द्रिय तथा पशु, मनुष्यादि पंचेन्द्रिय जीव के रूप में प्रसिद्ध हैं। जबकि डेकार्ट ने मात्र मनुष्य में ही आत्मा को स्वीकार किया है। यहां पशुओं में आत्मा को स्वीकार नहीं किया गया है।
6. डेकार्ट ने आत्मा को पूर्णतया अप्रसारित माना है। इसमें विस्तारगुण की उपेक्षा की है। उसने विस्तार गुण को केवल अचित्त द्रव्य से सम्बन्धित किया है जबकि जैनदर्शन में पुद्गल का गुण संकुचन, विस्तार है ही किन्तु आत्मा का भी गुण विस्तार है। जैनदर्शन का देह परिमाणत्व जीव विस्तार गुण की अपेक्षा से ही है। अतः यह कहा जा सकता है कि जहां डेकार्ट के दर्शन में विस्तार मात्र अचित्त का गुण है वहां जैनदर्शन में विस्तार आत्मा का भी गुण है।
7. डेकार्ट के दर्शन में आत्मा ईश्वर (परमात्मा) रूप कभी नहीं हो सकता। यहां आत्मा अलग और ईश्वर (परमात्मा) पृथक् है। किन्तु जैनदर्शन में प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकता है। समाधि शतक, 31 में कहा गया है—

यः परमात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितः ॥

अर्थात् जो परमात्मा है, वही मैं हूँ तथा जो मैं हूँ वही परमात्मा है। इसलिए मैं ही मेरे द्वारा उपासना किये जाने योग्य है, दूसरा कोई उपास्य नहीं है। नियमसार में कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है कि समस्त संसारी जीव सिद्ध स्वभाव वाले होते हैं—"सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिद्धी जीवा।" इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जैनदर्शन में आत्मा को परमात्मा कहने का तात्पर्य यही है कि एक वस्तु की दो अवस्थाएं हैं। परमात्म प्रकाश की प्रस्तावना, हिन्दी अनुवाद, पृ. 103 में कहा गया है कि जैनधर्म के अनुसार आत्मा और परमात्मा एक ही है क्योंकि एक ही तत्त्व की दो अवस्थाएं हैं और इस तरह प्रत्येक आत्मा परमात्मा है जबकि डेकार्ट के दर्शन में आत्मा और ईश्वर (परमात्मा) पूर्णतया भिन्न-भिन्न हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

8. आत्मा और शरीर का सम्बन्ध डेकार्ट के दर्शन में ईश्वर की इच्छा से होता है। उसके अनुसार ईश्वर की इच्छा से ही एक के क्रिया की दूसरे में प्रतिक्रिया होती है जबकि जैनदर्शन में आत्मा और शरीर के सम्बन्ध का आधार ईश्वर की इच्छा नहीं अपितु हर व्यक्ति का अपने द्वारा किया गया कर्मबन्ध है। गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में कहा गया है कि यद्यपि आत्मा और कर्म का अपना-अपना स्वतंत्र स्वरूप एवं अस्तित्व है, तथापि आत्मा और कर्म का परस्पर में सम्बन्ध है। इनका यह सम्बन्ध धन और धनी जैसा तात्कालिक नहीं है, बल्कि सोना और किट्टकालिमा की तरह अनादिकालीन है।

इस प्रकार अनेक समानताओं एवं असमानताओं से यह स्पष्ट होता है कि डेकार्ट का आत्मवाद जैन आत्मवाद की तुलना में काफी स्थूल है।

6.4 डेविड ह्यूम का आत्मवाद

स्काटलैण्ड में जन्म लेकर डेविड ह्यूम ने फ्रान्स के लाफ्लेशकालेज में ही अपने अध्ययन को सम्पन्न किया। वहीं पर उसने 'मानव स्वभाव पर एक प्रबन्ध' (A Treatise on Human Nature) नामक एक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ का अच्छा स्वागत नहीं हुआ। ह्यूम ने स्वयं ही लिखा है कि 'यह प्रेस से मरा निकला।' इस ग्रन्थ में ह्यूम ने संशयवाद और आत्मा के खण्डन को प्रस्तावित किया था। लाफ्लेश कॉलेज में ही पढ़कर डेकार्ट ने अपने आधुनिक दर्शन के सपने रचे-बुने थे। उसने संदेह की पद्धति को अपनाकर 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ' के द्वारा आत्मा जैसे सत्य को प्रतिष्ठित किया था। उसी लाफ्लेश कॉलेज में ह्यूम ने अध्ययन कर डेकार्ट की तरह आरम्भिक संशयवाद को नहीं अपितु आत्यन्तिक संशयवाद को मानता है। वह डेकार्ट के आत्मवाद का भी खण्डन करता है। डेकार्ट ने कहा कि मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ। ह्यूम ने कहा कि मैं सोचता हूँ इसलिए मैं नहीं हो सकता।

बुद्धिवादियों के प्रतिक्रिया स्वरूप जिस अनुभववाद की स्थापना हुई, उसका जन्मदाता जान लॉक था। लॉक ने अनुभववाद को जन्म दिया, विशपबर्कले ने उसे आगे बढ़ाया और डेविड ह्यूम ने उस अनुभववाद को चरमोत्कर्ष पर पहुंचा दिया। लॉक और बर्कले की तरह ह्यूम ने भी ज्ञान का एकमात्र स्रोत अनुभव को ही स्वीकार किया है। परन्तु ह्यूम का अनुभववाद लॉक और बर्कले के अनुभववाद से भिन्न है। लॉक ने सहजात प्रत्ययों (Innates Ideas) का खण्डन कर अनुभव को ही ज्ञान का एकमात्र आधार मानते हुए जगत्, जीव और ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध किया। बर्कले लॉक की तरह ज्ञान का कारण अनुभव को तो मानता है परन्तु उसके द्वारा निष्कर्षित जड़ तत्त्व के अस्तित्व को अस्वीकार कर वह जीव और ईश्वर के अस्तित्व को ही स्वीकार करता है। बर्कले का मानना है कि यदि हमारा ज्ञान इन्द्रियानुभव तक ही सीमित है तो इन्द्रियातीत जड़ तत्त्व को कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता। 'अस्तित्व तो अनुभवमूलक है' लॉक के इस मत को स्वीकार करते हुए डेविड ह्यूम ने कहा कि इस आधार पर जड़ तत्त्व का ही नहीं अपितु जड़ तत्त्व, जीव तत्त्व एवं ईश्वर तत्त्व किसी की भी सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती। इस कारण ह्यूम को अज्ञेयवादी भी कहा जाता है क्योंकि ह्यूम के अनुसार आत्मा, परमात्मा, जगत् आदि सभी तत्त्व अज्ञेय हैं।

6.4.1 नित्य आत्मा का अनास्तित्व

ह्यूम किसी ऐसी वस्तु को नहीं मानता है जिसका कोई प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। वह कहता है **"कुछ दार्शनिक हैं जो कल्पना करते हैं कि हम प्रतिक्षण उस तत्त्व को जानते हैं जिसे हम आत्मा कहते हैं। वे इसकी पूर्ण एकता और सातत्य के बारे में निश्चित हैं और इसके लिए किसी प्रमाण या साक्ष्य की आवश्यकता नहीं समझते, किन्तु दुर्भाग्य से ये सब विधायक कथन उस अनुभव के विपरीत है जो उनके लिए दिया जाता है। इस ढंग से हमारे पास आत्मा का कोई प्रत्यय नहीं है।"** अगर है तो प्रश्न यह है कि किस संस्कार से यह प्रत्यय निकल सकता है। यदि आत्मा का प्रत्यय स्पष्ट और ज्ञेय है तो इसका आधार कोई संस्कार होना चाहिए। ह्यूम मानवबुद्धि सम्बन्धी निबन्ध में लिखते हैं कि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मैं उन दार्शनिकों से जो आत्मा के ज्ञान की बात करते हैं। पूछना चाहता हूँ कि आत्मा द्रव्य का ज्ञान इन्द्रियानुभव संस्कार से होता है या मानसिक चिन्तन संस्कार से? यदि हम इसे इन्द्रियों के द्वारा जानते हैं तो मैं जानना चाहूंगा कि किस या किन इन्द्रियों से तथा किस प्रकार? यदि आंख से जाना जाता है तो रूप होना चाहिए, यदि कान से तो ध्वनि होनी चाहिए, यदि घ्राण से तो गन्ध होना चाहिए और यदि जिह्वा से तो स्वाद होना चाहिए। लेकिन मैं ऐसा मानता हूँ कि कोई यह नहीं कहेगा कि आत्मद्रव्य रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि है और यदि आत्मद्रव्य की सत्ता है तो इसका अनुभव मानसिक चिन्तन से भी होना चाहिए। परन्तु मानसिक चिन्तन का अनुभव हमें सर्वदा उत्तेजना एवं मनोवेग के रूप में होता है, अत: गुणों के समूह के अतिरिक्त इन्हें आत्मद्रव्य नहीं कहा जा सकता। ह्यूम ने स्वयं अपने ग्रन्थ An Enquiry Concerning Human Understanding में इसे स्पष्ट करते हुए कहा है—"I desire those philosophers who pretend that we have an idea of the substance in our minds to point out the impressions that produce it, and tell distinctly after what manner the impression operates, and from what object it is derived. Is it an impression of sensation of reflection? Is it pleasent or painful or indifferent? Does it attend us at all times or does it only return at intervals, if at intervals, at what time principally it does return and by what causes it is produced."

इस प्रकार ह्यूम किसी अविभाज्य (Indivisible) तथा तारतम्यपूर्ण (Continuous) आन्तरिक द्रव्य के अस्तित्व को जिसे लोग शाश्वत या नित्य आत्मा कहते हैं, कोई आधार नहीं पाते हैं। उनके अनुसार, "Soul is nothing but a bundle of different perceptions which succeed each other with an inconceivable rapidity." अर्थात् आत्मा प्रत्यक्षों के समूहों के अतिरिक्त, जो अत्यन्त तीव्रता के साथ एक के बाद एक आते-जाते रहते हैं, कुछ नहीं है। इस प्रकार ह्यूम आत्मा को सरल (Simple) और शाश्वत (Eternal) के रूप में न मानकर मानसिक क्रियाओं के समूह के रूप में देखते हैं। इनका कथन है—

"There is properly no simplicity in the self at one time, nor identity in different times."

अर्थात् इनमें न तो किसी एक समय एकत्व या सरलता होती है और न भिन्न-भिन्न समयों में तादात्म्य ही।

इस प्रकार दर्शन जगत् में जो लोग नित्य, शाश्वत आत्मा के रूप में आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, उस आत्मा के अस्तित्व के विरुद्ध ह्यूम निम्नलिखित तर्क देते हैं—

1. विचारों, संदेहों, स्मृतियों, भावनाओं, उद्वेगों, संवेगों, संकल्पों, इच्छाओं एवं कल्पनाओं आदि मानसिक क्रियाओं का पृथक् एवं स्वतंत्र अस्तित्व है। उनको संगठित करने वाला आत्मा जैसा कोई नित्य तत्त्व नहीं है। इन मानसिक क्रियाओं का प्रत्यक्ष अस्तित्व सिद्ध होता है, परन्तु इस प्रत्यक्ष अनुभव से किसी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है।
2. ह्यूम का मानना है कि यदि कोई शाश्वत आत्मा होती तो मैं उसे अवश्य देख पाता। उस शाश्वत आत्मा को ढूंढ़ने के लिए जब मैं अपने आपको अपने अन्तस् में प्रवेश कराता हूँ तो सर्दी, गर्मी, प्रकाश, छाया, घृणा, द्वेष, दु:ख इत्यादि बोधों में से एक या किसी दूसरे पर जाकर लड़खड़ा जाता हूँ। बिना किसी प्रत्यक्ष के मैं कभी भी अपनी आत्मा को पकड़ नहीं सकता हूँ और प्रत्यक्ष को छोड़कर किसी अन्य वस्तुओं को कभी देख नहीं सकता हूं। जब मेरे प्रत्यक्ष कुछ समय के लिए हट जाते हैं जैसे सोते समय, तब मैं अपने को बेहोश पाता हूं और तब सत्यत: कहा जा सकता है कि मैं नहीं हूँ और यदि मृत्यु से हमारे समस्त प्रत्यक्ष हटा दिये जाते हैं तब मैं न सोच सकता हूं, न छू सकता हूँ, न प्रेम कर सकता हूं, न घृणा कर सकता हूँ, न देख सकता हूँ। मैं नहीं जानता कि मुझे असत् सिद्ध करने के लिए और किस चीज की आवश्यकता है। अर्थात् किसी भी हालत में नित्य आत्मा स्वीकरणीय नहीं है। 'Treatise on Human Nature' में उन्होंने स्पष्ट लिखा है— "When I enter most intimately in to what I call 'myself.' I always stumble on some particular perception or other, or heat or cold, light or shade, love or hatred, pain or pleasure. I can never catch 'myself" at any time without perception."

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस प्रकार आत्मा की एकता और सरलता का खण्डन करते हुए ह्यूम कहता है कि आत्मा एक प्रकार का रंगमंच है जहां अनेक प्रत्यक्ष आते हैं, जाते हैं, पुनः पुनः आते हैं और जाते हैं और अनंत स्थितियों और मुद्राओं में मिलते हैं। किसी खास समय इसकी कोई यथार्थ सरलता या शुद्धता नहीं है और न इसकी कोई इकाई है। An Enquiry concerning Human Understanding में ह्यूम कहते हैं— "The mind is like a theatre where several perceptions successively make their appearance, pass-repass, glide away and mingle in an infinite variety of postures and situation."

इस प्रकार हम देखते हैं कि ह्यूम केवल मानसिक विचारों को ही आत्मा मानते हैं। उनके अनुसार तारतम्य तथा एकता इसी प्रकार भ्रम है जिस प्रकार भाले की नोक घुमाने पर उसे गोलाकार समझना। वास्तविकता यह है कि विचार इतनी शीघ्रता से आते-जाते हैं कि उन्हें हम एक आत्मा मान बैठते हैं, परन्तु उनमें कोई एकता तथा तारतम्य नहीं है। क्षणिकवादी बौद्ध भी इसी प्रकार आत्मा को, जल अथवा ज्योति के कणों या बूंद के प्रवाह के समान विचारों की शृंखला मानते हैं। कुछ अन्य पाश्चात्य दार्शनिक जैसे जे.एस. मिल और विलियम जेम्स आदि आत्मा को प्रवाह या नदी अथवा शृंखलारूप मानते हैं।

अतः अनुभववादी के रूप में ह्यूम प्रत्येक बात को अपने-अपने अनुभव के आधार पर मानता है। उसके शब्दों में, "यदि किसी अन्य व्यक्ति को गंभीर और निष्पक्ष विचार करने पर अपनी आत्मा का इससे भिन्न अनुभव होता है तो मैं यह मानता हूँ कि मैं उससे तर्क नहीं कर सकता। अपने विषय में मैं निश्चितरूप से यह कह सकता हूँ कि मुझमें कोई आत्मतत्त्व नहीं है।" इस प्रकार ह्यूम के दर्शन में नित्य, समरस अथवा एक आत्मा का अस्तित्व नहीं है।

6.4.2 आलोचना

1. ह्यूम ने विचारों के समूह को ही आत्मा स्वीकार किया है, जो ठीक नहीं है। बिना विचारक के विचार असंभव है। ह्यूम की कमी यह रही कि उसने विचार तो स्वीकार किये किन्तु विचारक के रूप में आत्मा को स्वीकार नहीं किया।
2. विचारों की शृंखला को तो ह्यूम ने स्वीकार किया किन्तु वह यह भूल गया कि बिना नित्य आत्मा के विचारों की शृंखला का ज्ञान कैसे हो सकता है? यदि ह्यूम को विचारों की शृंखला का ज्ञान था तो इससे यह सिद्ध होता है कि प्रकारान्तर से उसे आत्मा को स्वीकार करना चाहिए जबकि वह आत्मा को नहीं मानता है।
3. अगर आत्मा स्वतन्त्र विचारों का क्रम या शृंखला है तो भूतकाल की स्मृति एवं भविष्य की योजनाओं को कैसे समझाया जा सकता है? इन्हें समझाने के लिए एक स्थायी आत्मा की आवश्यकता पड़ती है।
4. जर्मन दार्शनिक काण्ट ने ह्यूम के आत्मा सम्बन्धी मत में ज्ञानशास्त्रीय कठिनाई की ओर ध्यान दिलाया है। काण्ट के अनुसार उसकी सबसे बड़ी भूल यह रही कि उसने ज्ञाता आत्मा को ज्ञेय मानकर उसे ढूंढ़ने का प्रयास किया और न ढूंढ पाने पर उसके अस्तित्व को नकार दिया। जो ज्ञाता है भला वह ज्ञेय के रूप में कैसे जाना जा सकता है।
5. ह्यूम के आत्मा सम्बन्धी मत से हम अपनी समरूपता एवं तादात्म्य को नहीं समझा सकते। हम सभी यह जानते हैं कि हम वही हैं जो दस वर्ष पूर्व थे। यदि नित्य आत्मा नहीं है तो इसे जानने का माध्यम क्या है?

अतः यह कहने में कोई संकोच नहीं होता कि ह्यूम के आत्मा के संदर्भ में कुछ ऐसे प्रश्न हैं। जिसका जवाब ह्यूम के पास नहीं है। अतः उसका आत्म सम्बन्धी सिद्धान्त समुचित नहीं है।

6.4.3 ह्यूम और जैनदर्शन के आत्मतत्त्व की तुलना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ह्यूम ने जिस रूप में आत्मा को स्वीकार किया है उस दृष्टि से जैनदर्शन की आत्मा के साथ उसका कोई साम्य नहीं हो सकता। दोनों के आत्मतत्त्व में प्रमुख रूप से निम्न अन्तर स्पष्ट है—

1. जहां अनुभव न होने के आधार पर ह्यूम आत्मा का खण्डन करता है, वहीं जैनदर्शन में विभिन्न अनुभवों के आधार पर भी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार ह्यूम को अनात्मवादी और जैनदर्शन को आत्मवादी कह सकते हैं।
2. ह्यूम ने आत्मा को वास्तविक रूप में सत् स्वीकार नहीं किया है। उसके अनुसार यह दार्शनिकों की कल्पना है,जो भ्रमरूप है जबकि जैनदर्शन में आत्मा को भावात्मक प्रत्यय के रूप में स्वीकार किया गया है।
3. जैनदर्शन परिणामी नित्यत्ववाद को स्वीकार करता है। आत्मा के संदर्भ में भी जैनदर्शन का परिणामी नित्यत्ववाद घटित होता है। यहां पर्याय की दृष्टि से आत्मा को अनित्य और द्रव्य की दृष्टि से नित्य माना गया है जबकि ह्यूम के दर्शन में 'विचारों के समूह' के अतिरिक्त कोई नित्यात्मा नहीं है।
4. चूंकि ह्यूम विचारोंके प्रवाह के रूप में आत्मा को स्वीकार करता है और विचार परिवर्तनशील है तो प्रवाह भी परिवर्तनशील होंगे। अतः ह्यूम के विचारों में आत्मा परिवर्तनशील है जबकि जैनदर्शन इसे परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील दोनों मानता है।

ह्यूम ने जिस प्रकार नित्य आत्मा को न मानकर प्रवाह रूप में अर्थात् क्षणिक आत्मा को स्वीकार किया है वैसा बौद्धों ने भी आत्मा को स्वीकार किया है। बौद्धों के अनुसार पंचस्कन्धों (रूप, संज्ञा, संस्कार, वेदना और विज्ञान) के समूह को आत्मा कहते हैं, परन्तु यह समूह नित्य नहीं है अतः आत्मा भी क्षणिक है। जैन दार्शनिकों ने बौद्धों के आत्मवाद एवं क्षणिकवाद की जो आलोचना की है वह ह्यूम के आत्मवाद पर भी घटित किया जा सकता है। हेमचन्द्राचार्य ने द्वात्रिंशिका में सही कहा है—

"कृतप्रणाशाकृत कर्मभोग, भवप्रमोक्षस्मृति भंगदोषान्।
उपेक्ष्य साक्षात्क्षणभंगमिच्छन्, अहो महासाहसिकः परस्ते॥"

यदि आत्मा को ह्यूम की तरह भी विचारों को संतति के रूप में ही माना जाय और किसी नित्य आत्मा को स्वीकार न किया जाये तो किये गये कर्मों के परिणाम का अंत हो जायेगा और न किये गये कर्मों का परिणाम मिल जायेगा। नित्य आत्मा के अभाव में संसार, मोक्ष और स्मृति भी भंग हो जायेंगे। अष्टसहस्री में विद्यानंद ने भी लिखा है—"क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसम्भवः। न च तत्कार्यारम्भकत्वाभावे फलंपुण्यपापलक्षणं संभवति। तदभावे न प्रेत्यभावो न बन्धो न च मोक्षः स्यात्।" अर्थात् आत्मा को क्षणिक स्वीकार करने पर ज्ञान वैराग्यादि परिणमनों का आधारभूत पदार्थ न होने के कारण मोक्ष नहीं बन सकेगा। अतः ह्यूम का आत्मा के संदर्भ में अनित्य एकान्तवादी दृष्टिकोण उचित नहीं है।

6.5 काण्ट के दर्शन में आत्मा

जर्मनी के महान् दार्शनिक इमेन्युअल काण्ट ने अपने ग्रन्थ **'क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन'** में ज्ञान मीमांसा के बारे में चिन्तन-मन्थन करते हुए आत्मतत्त्व को खोजने में सफलता प्राप्त की है। काण्ट के पूर्व दर्शन जगत् में ज्ञान सम्बन्धी दो प्रकार की मान्यताएं थीं। एक के अनुसार बुद्धि ही हमारे ज्ञान का एकमात्र माध्यम है। ज्ञान बिना बुद्धि के संभव ही नहीं है। यह विचार डेकार्ट, स्पिनोजा और लाइबनीज का था। इसके विपरीत दूसरे प्रकार का विचार था कि ज्ञान का एकमात्र माध्यम अनुभव है। अनुभव संवेदन शून्य ज्ञान संभव ही नहीं। इस प्रकार के ज्ञान की मान्यता रखने वाले दार्शनिक थे लॉक, बर्कले एवं डेविड ह्यूम। काण्ट ने इन दो विरोधी प्रकार के ज्ञान मीमांसीय विचारों में समन्वय स्थापित कर दर्शन जगत् में एक महत्त्वपूर्ण क्रान्ति की थी। उसने इन दोनों विचारधाराओं में एक प्रकार का रूढ़िवादी दृष्टिकोण देखा और इसलिए दोनों को पृथक्-पृथक् अनुपयुक्त माना। काण्ट के विचार को दर्शन इतिहासकार हर्बर्ट अर्नेस्ट कुशमैन ने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इन शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा है—"To kant both empiricism and rationalism were dogamatic, the one because it assumed the validity of sensations, the other because it assumed the existence of innates ideas."

अर्थात् काण्ट के लिए अनुभववाद और बुद्धिवाद दोनों ही रूढ़िवादी थे। पहला इसलिए क्योंकि वह संवेदनाओं की प्रामाणिकता मान लेता था, दूसरा इसलिए क्योंकि वह जन्मजात प्रत्ययों का अस्तित्व मानता था।

इसलिए काण्ट के अनुसार इन्द्रियानुभव केवल विषयों की सामग्री जुटाने का कार्य करता है और बुद्धि उस सामग्री को व्यवस्थित कर ज्ञान के रूप में परिवर्तित करने का कार्य करती है। यदि इन्द्रियानुभव न हो तो बुद्धि रिक्त सांचा मात्र रहेगा और यदि इन्द्रियानुभव हो और बुद्धि न हो तो इन्द्रियानुभव की सामग्री अस्त-व्यस्त रहेगी, कभी ज्ञान का रूप नहीं हो सकती। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं न कि विरोधी। काण्ट के अनुसार "Concepts without percepts are empty, percepts without concepts are blind."

अर्थात् इन्द्रियानुभव के बिना बुद्धि खाली रहेगी और बुद्धि के बिना इन्द्रियानुभव अन्धवत् रहेगा। अतः ज्ञान दोनों के समन्वय से हो सकता है। काण्ट के अनुसार इन्द्रियानुभव से ज्ञान में मौलिकता एवं नवीनता आती है और बुद्धि से ज्ञान अनिवार्य, सार्वभौम, वास्तविक एवं निश्चित होता है, अतः दोनों में समन्वय आवश्यक है। ज्ञानमीमांसा के इस रहस्य को उद्घाटित करते हुए काण्ट इस प्रश्न पर पहुंचता है कि इन्द्रियानुभव को व्यवस्थित करने का कार्य बुद्धि करती है। इन्द्रियानुभव को व्यवस्थित बुद्धि अपनी शक्ति से करती है या उसकी शक्ति कहीं अन्यत्र से आती है। काण्ट के अनुसार बुद्धि के पास अपनी कोई शक्ति नहीं है जिससे वह इन्द्रियानुभव को व्यवस्थित कर ज्ञान का रूप दे सके। इसकी शक्ति जहां से आती है वह है आत्मा। इस प्रकार ज्ञान की मीमांसा करते हुए वह आत्मतत्त्व तक पहुंचता है।

6.5.1 आत्मा का स्वरूप

काण्ट डेकार्ट की तरह आत्मा को न तो ज्ञेय मानता है और न ह्यूम की तरह विचारों का प्रवाह ही। उसके अनुसार नित्य, शाश्वत आत्मा है। यह ज्ञेय नहीं ज्ञाता रूप है। इसको विषय रूप में खोजना वैसा ही है जैसा तेजस्वी सूर्य को दीपक के प्रकाश द्वारा देखना। इस विशुद्ध ज्ञाता के बिना किसी प्रकार का ज्ञान संभव नहीं है। इसी की ज्योति से और शक्ति से बुद्धि इन्द्रिय संवेदनों को ज्ञान का विषय बनाते हैं। यह विशुद्ध ज्ञाता नित्य एवं अनुभव निरपेक्ष है। संग्रहण, समन्वय, सम्बन्ध, नियम, सार्वभौमता और अनिवार्यता इस ज्ञाता के कारण संभव है।

काण्ट ने आत्मा के स्वरूप को एक वाक्य में इस प्रकार उद्घाटित किया है। उसके शब्दों में "The soul is transcendental synthetic unity of pure apperception." अर्थात् आत्मा अतीन्द्रिय समन्वयात्मक अद्वय-विशुद्ध अपरोक्षानुभूति रूप है।

काण्ट के अनुसार आत्मा अतीन्द्रिय (Transcendental) है। काण्ट आत्मा को व्यावहारिक जगत् का तत्त्व नहीं मानता है। उसके अनुसार आत्मा का परमार्थ जगत् में निवास है। ज्ञान का माध्यम इन्द्रियां हैं। इन्द्रियों को ज्ञान के लिए मूर्त्त तत्त्व चाहिए अर्थात् इन्द्रियां मूर्त्त का ही ज्ञान कर सकती है। चूंकि आत्मा अमूर्त्त और परमार्थ जगत् में रहता है अतः इन्द्रियों की पहुंच से आत्मा परे है इसीलिए काण्ट ने इसे अतीन्द्रिय स्वीकार किया है। यह समन्वयात्मक (Synthetic) है क्योंकि यह विशुद्ध और नित्य ज्ञाता हमारे सारे संवेदनों और विज्ञानों को एक सूत्र में बांधता है। इसी के कारण हमारे अनुभवों में एकरूपता होती है। इसी के कारण प्रत्येक जीव का जगत् भिन्न-भिन्न नहीं होता। यह अद्वय (unity) रूप है। काण्ट के अनुसार परमार्थ जगत् में रहने वाली आत्मा अनेक नहीं एक है। यह शुद्ध (pure) रूप है। परमार्थ में रहने वाली आत्मा पूर्णतः विशुद्ध रूप है। इस विशुद्ध ज्ञाता की 'एकता' या 'पूर्णता' नामक बुद्धि विकल्पों की 'एकता' या 'पूर्णता' नहीं है। यद्यपि एकता और पूर्णता नाम का बुद्धि विकल्प भी है किन्तु जब आत्मा के लिए एकता और पूर्णता का प्रयोग किया जाता है तो वह बुद्धि विकल्पों की एकता या पूर्णता नहीं है। एकता और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पूर्णता के बुद्धि विकल्प अन्य बुद्धि विकल्पों की तरह आत्मा पर ही निर्भर है। यह आत्मा वाणी एवं बुद्धि के पार है पर शून्यवत् नहीं। इसका अपना अस्तित्व है। इसकी सत्ता स्वत: सिद्ध है। प्रत्येक ज्ञान या अनुभव में इसकी ज्योति प्रकाशित होती है और इसके बिना किसी प्रकार का ज्ञान या अनुभव संभव नहीं। यह विशुद्ध आत्मा अपरोक्षानुभूति रूप (Apperception) है।

ऐसे ज्ञाता रूप आत्मा को किसी भी स्थिति में ज्ञेय नहीं माना जा सकता। काण्ट के अनुसार "The subject can not be reduced to an object." अर्थात् ज्ञाता किसी भी स्थिति में ज्ञेय नहीं बन सकता।। ह्यूम ने जिस आत्मा को जानने का प्रयास किया, उसके संदर्भ में काण्ट का कहना है कि I can not know I, I can know me. अर्थात् मैं किसी ज्ञाता रूप विशुद्ध आत्मा को नहीं जान सकता। मैं तो केवल अतात्विक, प्रपंचरूप आत्मा को ही जान सकता हूँ।

6.5.2 आत्मा अज्ञेय है

यह चेतन आत्मा ज्ञाता या शक्ति है। यह एक भावात्मक या अमूर्त्त एकता (Abstract unity) है। यह कोई एक द्रव्य नहीं है जिसमें चेतना का गुण या कार्य हो, परन्तु आत्मा चेतन स्वरूप है। यह सामान्य आत्मा (Universal soul) है। इस अमूर्त्त एकता को शुद्ध बुद्धि के द्वारा नहीं जाना जा सकता। शुद्ध बुद्धि लंगड़ी है। उसकी पहुंच व्यवहार तक ही है, परमार्थ तक उसकी गति नहीं है। इसलिए उसे परमार्थ में रहने वाली आत्मा का ज्ञान नहीं होता। यह केवल इतना ही संकेत करती है कि 'कुछ है' परन्तु क्या है इसका उसे ज्ञान नहीं होता है। काण्ट आत्मा को अज्ञेय मानता है किन्तु वह उसकी सत्ता का निषेध नहीं करता। यदि आत्मा का अस्तित्व नहीं होगा तो ज्ञान संभव नहीं होगा। बिना आत्मा के तादात्म्य एकता, चेतना का तारतम्य आदि भी संभव नहीं होंगे। अत: आत्मा के इन कार्यों से ही इसके अस्तित्व का आभास होता है जैसे किसी व्यक्ति की पहुंच राजा तक नहीं है और वह प्रजा को देखकर राजा के कार्यों से राजा के अस्तित्व को समझ लेता है उसी प्रकार आत्मा भी अपने कार्यों से अपने अस्तित्व का आभास करा देती है। इसलिए काण्ट ने आत्मा को अज्ञेय सत् (Unknown reality) के रूप में स्वीकार किया है। प्रो. अनुकूलचन्द्र मुखर्जी ने काण्ट के आत्मा के संदर्भ में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा है— "The self is undeniable, yet undefinable." अर्थात् आत्मा के अस्तित्व को न तो नकारा जा सकता है और न ही उसकी व्याख्या की जा सकती है।

काण्ट के दर्शन में आत्मा के संदर्भ में एक प्रश्न यह उठता है कि आत्मा सत् और अज्ञेय कैसे हो सकता है? आलोचकों का कहना है कि जिस माध्यम से आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान होता है उसी माध्यम से आत्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जाना चाहिए। इस संदर्भ में काण्ट का यही मानना था कि आत्मा चूंकि अमूर्त्त है अत: यह इन्द्रियादि माध्यमों से नहीं जाना जा सकता, किन्तु आत्मा के कार्यों से उसके अस्तित्व का बोध अवश्य होता है।

6.5.3 आलोचना

1. हेगल के अनुसार काण्ट ने जिस अमूर्त्त एकता के रूप में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है, वह अनेकता के बिना निरर्थक है। अस्तु **हेगल के अनुसार आत्मा भेदाभेदरूप है। जेम्सवार्ड के अनुसार काण्ट की अमूर्त्त आत्मा किसी अक्षर के ऊपर एक बिन्दु के समान है जिसका अक्षर से अलग कोई अर्थ नहीं है।**
2. चूंकि आत्मा की अभिव्यक्ति विचारों एवं क्रियाओं से है अत: हेगल का मानना है कि आत्मा को विचारों एवं क्रियाओं से अलग नहीं माना जा सकता।
3. काण्ट ने एक तरफ आत्मा को बुद्धि से परे माना है और दूसरी तरफ आत्मा के संदर्भ में बौद्धिक व्यायाम भी करता है। आत्मा के संदर्भ में सोचना और विचारना तथा उसे बुद्धि से परे कहना कहां तक ठीक है?
4. आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना और उसे अज्ञेय कहना भी ठीक नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इन उपर्युक्त आलोचनाओं से यह कहा जा सकता है कि काण्ट के दर्शन में भी आत्मा का सिद्धान्त पूर्णतया संगतपूर्ण नहीं है।

6.6 काण्ट और जैनदर्शन के आत्मा की तुलना

पाश्चात्य दर्शन के महान् दार्शनिक इमेन्युअल काण्ट के आत्मतत्त्व की विवेचना के पश्चात् जैनदर्शन के आत्मतत्त्व से तुलना की जानी यहां अपेक्षित है।

6.6.1 समानता

1. काण्ट ने आत्मा को अमूर्त्त रूप स्वीकार किया है। जैनदर्शन में भी आत्मा को अमूर्त्त (अरूपी) ही माना गया है। द्रव्यसंग्रह में इसे इस रूप में स्पष्ट किया गया है— 'वण्णरस पंच गंधादो अट्ठ णिच्चया जीवे। णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो।' अर्थात् चूंकि आत्मा पुद्गल के वर्ण, गंधादिक गुणों से रहित है अत: अमूर्त्तरूप है। पंचास्तिकाय (97) में आत्मा को अमूर्त्तिक द्रव्यों में ही परिगणित किया गया है। अत: आत्मा के अमूर्त्तत्व को लेकर दोनों में समानता है।
2. काण्ट ने परमार्थ आत्मा को पूर्ण माना है और जैनदर्शन में भी शुद्ध आत्मा पूर्ण है। मुक्त आत्मा अनंत चतुष्टय युक्त होकर पूर्ण है।
3. जैनदर्शन की तरह काण्ट ने भी आत्मा को चैतन्य स्वरूप माना है। 'चेतनालक्षणो जीव:' कहकर जैनदर्शन में आत्मा का स्वरूप लक्षण चेतना है। इसी प्रकार काण्ट ने भी आत्मा को चैतन्यवान् न मानकर चैतन्य स्वरूप स्वीकार किया है।
4. काण्ट के दर्शन में भी आत्मा को शुद्ध रूप माना गया है और जैनदर्शन में मुक्तात्मा शुद्ध रूप है। अत: दोनों ही दर्शनों में आत्मा को विशुद्ध रूप स्वीकार किया गया है।
5. काण्ट ने यह स्वीकार किया है कि ज्ञान के माध्यम इन्द्रियों एवं बुद्धि में अपनी शक्ति नहीं है। इनकी शक्ति जहां से आती है वह आत्मा है अर्थात् आत्मा की शक्ति से ही इन्द्रिय और बुद्धि क्रिया करते हैं। जैनदर्शन में भी यह मान्यता है कि इन्द्रियों और बुद्धि में शक्ति आत्मा से ही आती है। जिनभद्रगणि ने तो इन्द्रियों के अधिष्ठाता के रूप में आत्मा को स्वीकार किया है।

6.6.2 असमानता

उपर्युक्त समानता के बावजूद भी दोनों दर्शनों में आत्मा को लेकर मत वैभिन्य है, इस कारण अन्तर होना स्वाभाविक है।

1. काण्ट ने आत्मा को ज्ञाता के रूप में ही स्वीकार किया है और ज्ञेय के रूप में आत्मा को स्वीकार करने वाले डेकार्ट की खिल्ली उड़ाई है किन्तु जैनदर्शन में आत्मा को इन्द्रिय और बुद्धि के द्वारा ज्ञान होने के कारण ज्ञेय रूप भी स्वीकार किया है और ज्ञान स्वरूप आत्मा को ज्ञाता रूप भी माना है।
2. उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र में आये हुए जीवाश्च सूत्र की व्याख्या करते हुए अकलंक ने जीव के अनेक प्रकार माने हैं। जैनदर्शन अपरिमित और असीम आत्माओं को मानकर प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न आत्मा मानते हैं जबकि काण्ट ने एक ही आत्मा को स्वीकार कर एकात्मवाद को महत्त्व दिया। जैनदर्शन के श्रावकाचार (अमितगति) में एकात्मवाद के विरोध में अनेकात्मवाद को पुष्ट करते हुए कहा गया है—

"सर्वेषामेक एवात्मा युज्यते नेति जल्पितुम्।
जन्म मृत्यु सुखादीनां भिन्नानामुपलब्धित: ॥"

अर्थात् सभी के जन्म-मरण, सुख-दु:ख अलग-अलग दृष्टिगोचर हाते हैं, इसलिए जैनदर्शन में अनेकात्मवाद सिद्ध है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. काण्ट ने आत्मा को अप्रत्यक्षानुभूति (Apperception) रूप स्वीकार कर उसके ज्ञान के सभी माध्यमों को अस्वीकार कर दिया है जबकि जैनदर्शन में आत्मा के ज्ञान को प्रमाण द्वारा भी स्वीकार किया है और विशिष्ट योगियों को आत्मा की प्रत्यक्षानुभूति होती है, ऐसा भी माना गया है।
4. काण्ट ने आत्मा को व्यवहार से परे परमार्थ जगत् में स्थित माना है। पर यह परमार्थ जगत् कहां है, किस प्रकार का है, इसका कोई उत्तर काण्ट के दर्शन में नहीं मिलता है। जैनदर्शन में संसारी आत्मा संसार में है और मुक्त आत्मा लोकान्त में स्थित होता है। लोकान्त में जाकर सभी मुक्तजीव एक स्थान विशेष पर विराजमान रहते हैं जिसे आगमिक शब्दावली में 'सिद्धशिला' कहते हैं।
5. काण्ट ने आत्मा को सत् रूप तो माना है किन्तु इस सत् रूप आत्मा को अज्ञेय माना है। उसके दर्शन में आत्मा अज्ञेय सत् (Unknown reality) है जबकि जैनदर्शन में आत्मा अज्ञेय नहीं ज्ञेय है। जैनदर्शन में आत्मा का ज्ञान मानसिक प्रत्यक्ष एवं अनुमानादि प्रमाण से माना गया है। जैनदर्शन के अनुसार हर सत् का ज्ञान संभव है अतः कोई अज्ञेय सत् नहीं है।

6.7 सारांश

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि जैनदर्शन में भेद-प्रभेद के द्वारा आत्मा का बहुत सूक्ष्म विवेचन किया गया है। जबकि पाश्चात्य दर्शन में ह्यूम ने तो एक दृष्टि से आत्मा को स्वीकार ही नहीं किया और डेकार्ट ने पशुओं में भी आत्मा को नकार कर बहुत ही स्थूल रूप में आत्मा को स्वीकार किया है और काण्ट ने आत्मा की सूक्ष्म विवेचना की कोशिश की है। किन्तु उसके अमूर्त्त एकता और अज्ञेय सत् रूप आत्मा की विशेष आलोचना की जाती है।

6.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबंधात्मक प्रश्न

1. डेकार्ट और जैनदर्शन के आत्मा सम्बन्धी साम्य एवं वैषम्य का विवेचन कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. काण्ट और जैनदर्शन की आत्मा की तुलनात्मक विवेचना कीजिए।
2. डेविड ह्यूम के आत्मा सम्बन्धी विचार को स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'मैं सोचता हूँ' इसलिए 'मैं हूँ' के द्वारा आत्मा को किसने सिद्ध किया है?
2. 'जीवाश्च' सूत्र किस ग्रन्थ का है?
3. आत्मा को 'विचारों के प्रवाह' के रूप में किसने स्वीकार किया है?
4. आत्मा को 'अज्ञेय सत्' किसने माना है?
5. काण्ट की आत्मा को अक्षर पर लगने वाली बिन्दी के समान किसने माना है?
6. जैनदर्शन में आत्मा एक है या अनेक?
7. आत्मा को न तो नकारा जा सकता है और न व्याख्यायित किया जा सकता है, यह कथन किसका है?
8. फेइड्रास ग्रन्थ में कितने प्रकार की आत्माओं का उल्लेख है?
9. जैनदर्शन में शुद्ध आत्मा किसे कहा गया है?
10. ज्ञाता आत्मा किसी भी स्थिति में ज्ञेय नहीं हो सकता, यह कथन किसका है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. डेकार्ट 2. तत्त्वार्थसूत्र 3. डेविड ह्यूम ने 4. काण्ट ने 5. जेम्स वार्ड ने 6. अनेक
7. काण्ट का 8. तीन 9. परमात्मा को 10. काण्ट का।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–7 : आत्मा और शरीर सम्बन्ध
(डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइबनीज और जैनदर्शन)

संरचना

7.0 प्रस्तावना

7.1 उद्देश्य

7.2 डेकार्ट के दर्शन में देहात्म समस्या

- 7.2.1 क्रिया प्रतिक्रियावाद
- 7.2.2 ग्यूलिंक्स, मेलेब्रान्श का निमित्तवाद
- 7.2.3 स्पिनोजा का समानान्तरवाद
- 7.2.4 लाइबनीज का पूर्ण स्थापित सामंजस्य

7.3 जैनदर्शन में आत्मा और शरीर का सम्बन्ध

7.4 तुलना

- 7.4.1 डेकार्ट और जैन दर्शन
- 7.4.2 ग्यूलिंक्स, मेलेब्रान्श एवं जैन दर्शन
- 7.4.3 स्पिनोजा एवं जैनदर्शन
- 7.4.4 लाइबनीज एवं जैनदर्शन

7.5 सारांश

7.6 अभ्यास प्रश्नावली

7.0 प्रस्तावना

पाश्चात्य आधुनिक दर्शन के बुद्धिवादी युग की महत्त्वपूर्ण समस्या देहात्म सम्बन्ध की रही है। यह दर्शन का एक ऐसा युग था जिसमें पूर्वाग्रहों एवं पूर्वमान्यताओं को अस्वीकार कर नये सिरे से चिन्तन पर बल दिया गया था। इसयुग में द्वैतवादी दार्शनिक रेने डेकार्ट (1556 ई. से 1650), अद्वैतवादी दार्शनिक स्पिनोजा (1632 ई. से 1677 ई.) और बहुतत्त्ववादी दार्शनिक लाइबनीज (1646 ई. से 1716 ई.) प्रमुख थे। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि बुद्धिवादी युग के इन तीन स्तम्भ दार्शनिकों ने तार्किक चिन्तन के एक नये अध्याय की शुरूआत की थी। इस युगके प्रथम दार्शनिक रेने डेकार्ट ने मध्ययुगीन धार्मिक दासता के चंगुल से दर्शन को आजाद कराकर दर्शन जगत् में एक अभूतपूर्व क्रान्ति की थी। कहते हैं कि मध्ययुग में दर्शन धर्म की कारा में कैद था। उस युग में कोई ऐसा स्वतंत्र दार्शनिक चिन्तन नहीं कर सकता था जो धर्म को मान्य नहीं था।

7.1 उद्देश्य

यहां हमारा उद्देश्य डेकार्ट, स्पिनोजा और लाइबनीज के आत्मा और शरीर के सम्बन्ध की जैनदर्शन के आत्मा और शरीर की सम्बन्ध की तुलना करना है।

7.2 देहात्म समस्या

रेने डेकार्ट ने दर्शन को धार्मिक परतंत्रता से मुक्त कराकर एक स्वतंत्र वातावरण में विचरण करने का अवसर प्रदान किया। दार्शनिक पद्धति, आत्मवादी चिन्तन, द्वैतवादी दृष्टिकोण, डेकार्टीय दर्शन के ऐसे प्रमुख अवदान हैं जिनके लिए डेकार्ट को कभी भुलाया नहीं जा सकता। डेकार्ट ने बुद्धिवाद की जो स्थापना की उसे आगे बढ़ाने का श्रेय वेनेडिक्ट स्पिनोजा को है, इसी बुद्धिवाद को चरम शिखर पर पहुंचाया इस युग के तेजस्वी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दार्शनिक लाइबनीज ने। दार्शनिकों के इस त्रिसम्पुट ने इस युग को अत्यन्त समृद्धता प्रदान की। इस युग में द्रव्य को केन्द्र में रखकर जहां चिन्तन हुए हैं वहीं द्रव्य विचार से ही उद्भूत देहात्म की समस्या इस युग की प्रमुख समस्या रही है। इस युग का कोई भी दार्शनिक इस समस्या से मुक्त नहीं रहा। देहात्म का क्या स्वरूप है। देहात्म सापेक्ष है या निरपेक्ष? देहात्म विरोधी है या सहचारी? यदि विरोधी हैं तो फिर ये आपस में मिलकर कैसे क्रिया करते हैं और यदि सहचारी हैं तो कब तक? इत्यादि ऐसे प्रश्न हैं जिन पर इस युग में गंभीरता से चिन्तन-मन्थन हुआ है। कुछ लोगों के अनुसार आत्मा और शरीर एक-दूसरे से पूर्णतया भिन्न हैं, इनमें आपस में विरोध है। कुछ के अनुसार आत्मा और शरीर विरोधी नहीं हो सकते, एक तत्त्व के गुण एक ही होने के कारण सहचारी हैं और कुछ के अनुसार ये दो भिन्न-भिन्न नहीं हैं। देहात्म समस्या को लेकर इस युग में जो विचार-विमर्श हुए हैं, उसे चार प्रकार के अभिमतों में विभक्त कर देखा जा सकता है—

1. क्रिया-प्रतिक्रिया (Interactionism)
2. निमित्तवाद (Occasionalism)
3. समानान्तरवाद (Parallelism)
4. पूर्वस्थापित सामंजस्यवाद (Pre-established Harmony)

7.2.1 क्रिया-प्रतिक्रियावाद

देहात्म समस्या के समाधान के लिए डेकार्ट ने जो योगदान दिया है उसे दर्शन जगत् में क्रिया-प्रतिक्रियावाद के रूप में सुरक्षित स्थान प्राप्त हुआ है। डेकार्ट पाश्चात्य के आधुनिक युग में द्वैतवादी दार्शनिक के रूप में विख्यात है।वैसे ग्रीकयुग के महान् दार्शनिक प्लेटो के दर्शन में भी ऐन्द्रिय जगत् और प्रत्यक्ष जगत्, व्यवहार और परमार्थ, वस्तु और विज्ञान तथा आत्मा ओर शरीर का द्वैत, अरस्तू के दर्शन में द्रव्य और आकार तथा आत्मा और शरीर के भेद का द्वैत प्रसिद्ध है। मध्ययुग में भी आत्मा और शरीर के भेद का द्वैत स्पष्टतः परिलक्षित होता है। आधुनिक युग में डेकार्ट का द्वैतवाद अत्यन्त प्रसिद्ध है। डेकार्ट ने आत्मा और शरीर की व्याख्या एक नये ढंग से की है। पहले दार्शनिकों ने आत्मा और शरीर को एक ही तत्व के दो पहलुओं के रूप में स्वीकार किया था। पहले आत्मा और शरीर सापेक्ष माने जाते थे परन्तु डेकार्ट के दर्शन का वैशिष्ट्य यह था कि उन्होंने दोनों को निरपेक्ष रूप में स्वीकार किया है। डेकार्ट के अनुसार शरीर भौतिक गुणों का विस्तार है और आत्मा में चैतन्य गुण है। आत्मा विवेकी और शरीर अविवेकी है। आत्मा अमूर्त एवं शरीर मूर्त है। आत्मा बौद्धिक एवं शरीर अबौद्धिक है, आत्मा द्रष्टा एवं शरीर दृश्य है। आत्मा अविभाज्य एवं शरीर विभाज्य है, आत्मा अप्रसारित एवं शरीर प्रसारित है, आत्मा अभौतिक एवं शरीर भौतिक है।

उपर्युक्त इन विपरीत गुणों से यह सिद्ध होता है कि आत्मा और शरीर एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत हैं जिसे निम्न चार्ट से समझा जा सकता है—

आत्मा (चित्)	शरीर (अचित्)
1. चेतन	1. अचेतन
2. अविभाज्य	2. विभाज्य
3. विवेकी	3. अविवेकी
4. अमूर्त	4. मूर्त
5. अप्रसारित	5. प्रसारित
6. सरल	6. जटिल
7. अभौतिक	7. भौतिक
8. बौद्धिक	8. अबौद्धिक
9. द्रष्टा	9. दृश्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि आत्मा और शरीर आपस में इतने विरुद्ध हैं तो शरीर का मन पर और मन का शरीर पर प्रभाव कैसे पड़ता है? जब हम कोई कार्य अपनी इच्छा से करते हैं तो ज्ञात होता है कि मन का शरीर पर प्रभाव पड़ता है और जब ज्ञानेन्द्रियों से अनुभव करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि शरीर का मन पर प्रभाव है। अत: यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि शरीर और मन आपस में निरपेक्ष हैं तो दिन-प्रतिदिन के कार्य कैसे संभव हैं? इसके संदर्भ में डेकार्ट का कोई निश्चित मत दृष्टिगोचर नहीं होता है, परन्तु इतना सत्य है कि उसने देह और आत्मा के सम्बन्ध के संदर्भ में अन्तक्रियावाद अथवा क्रिया-प्रतिक्रियावाद (Interactionism) को प्रस्तावित किया था। डेकार्ट ने अपने ग्रन्थ Passions of the soul में क्रिया-प्रतिक्रियावाद की चर्चा की है तथापि इसके सम्बन्ध में वह कभी स्थिर नहीं रहा। इस प्रसंग में वह अन्य वादों के बारे में भी सोचता रहा। उसके अन्तक्रियावाद सम्बन्ध के अनुसार शरीर मन पर क्रिया करता है और मन शरीर पर क्रिया करता है। यह पारस्परिक क्रिया प्रत्यक्ष नहीं होती है। यह क्रिया पुरातत् नाड़ी (Pinel Gland) के माध्यम से होती है। पीनियल गलैण्ड मस्तिष्क का सूक्ष्मतम मध्यभाग है। वह दैहिक है किन्तु आत्मा का मुख्य स्थान है। संवेदना और भावना के अवसरों पर देह की गति से पुरातत् नाड़ी गतिशील होती है और उसकी गति से वही स्थित आत्मा भी स्पन्दित होती है और वह संवेदन तथा भावना का अनुभव करती है। ऐच्छिक कार्यों के अवसरों पर आत्मा प्रवर्तक होता है। वह क्रियाशील और गतिशील होता है। उसकी क्रिया से उसका स्थान अर्थात पीनियल गलैण्ड सक्रिय हो उठता है और उसके फलस्वरूप मस्तिष्क और सम्पूर्ण देह गतिशील हो उठता है। इस तरह पुरातत् नाड़ी के माध्यम से आत्मा और शरीर आपस में क्रिया-प्रतिक्रिया करते रहते हैं। इसी तथ्य को एफ मेयर ने अपने ग्रन्थ A History of Western Philosophy में इस प्रकार व्यक्त किया है-

"The mind and the body meet in the 'Pineal Gland' which is in the centre of the brain. Here they rest upon each other. The pinel gland does not destroy the essential diversity between the mind and the body. The body walks and breathes, but the soul enjoys, suffers, loves, perceives, wakes etc."

अर्थात् शरीर और आत्मा का मिलन स्थान पीनियल ग्लैण्ड है, जो मस्तिष्क के मध्यभाग में स्थित है। यहीं पर शरीर तथा आत्मा में पारस्परिक आदान-प्रदान होता है जिसके फलस्वरूप अन्तर्क्रिया होती है। हमारा शरीर चलता है पर चलने की अनुभूति आत्मा को होती है। मन में प्रेम उत्पन्न होता है परन्तु शरीर को भी इसका स्पष्ट अनुभव होता है। एफ. थिली ने इसी तथ्य को अपने ग्रन्थ A History of Philosophy में इसप्रकार उद्धृत किया है-

"The soul, though united with the whole body, has its principal seat in the pineal gland of the brain. Movements in the animal spirit are caused by sensible objects and are transferred to the pineal gland. The soul can also move the gland in different ways. This motion is transferred to the animal spirit and conducted by them over the nerves in the muscles."

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि आत्मा और शरीर एक-दूसरे की क्रिया-प्रतिक्रिया से प्रभावित होते हैं। डेकार्ट इसे एक दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं- "घोड़ा और घुड़सवार दोनों भिन्न-भिन्न हैं परन्तु उनमें पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया संभव है। जिस प्रकार घुड़सवार एड़ लगाकर घोड़े की गति में वेग उत्पन्न करता है, घोड़े की गति में वृद्धि करता है। उसी प्रकार मन भी शारीरिक क्रियाओं को उत्तेजित करता है और जिस प्रकार घोड़े को उम्मीद के अनुसार गतिशील देखकर घुड़सवार प्रसन्न होता है उसी प्रकार शरीर को गतिशील देख आत्मा भी प्रसन्नता का इजहार करता है।" परन्तु दृष्टान्त और द्राष्टान्त में अन्तर है। दृष्टान्त में घोड़े और घुड़सवार दोनों में उद्देश्यगत साम्य है। अत: दोनों की प्रकृति प्राय: समान (गतिमूलक) कही जा सकती है, परन्तु मन और शरीर दोनों नितान्त भिन्न है। जड़ और चेतन तथा विस्तार और विचार में किसी प्रकार की समता नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस दृष्टान्त और द्राष्टान्त के सम्बन्ध में कठिनाई के साथ-ही-साथ अन्तक्रियावाद में निम्नलिखित कठिनाइयां उपस्थित होती हैं-

1. यदि शरीर और आत्मा एक-दूसरे के बिल्कुल विरुद्ध हैं तो उनमें आपस में अन्तक्रिया कैसे? दोनों एक-दूसरे के विपरीत है तो एक में क्रिया होने पर दूसरा प्रतिक्रिया करने को क्यों सोचेगा? दूसरे में क्रिया होने पर पहला प्रतिक्रिया क्यों सोचेगा और यदि सोचते हैं तो वे आपस में नितान्त विरोधी नहीं कहे जा सकते।
2. यदि आत्मा अमूर्त एवं निराकार है तो वह पीनियल ग्लैण्ड में कैसे रह सकता है? और यदि पीनियलग्लैण्ड में रहता है तो उसे अमूर्त एवं निराकार कैसे कह सकते हैं?
3. यदि आत्मा स्थान नहीं घेरता है तो उसे पीनियल ग्लैण्ड में सीमित कैसे किया जा सकता है?
4. शरीर में कुछ क्रियाओं की मानसिक क्रिया क्यों नहीं होती है? उदाहरण के लिए शरीर के रक्तप्रवाह से मनस् में कोई भी प्रतिक्रिया नहीं होती है।
5. डेकार्ट के अनुसार पशुओं में आत्मा और विचारशक्ति नहीं होती तब फिर उनके शरीर में विभिन्न गतियां किस तरह होती है? चूंकि उनके शरीर में गतियां दिखाई पड़ती हैं तो इसका क्या कारण है?

इस कारण से अन्तक्रियावाद के अतिरिक्त डेकार्ट कभी-कभी समानान्तरवाद की ओर भी संकेत करता है। समानान्तर के अनुसार आत्मा और देह दोनों समानान्तर हैं। प्रत्येक में जो घटना घटती है उसके समानान्तर दूसरे में वही घटना घटती है। लेकिन डेकार्ट इसकी समुचित व्याख्या नहीं कर सका था। जिसे आगे चलकर वेनेडिक्ट स्पिनोजा ने स्पष्ट किया। कभी-कभी तो डेकार्ट ने यहां तक कहा है कि आत्मा और देह के सम्बन्ध का ज्ञान बुद्धि द्वारा नहीं होता है। यह ज्ञान केवल इन्द्रियजन्य है। बुद्धि से इसका ज्ञान न होने इसका ज्ञान अस्पष्ट है। डेकार्ट के अनुसार स्पष्ट और विवेकपूर्ण ज्ञान ही वस्तुसत् का प्रमाण है। आत्मा और देह के सम्बन्ध का ज्ञान स्पष्ट और विवेकपूर्ण नहीं है। अत: इस सम्बन्ध का ज्ञान वास्तविक नहीं है। अत: आत्मा और देह के सम्बन्ध का ज्ञान वास्तविक नहीं है। अत: आत्म और देह का सम्बन्ध वास्तविक नहीं है, यह मात्र आरोपित है। नार्मन केम्पस्मिथने अपने ग्रन्थ New Studies in the Philosophy of Descartes में स्पष्ट किया है कि डेकार्ट के दर्शन में आत्मा और शरीर का सम्बन्ध वास्तविक है, वह द्रव्यवत् है और जैसे आत्मा और देह द्रव्य है, वैसे ही इनका सम्बन्ध भी द्रव्य है। किन्तु यह सम्बन्ध यदि द्रव्यवत् मान लिया जाय तो आत्मा और शरीर सदा अपृथक होंगे और दोनों को पृथक करना असंभव है। फिर आत्मा रहित शरीर कभी नहीं हो सकता किन्तु मृत शरीर वास्तविकता है। अत: आत्मा और शरीर को द्रव्य मानना ठीक नहीं है।

इन विभिन्न मत-मतान्तरों से स्पष्ट है कि डेकार्ट आत्मा और देह के सम्बन्ध पर हमेशा चिन्तन ही करता रहा है किन्तु किसी असंदिग्ध निष्कर्ष पर वह नहीं पहुंच सका। अत: यह कहा जा सकता है कि आत्मा और देह के सम्बन्ध की समस्या डेकार्ट दर्शन की सबसे उलझी हुई समस्या है।

7.2.2 निमित्तवाद (Occasionalism)

डेकार्ट के पश्चात् देहात्म समस्या के समाधान में रूचि दिखाई उसके अपने ही अनुयायी आरनान्ड ग्यूलिक्स (Arnold Geulinex, 1624-1669 ई.) तथा निकोलस मेलेब्रान्श (Necolus Malebranche, ने अपने गुरू के सिद्धान्त 'क्रिया-प्रतिक्रियावाद' में व्याप्त दोषों को दूर कर देहात्म समस्या का समाधान एक नये ढंग से किया। इनका मानना था कि यदि देह और आत्मा परस्पर पूर्णतया भिन्न हैं तो उनका वास्तविक संयोग नहीं हो सकता। देह का धर्म गति और आत्मा का धर्म चैतन्य है। समस्या यह है कि शारीरिक गति का प्रभाव चैतन्य पर और चैतन्य का प्रभाव शारीरिक गति पर कैसे पड़ सकता है? डेकार्ट ने तो इस समस्या के समाधान के लिए ईश्वर की इच्छा और क्रिया-प्रतिक्रियावाद को माध्यम रूप में स्वीकार किया परन्तु उसके

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उत्तराधिकारियों ने ईश्वर पर अधिक भार डालना उचित समझा। इनको 'ईश्वर की इच्छा' मात्र से ही संतोष नहीं हुआ। इन्होंने स्पष्टत: स्वीकार किया कि समस्त गति का प्रदाता एकमात्र ईश्वर है। उसी के कारण समस्त भौतिक वस्तुओं में गति उत्पन्न होती है। वही गति का नियन्ता है, उसी में प्रेरक शक्ति होती है, जो स्थिति में परिवर्तन कर देती है। वह मानसिक एवं भौतिक के बीच मध्यस्थता करता है अर्थात उसी के कारण मनऔर देह में सम्बन्ध स्थापित होता है।

डा. रमेशचन्द शर्मा ने पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, खण्ड दो के अपने निबन्ध 'निमित्तवाद' के अन्तर्गत स्पष्ट उल्लेख किया है कि मन का मन से और देह का देह से सम्बन्ध भी ईश्वर के कारण ही संभव है। उन्होंने उल्लेख किया है कि ग्लूलिक्स और मेलेब्रान्श के अनुसार जब विलियर्ड की एक गतिमुक्त गेंद दूसरी स्थिर गेंद से टकराती है तो प्रथम गेंद में ऐसी कोई शक्ति नहीं होती जो दूसरी गेंद में गति उत्पन्न कर सके। दूसरी गेंद में गति उत्पन्न हो सके इसके लिए ईश्वर की आवश्यकता है जो संघात के अवसर पर दूसरी गेंद को अपने द्वारा स्थापित नियमों के अनुसार गति प्रदान कर देता है। ईश्वर के कृत्यों की एकरूपता के कारण ही प्रथम गेंद को दूसरी गेंद के गति का कारण कहा जा सकता है। निमित्तवादी विचारकों के अनुसार ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष और संकल्प दोनों ही परिस्थितियों में देह और मनस् एक-दूसरे में परिवर्तन लाने के लिए अक्षम है, दोनों का मूल कारण ईश्वर है।

इस प्रकार ग्यूलिक्स और मेलेब्रान्श डेकार्ट के कार्य-कारण को नहीं मानते हैं तथा लाइबनीज के पूर्वस्थापत्य सामंजस्य को भी नहीं मानते हैं। ये डेकार्ट के अन्तर्क्रियावाद के स्थान पर पारस्परिक प्रभाव को मानते हैं अर्थात् निपुण ईश्वर के कारण सहक्रिया स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ईश्वर ने इस ढंग से शरीर और आत्मा का निर्माण किया है कि एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है। इसमें किसी को कार्य या कारण मानने की आवश्यकता नहीं है, जैसा कि डेकार्ट मानता है। ईश्वर की निपुणता के कारण ही शरीर और आत्मा दो विभिन्न तत्त्व एक ही सूत्र में बंधे हैं। ईश्वर के कारण ही जब मेरे मन में कोई इच्छा उत्पन्न होती है तो तदनुरूप शरीर में गति उत्पन्न हो जाती है तथा जब गति उत्पन्न होती है तो इच्छा का भी अभ्युदय हो जाता है। एफ. थिली ने अपने ग्रन्थ A History of Philosophy में ग्यूलिक्स और मेलेब्रान्श के इस निमित्तवाद को इन शब्दों में स्पष्ट करते हुए कहा है कि-

"He bound together the most diverse things (the motion of matter and the choice of my will)....That when my will wills such a motion as it will occurs, and on the other hand, when the motion occurs, the will wills, stirs without any causality or influence of the one upon the other as in the case of two clocks carefully adjucted together to the daily course of the sun both are made by the same art and with same workmanship."

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शरीर की गति और आत्मा का ज्ञान एक-दूसरे के कारण नहीं अपितु ईश्वर के कारण होता है। किसी भी आत्मा में ज्ञान होते ही ईश्वर उस शरीर को तदनुरूप कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं और किसी शरीर को गतिशील देख ईश्वर उसकी आत्मा में तदनुरूप संवेदन करने की क्षमता प्रदान करते हैं। ज्ञान और गति की क्रिया का निमित्त कारण ईश्वर के सिवाय कोई दूसरा न होने के कारण ग्यूलिंकस और मेलेब्रान्श के देहात्म समस्या के समाधान सम्बन्धी सिद्धान्त को 'निमित्तवाद' के रूप में दर्शन जगत् में जाना जाता है। ग्यूलिक्स ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि ईश्वर के कारण मेरा शरीर गति करता है तथा मेलेब्रान्श ने इस बात पर बल दिया कि ईश्वर के कारण मेरी आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है।

अत: यह कहना आसान हो जाता है कि डेकार्ट के क्रिया-प्रतिक्रियावाद (अन्त:क्रियावाद) के दोषों को दूर करने के उद्देश्य से ग्यूलिक्स और मेलेब्रान्श ने एक नया चिन्तन प्रस्तुत किया किन्तु इस चिन्तन में स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व पर प्रश्नवाचक चिह्न लगने के कारण देहात्म समस्या का समाधायक यह सिद्धान्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भी दोषों से परे नहीं रह गया। यदि ईश्वर ही सब कुछ है तो मानवीय स्वतंत्रता एवं उत्तरदायित्व का कोई महत्व नहीं रह जायेगा। दूसरी समस्या यह है कि यदि ईश्वर ही सब कुछ है तो संसार में अन्याय अनीति, दुराचार, पाप आदि क्यों? सर्वशक्तिमान ईश्वर के प्रमुख कारण होने से इन सबका कोई अस्तित्व नहीं होना चाहिए। जबकि संसार में पुण्य के साथ पाप न्याय के साथ अन्याय, शुभ के साथ अशुभ और उचित के साथ अनुचित का अस्तित्व है तो फिर ईश्वर सब कुछ कैसे? इस प्रकार असंख्य आत्माओं एवं असंख्य शरीरों के ज्ञान और कर्म के अवसर पर ईश्वर के सक्रिय उत्तदायित्व की बात कहकर ग्यूलिंक्स और मेलेब्रान्श ने ठीक नहीं किया। यद्यपि दोनों दार्शनिकों ने उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर अपने ढंग से दिया हो पर कोई सटीक एवं उपयुक्त तथ्य प्रस्तुत न कर पाने के कारण अपने 'निमित्तवाद' या 'संयोगवाद' की पूर्ण सुरक्षा ये नहीं कर सके पर इतना जरूर कहना होगा कि इन दोनों को इस माध्यम से कोई सफलता मिली या न मिली हो किन्तु डेकार्ट के द्वैतवाद को पिघलाकर स्पिनोजा के अद्वैतवाद के लिए प्रशस्तभूमि जरूर तैयार करने में इन्हें सफलता मिली है। ईश्वर के कारण मेरा शरीर कर्म करता है, ग्युलिक्स के इस वाक्य से आत्मा का और मेलोब्रान्श के इस वाक्य से कि ईश्वर के कारण मेरी आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है। इससे शरीर के द्रव्यत्व की उपेक्षा का आभास होता है। इससे इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि ग्युलिक्स और मेलेब्रान्श का देहात्म समस्या का समाधान भी संगतपूर्ण नहीं है।

7.2.3 समानान्तरवाद (Parallelism)

देह और आत्मा की समस्या का अपने ढंग से समाधान स्पिनोजा (1632-1677 ई.) ने ग्रन्थ एथिक्स में किया है। उन्होंने डेकार्ट की तरह देह और आत्मा को न तो पूर्णतया भिन्न मानकर उसमें क्रिया-प्रतिक्रियावाद का सम्बन्ध स्वीकार किया है और न ही ऐसा मानते हैं कि एक की प्रतिक्रिया का कारण दूसरे की क्रिया। उन्होंने डेकार्ट के कारण और कार्य सम्बन्ध को बिल्कुल अस्वीकार कर दिया। स्पिनोजा के अनुसार कारण-कार्य का सम्बन्ध वहां होता है जहां दो अलग-अलग द्रव्य होते हैं। जब दो अलग-अलग द्रव्य है ही नहीं तो उनमें कारण-कार्य का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? स्पिनोजा के अनुसार डेकार्ट की यह भूल थी कि देह और आत्मा को पहले बिल्कुल विरोधी स्वीकार किया और फिर जबर्दस्ती दोनों के व्यापार में कारण-कार्य सम्बन्ध स्वीकार कर क्रिया-प्रतिक्रिया की स्थापना की, जो बिल्कुल ठीक नहीं। स्पिनोजा ग्यूलिक्स और मेलेब्रान्श के निमित्तवाद (संयोगवाद) से भी सहमत नहीं है। इन लोगों ने भी डेकार्ट की तरह दोनों को स्वतंत्र एवं विरोधी द्रव्य स्वीकार कर उनमें जबर्दस्ती मेल कराने की कोशिश की और जब कहीं यह मेल संभव होता नहीं दिखाई दिया तो इस मेल का निमित्त ईश्वर को मानकर देहात्म सम्बन्ध के लिए निमित्तवाद की स्थापना की परन्तु उसका 'निमित्तवाद' इस समस्या का समाधान नहीं कर सका।

एथिक्स ग्रन्थ में स्पिनोजा कहते हैं कि देह और आत्मा पूर्णतया स्वतंत्र द्रव्य नहीं है। द्रव्य तो एक ही है और वह है ईश्वर। चित्त और अचित्त ये उस ईश्वर के गुण हैं। चित्त और अचित्त अर्थात् आत्मा और शरीर एक ही ईश्वर के गुण हैं। इन दोनों में कार्य-कारण का सम्बन्ध नहीं है। दोनों समानान्तर हैं। मन की अपनी दुनिया है और देह की अपनी दुनिया। ये दोनों समानान्तर हैं। ये दोनों संयोगी नहीं, किन्तु सहयोगी हैं। ये दोनों विरोधी नहीं अपितु भिन्न हैं। सहयोगी और समानान्तर होने के कारण जो बात आत्मा में घटती है, वही देह में और जो देह में घटता है वही आत्मा में। उदाहरण के लिए अगर आत्मा में कहने का विचार उठता है तो शरीर में उसके समानान्तर गति की घटना होती है और जब शरीर में कोई रोग होता है तो आत्मा में उसका विचार उठता है। इस तरह एक ही घटना आत्मा और शरीर में घट रही है। इससे भ्रम उत्पन्न होता है कि आत्मा का प्रभाव देह पर और देह का प्रभाव आत्मा पर पड़ता है। परन्तु ये दोनों भिन्न-भिन्न द्रव्य नहीं अपितु एक ईश्वर के ये अंश हैं। एफ. थिली ने इसी तथ्य को अपने ग्रन्थ A History of Philosophy में इस प्रकार लिखा है-

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

"We can not explain the mental by the physical, as materialism does, nor the physical by the mental, as idealism does. Both the mental and the physical realms, the world of thought and world of motion, are manifestations of one and the same universal reality, and are of equal rank, neither is the cause nor the effect of the other, both are the effects of the same cause, both flow from the same substance. God regarded in one of his aspects, is a spaceoccupying, moving thing, in another aspect, it is an ideal world. This is what may be called a double & aspect theory, it is likewise a form of phyco-physical parallelism, the other and connection in the one realms are the same in the other."

अर्थात् भौतिकवादियों की तरह अचेतन से चेतना की और प्रत्ययवादियों की तरह चेतन से अचेतन की व्याख्या हम नहीं कर सकते। स्पिनोजा के अनुसार जड़ और चेतन, विस्तार और विचार, चित् और अचित् दोनों का उद्गम एक ही ईश्वर है। अतः जड़-चेतन में कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। दोनों का स्तर समान है। दोनों समानान्तर हैं। दोनों ईश्वर के अंश हैं। एक ही ईश्वर अचेतन के कार्यों में अचेतन प्रतीत होता है और चेतन के कार्यों में चेतन। ईश्वर द्विरूपात्मक है। चित्त और अचित्त दोनों इसके स्वरूप हैं। ये आपस में कार्य-कारण सम्बन्ध से नहीं अपितु समानान्तर सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार मन और शरीर के सम्बन्ध मं डेकार्ट के द्वैतवाद को अस्वीकार कर स्पिनोजा ने अद्वैतवाद को स्वीकार किया।

किन्तु समानान्तर सम्बन्ध में अनेक प्रकार की कठिनाइयां दृष्टिगोचर होती हैं। समानान्तरवाद सर्वमनस्वाद की ओर हमें ले जाता है, जो ठीक नहीं है। इसे मान लेने से जहां कहीं भी शारीरिक क्रिया है, वहां मानसिक क्रिया अवश्य होगी चाहे वह कितना ही भिन्न क्यों न हो? इससे तो हम केवल मानव शरीर की क्रियाओं में ही नहीं अपितु भौतिक तत्त्वों में भी मनस् की सत्ता को स्वीकार करना होगा, जो शायद ही किसी के गले उतरे। दूसरी बात यह है कि यदि एक ही ईश्वर में आत्मा और शरीर दो समानान्तर धाराओं के रूप में बह रहे हैं तो कभी एक-दूसरे के बाधक नहीं होना चाहिए परन्तु यह देखा जाता है कि कभी-कभी किसी चिन्तन में ध्यानमग्न हैं और अचानक किसी जोर की आवाज से हम चौंक जाते हैं तो यह मानसिक क्रिया में शारीरिक बाधा ही है, जिसकी व्याख्या समानान्तरवाद कर नहीं पाता अतः देहात्म समस्या से सम्बन्धित यह सिद्धान्त भी पूर्णतया उचित नहीं हैं।

7.2.4 पूर्व स्थापित सामंजस्य

लाइबनीज, डेकार्ट की तरह आत्मा और शरीर को न तो पृथक्-पृथक् मानता है और न ही वह स्पिनोजा की तरह किसी एक द्रव्य का गुण अपितु वह दोनों को ही चैतन्य रूप मानता है। लाइबनीज के अनुसार चेतना के अतिरिक्त और किसी की सत्ता ही नहीं है। जिसे लोग जड़ मानते हैं, लाइबनीज के अनुसार उसमें भी ईषत् चेतना रहती है। पाषाण से लेकर ईश्वर तक सभी तत्वों में चेतना किसी-न-किसी रूप में होती है। लाइबनीज ने तो जड़ ओर चेतन का द्वैत भी स्वीकार नहीं किया। उसके अनुसार आत्मा श्रेष्ठ चिदणु है और शरीर निम्नकोटि का किन्तु दोनों ही चिदणु हैं।

वैसे तो चिदणु गवाक्षहीन (Windowless) है, छिद्ररहित अर्थात् वाह्य प्रभाव से रहित हैं। वे अपने आन्तरिक नियमों से ही संचालित होते हैं। देह के चिदणु और आत्मचिदणु परस्पर निर्भर नहीं हैं और न इनमें कोई क्रिया-प्रतिक्रिया ही हो सकती है और न ये समानान्तर गुण हैं। इनमें केवल पूर्व स्थापित सामंजस्य है। डेकार्ट ने देह और आत्मा को पूर्ण तथा स्वतंत्र द्रव्य मानकर उनमें क्रिया-प्रतिक्रिया का सम्बन्ध स्वीकार किया और ग्यूलिंक्स और मेलेब्रान्श ने प्रत्येक ज्ञान और कर्म के लिए ईश्वर को आवश्यक मानकर आत्मा और शरीर में सम्बन्ध स्थापित किया। स्पिनोजा ने इन्हें एक द्रव्य मानकर समानान्तर धाराओं के रूप में इनकी व्याख्या की। देह और आत्मा के सम्बन्ध में जहां डेकार्ट ने ईश्वर की इच्छा को आवश्यक माना वहीं ग्यूलिंक्स और मेलेब्रान्श ने ईश्वर की इच्छा से ही काम नहीं चलाया अपितु आत्मा और शरीर में प्रत्येक ज्ञान और कर्म के समय ईश्वर के हस्तक्षेप को आवश्यक बतलाया। स्पिनोजा ने देह और आत्मा को उस ईश्वर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

की दो समानान्तर धारायें स्वीकार कर ईश्वर के योगदान को स्वीकार किया किन्तु लाइबनीज का ईश्वर इतना समर्थ है कि उसे बार-बार सम्बन्ध हेतु हस्तक्षेप नहीं करना पड़ता अपितु वह इनके निर्माण के साथ उन्हें इस प्रकार व्यवस्थित कर देता है कि इनमें सदा सामंजस्य बना रहता है। यह सामंजस्य ईश्वर के द्वारा सृष्टि के पूर्व ही स्थापित है। आर फाल्केनवर्ग ने 'A History of Philosophy' में यह स्पष्ट करते हुये कहा कि-

"The correspondence of the different pictures of the world, however, is grounded in a divine arrangement, through which the nature of the monad has from the very beginning been so adapted to one another that the changes in their states, although they take place in each according to immanent laws and without external influence, follow an exactly parallel course, and the result is the same as though there were a constant mutual interaction."

अर्थात् चिदणु स्वतंत्र तथा निरपेक्ष होकर भी एक-दूसरे के सहयोगी हैं। इस कारण संसार में नियम तथा व्यवस्था है। विश्व में नियम तथा व्यवस्था, एकता तथा सामंजस्य का कारण ईश्वर है। यह सामंजस्य ईश्वर के द्वारा सृष्टि के पूर्व ही स्थापित है। चिदणु की सृष्टि करने के समय ही ईश्वर ने ऐसी व्यवस्था निश्चित कर दी है कि सभी चिदणुओं में समान परिवर्तन हो।

इसी तथ्य को लाइबनीज ने अपने अंतिम वर्षो में क्लार्क को लिखे पत्र में इस प्रकार स्पष्ट किया है-

"The harmony or correspondence between the soul and the body is not a perpetual miracle but the effect of consequence of an original miracle worked at the creation of things. Though indeed it is perpetual wonder, as many natural things are." अर्थात् यह पूरा संसार ईश्वर द्वारा निर्मित सामंजस्य का परिणाम है।

लाइबनीज ने अपने Monodology ग्रन्थ में ईश्वर को 'चिदणुओं का चिदणु' कहा है। उसके अनुसार चिदणु अनेक हैं परन्तु उसका कारण ईश्वर एक है। चिदणु अनेक हैं फिर भी उनमें एकता है और इस एकता का कारण ईश्वर के अतिरिक्त और कोई द्रव्य नहीं हो सकता। उसका कथन है-

"The monads are neither absolutely premitive and eternal nor in a world, the absolute, but they depend on divinity, the primitive unity or the original simple substance of which all monads, created or derived, are the products and are born.

शरीरात्मवाद की समस्या का समाधान लाइबनीज दो घड़ियों के दृष्टान्त के आधार पर भी करता है। उसके अनुसार ईश्वररूप सक्षम, समर्थ घड़ीसाज ने आत्मा और शरीररूपी घड़ी का निर्माण करते समय ही उन्हें आपस में ऐसा व्यवस्थित कर दिया है कि एक समान समय देना उनकी नियति है। घड़ी के दृष्टान्त को सभी देहात्मवादियों पर घटित किया जा सकता है। डेकार्ट के अनुसार वे एक यंत्र से परस्पर जुड़ी हुई है। जिसके कारण एक सी चलती हैं, एक की क्रिया से दूसरी में उसकी प्रतिक्रिया होती है। स्पिनोजा ने कहा कि ये एक घड़ी की दो समानान्तर छाया है, इसलिए एक सा समय बताती है। ग्यूलिंक्स और मेलेब्रान्श ने कहा कि एक घड़ीसाज इतना कुशल और चतुर है कि ये घड़ियां ऐसी ही बनाई हैं कि वे सदा एक-सा समय बताती रहे। इस प्रकार लाइबनीज ने पूर्वस्थापित सामंजस्य के माध्यम से शरीरात्मवाद की समस्या का समाधान किया। किन्तु जब हम उसके पूर्वस्थापित सामंजस्य के बारे में गम्भीरता से चिन्तन करते हैं तो निम्न विसंगतियां दृष्टिगोचर होती हैं-

1. लाइबनीज के अनुसार यदि चिदणु गवाक्षहीन, रन्ध्रहीन हैं अर्थात् एक-दूसरे से स्वतंत्र एवं अप्रभावित है तो फिर इनमें पूर्वस्थापित सामंजस्य कैसे? और यदि पूर्वस्थापित सामंजस्य है तो ये एक-दूसरे से स्वतंत्र एवं अप्रभावित कैसे हो सकते हैं।
2. यदि चिदणु अनादि, अनंत और नित्य है तो आत्मचिदणु और शरीर चिदणु भी ऐसे होने चाहिए तो फिर ये ईश्वर सृष्ट और पूर्वस्थापित सामंजस्य रूप कैसे हो सकते है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. एक तरफ ईश्वर को सर्वोत्तम चिदणु कहना और दूसरी तरफ चिदणु स्रष्टा कहना कहां तक उचित है। यदि ईश्वर सर्वोत्तम चिदणु है तो वह चिदणुओं में पूर्वस्थापित सामंजस्य केसे स्थापित कर सकता है?

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि शरीर और आत्मा का पारस्परिक सम्बन्ध बुद्धिवादी दार्शनिकों के लिए बहुत बड़ी समस्या है। डेकार्ट, ग्यूलिंक्स, मेलेब्रान्श, स्पिनोजा और लाइबनीज ने अपने-अपने ढंग से इसको समाहित करने का प्रयास किया है किन्तु निर्विवाद समाधान कोई नहीं दे सका।

7.3 जैनदर्शन में आत्मा और शरीर का सम्बन्ध

जैन दर्शन में जीव और शरीर के सम्बन्ध को स्वीकार किया गया है। यहां जीव और शरीर में परस्पर न केवल भेद है और न केवल अभेद है अपितु भेदाभेद है। यह भेदाभेद अनेकान्त द्वारा सिद्ध है। भगवती में गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा- "आया भंते! काये? अण्णे काये?

गोयमा! आया वि काये, अण्णे वि काये।"

यदि आत्मा और शरीर में सर्वथा भेद होता तो ये परस्पर कभी नहीं मिलते और यदि सर्वथा अभेद होता तो ये अलग-अलग न होते। चूंकि ये अलग-अलग जाने जाते हैं, अत: कोरा अभेद भी नहीं कह सकते। इसीलिए भगवान् महावीर ने दोनों विरोधी वादों में समन्वय स्थापित करते हुए आत्मा और शरीर में भेदाभेद देखते हैं। शरीर के नष्ट हो जाने पर आत्मा का अस्तित्व रहता है तथा सिद्धावस्था में अशरीर आत्मा ही रहती है, अत: आत्मा और शरीर भिन्न भिन्न है। संसारावस्था में आत्मा और शरीर क्षीर-नीरवत् या अग्नि-लोहपिण्डवत् तादात्म्य होता है। जीव का शुद्ध रूप शरीर से भिन्न है, जो मोक्ष की अवस्था है और जीव का अशुद्ध रूप शरीर से युक्त है, जो बंधन या संसार की अवस्था है। द्रव्यानुयोग तर्कणा में इसी को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है-

"शुद्धो भाव: केवलमन्यश्चोपाधिक: स्मृत:।
शुद्धं बिना न मुक्तिश्च विनाऽशुद्धं न लेपता।।"

अर्थात् आत्मा का केवल निजस्वरूप मात्र से जो स्थिति है, शुद्ध भाव है और उपाधि से उत्पन्न हुआ अशुद्ध भाव है। शुद्ध भाव के बिना मुक्ति नहीं होती और अशुद्ध भाव के बिना जीव के कर्मो का बंधन नहीं होता है।

संसारावस्था में शरीर से किसी वस्तु का स्पर्श होनेपर आत्मा में संवेदन होता है और शरीर के द्वारा किये गये कार्य का भोग आत्मा को करना पड़ता है अत: शरीर और आत्मा अभिन्न है। भगवतीसूत्र में आत्मा के गति, इन्द्रिय आदि दस भेद गिनाये हैं। यदि आत्मा और शरीर का अभेद न माना जाए तो इन परिणामों को जीव परिणाम नहीं माना जा सकता था। इसी प्रकार जीव को सवर्ण, सगन्ध आदि माना, वह भी जीव शरीर के अभेद हेतु से ही माना है। भगवतीसूत्र में जीव को अरूपी एवं अकर्म भी कहा गया है। अत: जीव और शरीर में भेदाभेद है। जैनदर्शन में पांच प्रकार का शरीर माना गया है, जो इस प्रकार है-

1. औदारिक शरीर 2. वैक्रियक शरीर 3. आहारक शरीर 4. तैजस शरीर 5. कार्मण शरीर

स्थूल पुद्गलों से निष्पन्न रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्ररूप धातुमय शरीर के निर्माण को औदारिक शरीर कहते हैं। भांति-भांति के रूप, आकृति (छोटा-बड़ा, हल्का-भारी, दृश्य-अदृश्यं) आदि करने में समर्थ शरीर वैक्रिय शरीर कहलाता है। विशेष तपस्या आदि उपक्रम से प्राप्त योगशक्ति से निष्पन्न शरीर आहारक शरीर कहलाता है। इस शरीर का उपयोग चतुर्दशपूर्व-धर (विशेष ज्ञानी) साधु अपनी जिज्ञासा के समाधान के लिए दूरसंचार में करते हैं। तैजस् शरीर प्रत्येक प्राणी के स्थूल शरीर के साथ रहने वाला सूक्ष्म शरीर है, जो निरन्तर जीव के साथ रहता है। मृत्यु के उपरान्त भी तैजस् शरीर प्रत्येक प्राणी के स्थूल शरीर की तरह सदा जीव के साथ रहता है। अत: जीव और शरीर दोनों ही रूपी और अरूपी हैं। संसारावस्था का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जीव रूपी और मुक्तावस्था का जीव अरूपी है। इसी प्रकार औदारिक शरीर की अपेक्षा से शरीर रूपी और कार्मण की अपेक्षा से अरूपी है। अत: सापेक्ष दृष्टि से आत्मा और शरीर में भेदाभेद ही सिद्ध है।

7.3.1 सम्बन्ध कब से?

अब प्रश्न यह उठता है कि आत्मा और शरीर का यह सम्बन्ध कब से? चूंकि आत्मा और कर्म का अनादिकाल से सम्बन्ध है, अत: आत्मा और शरीर का सम्बन्ध भी अनादिकाल से है। तत्त्वार्थसूत्र के 'सकषायत्वाज्जीव: कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्ध:' सूत्र में आये 'कर्मणो योग्यान्' विशेषण से भी आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि सिद्ध होता है। इस विशेषण की व्याख्या करते हुए आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि पूर्वजन्म के कर्मके कारण जीव कषाययुक्त होता है और कषायों के कारण कर्म आते हैं कषायरहित जीवों के बन्ध नहीं होता। अत: सिद्ध है कि जीव और कर्म (कार्मण शरीर) का बीज और वृक्ष की तरह अनादिकालीन कार्य कारण सम्बन्ध है। तत्त्वार्थवार्तिक (8/2/12) में कहा गया है, "जिस प्रकार भण्डार से पुराने चावल निकाल लिये जाते हैं और नये भर दिये जाते हैं, उसी प्रकार अनादि कार्मण-शरीर भण्डार में कर्मो का आना-जाना होता रहता है।"

7.3.2 अमूर्त्त और मूर्त्त का सम्बन्ध कैसे?

एक प्रश्न और उठता है कि अमूर्त्त आत्मा का मूर्त्त शरीर से सम्बन्ध कैसे होता है? इस समस्या का समाधान अन्य-अन्य दर्शनों में तो कठिन है क्योंकि वहां आत्मा को केवल अमूर्त रूप में मानते हैं। जबकि जैनदर्शन में आत्मा को मूर्त्तामूर्त्त रूप स्वीकार किया गया है, अत: इस समस्या के समाधान में यहां कठिनाई नहीं है। यहां शुद्ध आत्मा को अमूर्त्त या अशरीरी ही माना गया है किन्तु अशुद्ध आत्मा या बद्ध आत्मा अथवा संसारी आत्मा मूर्त्त ही है। सर्वार्थसिद्धि (2/7) में कहा गया है कि संसारी आत्मा कर्म-संयुक्त होने से कथँचित मूर्त्त होने के कारण उसके साथ मूर्त्त कर्मो का ही बंध होता है।

7.3.3 आत्मा सदेह परिमाणी

वैसे भी जैनदर्शन में आत्मा को शरीर परिमाण माना गया है। वृहद द्रव्यसंग्रह में 'सदेह परिमाणो' कहकर आत्मा का देहपरिमाणत्व सिद्ध किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने आत्मा के शरीर परिमाणत्व की सिद्धि तथा उसके व्यापकत्व का निराकरण करते हुए अन्ययोगव्यवच्छेदिका में कहा है-

यत्रैव यो दृष्ट गुण: स तत्र कुम्भादिवत निष्प्रतिपक्षसमेतत्।
तथापि देहाद् बहिरात्मतत्त्वमतत्त्व वादोपहता: पठन्ति।

अर्थात् जिस पदार्थ के गुण जहां उपलब्ध होते हैं वह पदार्थ वहीं होता है, अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। आत्मा के ज्ञानादि गुण शरीर में उपलब्ध है। अत: आत्मा शरीरव्यापी है, विभु नहीं है। आत्मा के शरीर परिमाणत्व को प्रस्तुत करते हुए आचार्य मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी में कहा है-

"आत्मा सर्वगतो न भवति, सर्वत्रतदगुणानुपलब्धे:, यो य सर्वत्रानुपलभ्यमानगुण: स स सर्वगतो न भवति, यथा घट: तथाचायम् तस्मात् तथा व्यतिरेके व्योमाद्।"

विशेषावश्यकभाष्य में इसी को इस रूप में स्पष्ट करते हुए कहा गया है जिस वस्तु के गुण जहां उपलब्ध नहीं होते वह वस्तु वहां नहीं होती। उदाहरणार्थ अग्नि के गुण जल में नहीं होते, इसलिए अग्नि जल में नहीं होती है। आत्मा कार्मण शरीर की सहायता से ही संकोच-विकोच स्वभाव वाला होने के कारण देह परिमाण है, ऐसा तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है। पंचास्तिकाय में भी उल्लेख है कि कार्मण शरीर जब तक आत्मा के साथ रहता है, तभी तब आत्मा में संकोच-विस्तार की शक्ति पायी जाती है। जिस समय आत्मा समस्त कर्मो का क्षय करके मुक्त हो जाता है उस समय उसमें संकोच-विस्तार की शक्ति नष्ट हो जाती है। अत: संसारी आत्मा संकोच-विस्तार शक्ति के कारण देह प्रमाण है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

7.4 पाश्चात्य देहात्म सम्बन्ध की जैन दर्शन से तुलना

पाश्चात्य दर्शन में देहात्म सम्बन्ध की समस्या के समाधान के लिए डेकार्ट का क्रिया-प्रतिक्रियावाद, ग्यूलिंक्स और मेलेब्रान्श के निमित्तवाद, स्पिनोजा के समानान्तरवाद तथा लाइबनीज के पूर्वस्थापित सामंजस्य का जैनदर्शन के देहात्म सम्बन्ध से तुलना करते हैं तो सबसे प्रमुख तथ्य जो सामने आता है वह यह है कि उपर्युक्त सभी दार्शनिकों के दर्शन में देहात्म सम्बन्ध में किसी-न-किसी रूप में ईश्वर को अवश्य स्वीकार किया गया है। डेकार्ट के अनुसार ईश्वर की ऐसी इच्छा है कि आत्मा की क्रिया की प्रतिक्रिया शरीर में हो और शरीर की क्रिया की प्रतिक्रिया आत्मा में हो। ग्यूलिंक्स और मेलेब्रान्श ने ईश्वर की इच्छा से ही काम नहीं चलाया अपितु ईश्वर के कारण से ही आत्मा में ज्ञान और शरीर में गति को स्वीकार किया। स्पिनोजा ने तो इनसे भी एक कदम आगे बढ़ते हुए यह माना कि मूल द्रव्य ईश्वर ही है और आत्मा तथा शरीर उस ईश्वरद्रव्य के गुण हैं, जो समानान्तर धाराओं के रूप में बह रहे हैं। लाइबनीज स्पिनोजा से भी एक कदम आगे बढ़कर शरीर के जुड़ाव को गुण स्तर पर भी अस्वीकार कर सर्वचेतन की मान्यता को स्वीकार करते हुए आत्मा और शरीर के रूप में सघन चेतना का विरल चेतना से सम्बन्ध ईश्वर ने निर्माण के साथ ही स्थापित कर दिया है। अर्थात् लाइबनीज का ईश्वर पूर्ववर्ती सभी दार्शनिकों से अधिक सक्षम एवं शक्तिशाली ईश्वर है कि सृष्टि के निर्माण के साथ ही उसने आत्मा और शरीर में सम्बन्ध स्थापित कर दिया। अत: यह कहना समुचित होगा कि जहां पाश्चात्य के इन दार्शनिकों ने आत्मा और शरीर में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए किसी न किसी रूप में ईश्वर को स्वीकार किया वहाँ जैनदर्शन में आत्मा और शरीर के सम्बन्ध में किसी भी स्तर पर किसी भी रूप में ईश्वर को स्वीकार नहीं किया गया है। जो कार्य इन दार्शनिकों ने ईश्वर से लिया वह कार्य जैनदर्शन में कर्म के द्वारा ही स्वीकार किया गया है। अमृतचन्दसूरि ने 'पंचास्तिकाय' की टीका में कहा है-"निश्चय नय की अपेक्षा से अमूर्त्त जीव अनादिकाल से मूर्त्त कर्म के कारण रागादि परिणामों से स्निग्ध होता हुआ मूर्त्त कर्मो का विशेष रूप से अवगाहन करता है और उस परिपाक को पाकर मूर्त्त कर्म भी जीव का विशिष्ट रूप से अवगाहन करते हैं।"

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जैनदर्शन में आत्मा और शरीर में न भेद है और न अभेद अपितु भेदाभेद है तथा आत्मा और शरीर के सम्बन्ध का कारण कर्म को ही माना जा सकता है, किसी अन्य सत्ता को नहीं।

7.4.1 डेकार्ट और जैन दर्शन

देहात्म समस्या के समाधान को लेकर डेकार्ट ने क्रिया-प्रतिक्रिया के सम्बन्ध को स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में उसने 'पीनियल ग्लैण्ड' को मध्यस्थ रूप में स्वीकार किया। उसके अनुसार "The soul has its principal seat in the Pineal Gland." इसी पीनियलग्लैण्ड में रहकर आत्मा सम्पूर्ण शरीर को गतिशील करता है और वह ऐसा इसलिए कर पाता है क्योंकि ईश्वर की ऐसी इच्छा हैं। डेकार्ट के देहात्म सम्बन्ध के कुछ पहलू इस प्रकार हैं-

1. आत्मा और शरीर पूर्णतया विरोधी है।
2. आत्मा का निवास स्थान पीनियल ग्लैण्ड है।
3. आत्मा और शरीर में एक ही क्रिया से दूसरे में प्रतिक्रिया देखी जाती है।
4. आत्मा और शरीर का सम्बन्ध ईश्वर की इच्छा से होता है।

उपर्युक्त बिन्दुओं से जैनदर्शन को संदर्भित करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जैनदर्शन मं डेकार्ट की तरह आत्मा और शरीर को पूर्णतया विरोधी ही नहीं माना गया है। शुद्धात्मा का अशरीरी होने से शरीर से विरोध है किन्तु संसारी आत्मा का शरीर से विरोध नहीं है अपितु संसारी आत्मा कार्मण शरीर से युक्त है।

दूसरी बात जहां डेकार्ट का यह मानना है कि आत्मा का निवास स्थान पीनियलग्लैण्ड है वहां जैनदर्शन में आत्मा को शरीर व्यापी माना गया है। यह केवल शरीर किसी एक अंग में नहीं अपितु अंग प्रत्यंग में है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जहां तक क्रिया-प्रतिक्रिया की बात है जैनदर्शन भी इसे इस रूप में स्वीकार करता है कि संसारी अवस्था में आत्मा और शरीर एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं। डेकार्ट ने यह सम्बन्ध ईश्वर की इच्छा से स्वीकार किया है जबकि जैनदर्शन में इसे 'कर्म' के द्वारा स्वीकार किया गया है। यहां इस प्रकार का कोई ईश्वर स्वीकार नहीं है। इस प्रकार डेकार्ट ने आत्मा और शरीर को बिल्कुल भिन्न मानकर पीनियलग्लैण्ड के माध्यम से जो सम्बन्ध स्वीकार किया उसमें अनेकानेक कठिनाइयां दृष्टिगोचर होती हैं जबकि जैनदर्शन ने संसारी आत्मा को शरीर से पूर्णतया भिन्न न स्वीकार कर और आत्मा को शरीर परिमाण मानकर उन समस्याओं से निजात पा ली जो डेकार्ट के सम्बन्ध के संदर्भ में देखे जाते है।

7.4.2 ग्यूलिंक्स, मेलेब्रान्श और जैनदर्शन

ग्यूलिंक्स और मेलेब्रान्श के अनुसार ईश्वर ही वह शक्त कारण है जिसके माध्यम से आत्मा ज्ञान का और शरीर कर्म का निमित्त बनता है। ये दोनों दार्शनिक चूंकि डेकार्ट के शिष्य थे अत: इन्हें भी द्वैतवादी कहा जा सकता है। इन्होंने आत्मा और शरीर के सम्बन्ध में ईश्वर की इच्छा से ही काम नहीं चलाया अपितु इस कार्य के लिए ये पूर्णतया ईश्वर पर निर्भर हो गये। परन्तु जैनदर्शन में देहात्म समस्या के समाधान के रूप में किसी ईश्वर को स्वीकार नहीं किया गया है। यदि ईश्वर कारण होता तो शायद स्वस्थ एवं आकर्षक शरीर को स्वस्थ आत्मा मिलता और स्वस्थ आत्मा स्वस्थ एवं आकर्षक शरीर मिलता किन्तु पाश्चात्य दार्शनिकों में ही देखते हैं कि सुकरात जैसा स्वस्थ आत्मावान को अनाकर्षक शरीर मिला और काण्ट के अस्वस्थ शरीर को स्वस्थ आत्मा प्राप्त हुई। इस प्रकार आत्मा एवं शरीर के सम्बन्ध का कारण ईश्वर को मानना भी तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता है। ऐसा मानने से प्रतिदिन के कार्यो में हस्तक्षेप करने वाले कुम्भकार, बढ़ई आदि से अधिक हैसियत ईश्वर की नहीं रह पायेगी।

7.4.3 स्पिनोजा और जैनदर्शन

देहात्म के संदर्भ में स्पिनोजा का अभिमत कुछ भिन्न है। वह चूंकि अद्वैतवादी है अत: डेकार्ट की तरह वह आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न द्रव्य नहीं मानता अपितु एक द्रव्य ईश्वर के गुण के रूप में स्वीकार करता है। इसीलिए एक ही द्रव्य के ये दो अंश हैं। उसका मानना है कि अंशी की प्रेरणा से अंश आपस में समानान्तरणरूप में सम्बन्धित हैं। ये एक ही भूभाग में बहने वाली दो धाराएं हैं, जो धरातल की एकता के कारण आपस में सम्बन्धित हैं। जैनदर्शन स्पिनोजा के इस विचार से कथमपि सम्बन्धित नहीं है कि आत्मा और शरीर किसी ईश्वर के गुण या अंश रूप में हैं वह यह भी नहीं मानता कि शारीरिक और आत्मिक क्रियाएं गाड़ी के दो पहिए की तरह है, जो एक साथ समानान्तर रूप से चलते हैं। स्पिनोजा के इस विचार से भी जैनदर्शन सहमत नहीं है कि जहां-जहां पुद्गल या विस्तार होगा वहां-वहां आत्मा या चैतन्यशीलता अवश्य होगी। जैसा की लकड़ी या पत्थर में देखा जाता है। यहां पौद्गलिक अचेतना एवं विस्तार है पर आत्मिक चेतना और अमूर्त्तता नहीं है। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा शरीर से श्रेष्ठ है, उसके समानान्तर (Parallel) नहीं। वह वस्तुत: शरीर का नियंत्रणकर्त्ता तथा संचालक है।

7.4.4 लाइबनीज और जैनदर्शन

पाश्चात्य दर्शन जगत् में देहात्म समस्या के समाधान के लिए लाइबनीज का पूर्वस्थापत्यसामंजस्य का अभिमत काफी प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त की मुख्य दृष्टि इस प्रकार है, जो जैनदर्शन से कथमपि सम्बन्धित नहीं है

1. देह और आत्मा दोनों ही चेतन है।
2. देह और आत्मा के निर्माण के ही समय से ईश्वर ने इनमें सामंजस्य स्थापित कर दिया है।
3. अत: देहात्म की प्रत्येक क्रिया का कारण ईश्वर है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैनदर्शन में लाइबनीज के विरूद्ध जीव को चैतन्यरूप किन्तु शरीरको अचेतन रूप स्वीकार किया है। यहां देहात्म की सम्पूर्ण क्रिया का एक मात्र कारण ईश्वर को स्वीकार किया गया है, जिसे दर्शन मान्य नहीं करता है। यदि ईश्वर ही एकमात्र कारण है और आत्मा तथा शरीर की सक्रियता स्वतंत्र नहीं तो कोरा नियतिवाद को स्वीकार करना पड़ेगा। यह संसार और संसार के प्राणी एक ईश्वर की दया पर निर्भर होंगे। न किसी का कोई कार्य होगा और न किसी का कोई दायित्व ही। संसार के सभी प्राणी उस ईश्वर का खिलौना मात्र बनकर रह जायेंगे। फिर न व्यक्ति का महत्व होगा न काल का और न ही पुरुषार्थ का। अतः जैनदर्शन को यह मत बिल्कुल मान्य नहीं है। इसलिए जैनदर्शन में काल, स्वभाव, नियति, कर्म एवं पुरुषार्थ सब मिलकर ही सृष्टि एवं सृष्टि की प्रत्येक प्रक्रिया के कारण बनते हैं। निरपेक्ष काल आदि एकान्तवाद यहां अयथार्थ है। ये स्वतंत्ररूप से जगत् की व्यवस्था के कारण नहीं हो सकते। किन्तु जब ये सापेक्ष हो जाते हैं तो जगत् के कारण बनते हैं। यहां यह स्पष्ट भी है-

कालो सहावणियई पुव्वकायं पुरिसकारणेगतां।
मिच्छतं ते चेवा समासओ होति सम्मतां।।

निम्न चार्ट से देहात्म समस्या के समाधान में प्रस्तुत विभिन्न दृष्टिकोण को समझा जा सकता है-

डेकार्ट	ग्यूलिंक्स मेलेब्रान्श	स्पिनोजा	लाइबनीज	जैनदर्शन
1. आत्मा-शरीर दो द्रव्य	दो द्रव्य	आत्मा और शरीर ईश्वर के गुण	अनेक द्रव्य विचार के कारण दोनों द्रव्य हैं	आत्मा द्रव्य एवं शरीर पर्याय है।
2. दोनों द्रव्य एक दूसरे के विरुद्ध हैं।	दोनो द्रव्य एक दूसरे के विरूद्ध हैं।	सहचारी हैं।	दोनों ही चेतन रूप हैं।	दोनों भिन्न-भिन्न हैं।
3. क्रिया-प्रतिक्रियावाद का सम्बन्ध	निमित्तवाद का सम्बन्ध	समानान्तरवाद का सम्बन्ध	पूर्व स्थापित सामंजस्य	भेदाभेदवाद का सम्बन्ध
4. सम्बन्ध ईश्वर की इच्छा से	सम्बन्ध ईश्वर के हर क्षण सक्रिय होने से	अंशी ईश्वर के अंश के रूप में सम्बन्धित	योग्य कुशल ईश्वर के कारण प्रारम्भ से ही सम्बन्ध	कर्म से सम्बन्ध
5. ईश्वरवादी	ईश्वरवादी	नियतिवादी	नियतिवादी	सापेक्षवादी (पंचसमवायवादी)

7.5 सारांश

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पाश्चात्य दर्शन में देहात्म समस्या का समाधान जिन-जिन दार्शनिकों ने किया है वे किसी न किसी अतिवाद को लेकर चले हैं जिसके कारण वे किसी निर्दोष निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाये जबकि जैनदर्शन में सापेक्ष और अनेकान्तिक दृष्टि होने के कारण यह समाधान उपयुक्त प्रतीत होता है।

7.6 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. आत्मा और शरीर के सम्बन्ध के संदर्भ में पाश्चात्य दर्शन और जैनदर्शन के मान्यता की तुलना कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

निम्न पर टिप्पणी लिखिए-

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. पूर्वस्थापित सामंजस्य
2. आत्मा का देह परिमाणत्व

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. पाश्चात्य दार्शनिकों के देहात्म समस्या के समुचित समाधान न होने का क्या कारण है?
2. समानान्तरवाद किसका सिद्धान्त है?
3. देहात्म में कैसा सम्बन्ध जैनदर्शन ने स्वीकार किया है?
4. पीनियलग्लैण्ड को देहात्म समस्या का समाधान किसने माना है?
5. जैनदर्शन में देहात्म सम्बन्ध का मूल कारण क्या है?
6. जैनदर्शन में देहात्म सम्बन्ध कब से?
7. पाश्चात्य के किस दार्शनिक ने देहात्म दोनों को चेतन ही स्वीकार किया है?
8. स्पिनोजा के किस ग्रन्थ में देहात्म के सम्बन्ध की चर्चा है?
9. जैनदर्शन में कितने शरीर स्वीकार किये गये हैं?
10. निमित्तवाद को किसने स्वीकार किया है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग–3 : पाश्चात्य प्रत्यय एवं जैन दर्शन

इकाई–8 : द्रव्य (डेकार्ट, स्पिनोजा एवं जैनदर्शन)

संरचना

8.0 प्रस्तावना

8.1 उद्देश्य

8.2 द्रव्य विचार

8.3 डेकार्ट के दर्शन में द्रव्य विचार

8.4 स्पिनोजा का द्रव्य सम्बन्धी विचार

8.5 डेकार्ट और जैन दर्शन में द्रव्य

8.6 स्पिनोजा और जैन दर्शन में द्रव्य

8.6.1 समानता

8.6.2 असमानता

8.7 सारांश

8.8 अभ्यास प्रश्नावली

8.0 प्रस्तावना

पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग दर्शन जगत् में एक क्रान्तिकारी युग के नाम से प्रसिद्ध है। क्रान्तिकारी इसलिए कि क्योंकि इस युग का जन्मदाता फ्रांस का महान् दार्शनिक रेनेडेकार्ट था, जो हर समय नयी–नयी क्रान्ति करने के संदर्भ में चिन्तनरत रहता था। उसी के इस चिन्तन के फलस्वरूप ही अनेक प्रकार की क्रान्तियां इस युग में दृष्टिगोचर होती है। चाहे मध्ययुगीन धार्मिक दासता के विरुद्ध क्रान्ति हो या पुरानी लीक पर चलकर मान्यताओं को स्वीकार करने के विरुद्ध क्रान्ति हो सर्वत्र डेकार्ट को अग्रणी पाया गया। उसका मानना था कि दर्शन का कोई भी विचार सार्थक और फलीभूत तभी हो सकता है जबकि वह किसी भी प्रकार के अंकुश एवं नियंत्रण से मुक्त हो, चाहे वह द्रव्य विचार क्यों न हो। उसकी यही इच्छा थी कि दर्शन के द्रव्य या किसी विचार पर किसी चर्च एवं पोप को अधिमान्यता न मिले। द्रव्यविचार करते समय हम समस्त प्रकार की पूर्वधारणाओं, मान्यताओं एवं पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर स्वतंत्र चिन्तन करें ताकि किसी सार्थक निष्पत्ति पर पहुंच सके। उस समय जबकि धर्म का चतुर्दिक बोलबाला था, इस प्रकार का चिन्तन अपने आपको मौत के मुंह में डालने जैसा था किन्तु डेकार्ट ने ऐसा करते समय बड़ी सजगता एवं बुद्धिमत्ता से द्रव्य के स्वतंत्र चिन्तन को प्रस्तुत किया, जिसे कालान्तर में स्पिनोजा ने आगे बढ़ाया और लाइबनीज ने चरमोत्कर्ष पर पहुंचा दिया।

8.1 उद्देश्य

यहां डेकार्ट स्पिनोजा के द्रव्य विचार का जैन दर्शन के द्रव्य विचार से तुलना अभीष्ट है।

8.2 द्रव्य विचार

पाश्चात्य युग में द्रव्य के संदर्भ में प्राय: यही मान्यता रही है कि द्रव्य वह स्वतंत्र सत्ता है जो अपने अस्तित्व और ज्ञान के लिए किसी दूसरे पर निर्भर न हो। पाश्चात्य दर्शन के आदियुग (ग्रीकयुग) का प्रारम्भिक युग तो मूलतया जड़द्रव्यवादी युग के नाम से जाना जाता है। इस युग में थेलीज ने जल, एनेक्जेमेनीज ने वायु, हेराक्लाइटस ने अग्नि, एम्पेडाक्लीज ने पृथ्वी, जल अग्नि, वायु एवं ल्युसिपस तथा डिमाक्रिटस ने 'परमाणु' जैसे जड़ द्रव्यों को ही मूल द्रव्य के रूप में स्वीकार किया था। उनके अनुसार जड़ द्रव्य के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य का अस्तित्व संभव नहीं है। इन जड़ द्रव्यवादियों ने भी अपने–अपने द्रव्य को स्वतंत्र, निरपेक्ष, शाश्वत तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। इस दृष्टि से पाश्चात्य दर्शन में अरस्तू के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विचारों में द्रव्य सम्बन्धी अवधारणा कुछ भिन्न-सी दृष्टिगोचर होती है। उसने द्रव्य की स्वतंत्रता और निरपेक्षता का पूरी तरह से हरण कर लिया। उसके अनुसार द्रव्य और आकार निरपेक्ष नहीं एक दूसरे के सापेक्ष हैं। द्रव्य का आकार के रूप में और आकार का द्रव्य के रूप में परिवर्तन होता रहता है। आज का द्रव्य कल का आकार और कल का आकार परसों का द्रव्य हो सकता है। उसने द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता के स्थान पर द्रव्य को परिभाषित करते हुए कहा था कि द्रव्य वह है जो बदलता है, जिसका परिवर्तन होता है और परिवर्तन जिस रूप में होता है वह आकार है। पाश्चात्य दर्शन में द्रव्य सम्बन्धी अरस्तू की परिभाषा पर ध्यान न दिया जाय तो यही कहा जा सकता है कि प्रायः दार्शनिकों ने द्रव्य को स्वतंत्र सत्ता के रूप में ही स्वीकार किया है। स्पिनोजा ने अपने ग्रन्थ 'एथिक्स' में द्रव्य को परिभाषित करते हुए लिखा है कि—

"By substance, I mean that which exists in itself and is conceived by itself, that what does not need the conception of any other thing in order to be conceived."

अर्थात् द्रव्य वह है, जिसकी स्वतंत्र सत्ता हो और जो अपने ज्ञान के लिए भी किसी दूसरे की अपेक्षा न करता हो। तात्पर्य यह है कि द्रव्य अपनी सत्ता एवं ज्ञान दोनों के लिए पूर्णतया स्वतंत्र है। रेने डेकार्ट को भी यही परिभाषा मान्य थी किन्तु लाइबनीज ने इस परिभाषा में थोड़ा परिवर्तन किया। लाइबनीज ने स्वतंत्र सत्ता को उतना महत्त्व नहीं दिया जितना कि स्वतंत्र शक्ति को महत्त्व दिया यों कहना अधिक प्रासंगिक होगा कि लाइबनीज ने द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता के स्थान पर स्वतंत्र शक्ति को प्रतिष्ठित किया। 'मोनोडोलोजी' ग्रन्थ में उसने स्पष्ट उल्लेख किया है कि द्रव्य का अस्तित्व महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, द्रव्य का शक्तित्व महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए उसने अपने सभी चिदबिन्दुओं को शक्ति सम्पन्न स्वीकार किया। इस प्रकार इन विभिन्न परिभाषाओं से यह सर्वमान्य निष्कर्ष निकाला जा सकता है—

1. द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता अनिवार्य है।
2. द्रव्य अपने अस्तित्व के लिए किसी पर निर्भर नहीं है।
3. वह ज्ञान के लिए भी किसी पर निर्भर नहीं है।
4. वह परतंत्र नहीं, स्वतंत्र है।
5. वह निरपेक्ष नहीं, सापेक्ष है।

8.2.1 डेकार्ट के दर्शन में द्रव्य विचार

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में बुद्धिवादी सम्प्रदाय आधुनिक युग में डेकार्ट के दर्शन से प्रारम्भ होता है। डेकार्ट के अनुसार पदार्थ अथवा द्रव्य वह तत्त्व है जिसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता हो, जो अन्य किसी के सापेक्ष न होकर निरपेक्ष हो अर्थात् द्रव्य अपने अस्तित्व एवं ज्ञान के लिए किसी पर निर्भर नहीं होता। डेकार्ट ने द्रव्य को परिभाषित करते हुए कहा है कि—

"A substance is that which exists by itself and the existence of which does not need the existence of anything else."

इसी कारण डेकार्ट ने निरपेक्ष द्रव्य के रूप में एकमात्र ईश्वर को ही स्वीकार किया है। यद्यपि डेकार्ट भी परम द्रव्य ईश्वर को ही मानता है किन्तु ईश्वर के अतिरिक्त चित् और अचित् को भी वह सापेक्ष द्रव्य के रूप में स्वीकार करता है। उसका द्रव्य विचार चार्ट के द्वारा स्पष्ट है—

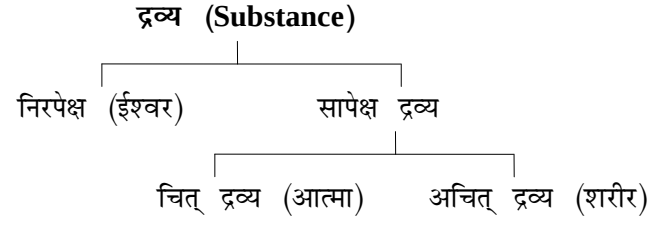

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यों तो डेकार्ट पाश्चात्य दर्शन जगत् में द्वैतवादी के रूप में प्रसिद्ध है। उसका द्वैतवाद सांख्य के द्वैतवाद और आचार्य मध्व के द्वैतवाद से किसी भी रूप में न्यून नहीं है। किन्तु उपर्युक्त चार्ट से स्पष्ट होता है कि वह दो ही नहीं तीन द्रव्य मानता है फिर उसे द्वैतवादी कैसे कहा जा सकता है? इस संदर्भ में डेकार्ट ने अपने ग्रन्थ मेडीटेशन भाग दो में यह स्पष्ट किया है कि ईश्वर ही निरपेक्ष द्रव्य है और चित्, अचित् सापेक्ष द्रव्य हैं। इस प्रकार निरपेक्ष और सापेक्ष द्रव्य के द्वैत और चित् और अचित् द्रव्य के द्वैत के कारण डेकार्ट को तीन द्रव्य मानते हुए भी द्वैतवादी कहा जाता है।

डेकार्ट ने सर्वप्रथम संदेह की विधि से आत्मतत्त्व जैसे सत्य के साक्षात्कार का प्रयास किया। उसके अनुसार सत्य के साक्षात्कार की सर्वोत्तम विधि संदेह की पद्धति है। जिस संदेह को स्वीकार कर पाइरोसेक्सटस संदेहवादी कहलाया उसी संदेह को स्वीकार कर डेकार्ट आत्मतत्त्व तक पहुंचा और संदेहवादी भी नहीं कहलाया क्योंकि उसने संदेह को साधन के रूप में स्वीकार किया था, साध्य के रूप में नहीं। कहा भी गया है कि यदि संदेह साधन के रूप में होता है तो आत्मा के संशय को नष्ट करता है और यदि संदेह साध्य के रूप में होता है तो आत्मा का ही घात करता है। शायद इसीलिए वह साधनरूप में संदेह को स्वीकार कर 'मैं सोचता हूं इसलिए मैं हूं' (Cogito Ergo Sum) के माध्यम से आत्मतत्त्व को सिद्ध किया। डेकार्ट ने अपने ग्रन्थ 'डिसकोर्स ऑन मेथड के चौथे भाग' में इस तथ्य को इस रूप में प्रस्तुत किया है, "जब मै प्रत्येक तथ्य के असत्य होने के बारे में सोच रहा था, तो मैंने अनुभव किया कि ऐसा होना ही चाहिए कि मैं जो सोच रहा था, उसकी सत्ता है और इस बात को समझते हुए कि यह सत्य मैं सोच रहा हूं। अतः मेरी सत्ता है।" इतना ठोस और पक्का है कि इसे संशयवादियों के बड़े-बड़े तर्क भी काट नहीं सकते, तो मैंने निश्चय कर लिया कि इस सत्य को अपने दर्शन का आधारभूत सत्य स्वीकार करने में मुझे किंचित् मात्र भी शंका नहीं करनी चाहिए। डेकार्ट के इस तर्क के माध्यम से आत्मा के संदर्भ में निश्चयात्मकता और असंदिग्धता सिद्ध होती है। डेकार्ट के इस कथन को ए.जे. एअर ने अपने ग्रन्थ 'दि प्राब्लम्स ऑफ नॉलेज' में स्पष्ट करते हुए कहा कि 'प' सत्य है वाक्य यदि 'मैं शंका कर रहा हूं कि 'प' सत्य है' से निर्गमित हो तो 'प' की सत्यता में कोई संदेह नहीं रह जाता। अतः मैं सोचता हूं इसलिए मै हूं, की संदिग्धता ही उसकी स्वतः सिद्धता है।

इस प्रकार डेकार्ट संदेह की विधि से आत्मतत्त्व को प्राप्तकर उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहता है कि आत्मा नित्य, शाश्वत, विभु, चेतन, अतीन्द्रिय, अप्रसारित, स्वतंत्र, अभौतिक, सरल और अविभाज्य है। यह आत्मा चूंकि बौद्धिक है अतः मनुष्यों से परे आत्मा का अस्तित्व नहीं है। वह पशुओं में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। वह कीटाणु, पक्षी और पशु इन सबको पूर्णतया भौतिक मानता है। इनमें आत्मा नहीं मानता है क्योंकि मनुष्यों की तरह मै सोचता हूं अतः मै हूं का अनुभव ये नहीं प्राप्त कर सकते या इनमें यह अनुभव नहीं है। घड़ी और ग्रामोफोन की तरह ही ये भी अपना कार्य करते हैं। जैसे घास उगती है, सूखती है वैसे ही पशु-पक्षी की भावनाएं भी उठती और नष्ट होती हैं। अतः इनमें आत्मा नहीं है। उसके अनुसार यह आत्मा शरीर में निहित मस्तिष्क के मध्य में स्थित पीनियलग्लैण्ड में निहित है। पीनियलग्लैण्ड अर्थात् पुरातत् नाड़ी ही उसका वास है। यहीं से वह पूरे शरीर को सक्रिय करता है। उसके अनुसार सारा ज्ञान हमें इस आत्मा के द्वारा होता है, जिसका गुण चैतन्य और पर्याय संकल्प-विकल्प करना, कल्पना करना, स्मरण करना आदि है।

आत्मतत्त्व के साथ-साथ वह जड़तत्त्व के अस्तित्व को भी स्वीकार करता है। उसका मानना है कि मनुष्य विचारवान् के साथ-साथ विस्तारवान् भी है, इसका सबको प्रत्यक्ष बोध भी होता है। मनुष्य आत्मा के कारण विचारवान् है, परन्तु शरीर के कारण विस्तारवान् है। यह विस्तार आत्मा का गुण नहीं है क्योंकि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आत्मा अभौतिक एवं अप्रसारित (अविस्तारित) है, अत: आत्मा के अतिरिक्त अचित् तत्त्व का अस्तित्व प्रत्यक्षत: बोधित होता है। दूसरी बात यह है कि हर पक्ष का प्रतिपक्ष होता है। पक्ष हो परन्तु प्रतिपक्ष न हो यह असंभव है। चित् पक्ष के सिद्ध होने से प्रतिपक्ष के रूप में अचित् का अस्तित्व भी स्वत: सिद्ध होता है। डेकार्ट के अनुसार विस्तार का प्रत्यय भी अन्य प्रत्ययों की तरह जन्मजात है। इसका हमें साक्षात् और अपरोक्ष ज्ञान होता है। यह स्पष्ट एवं विवेकपूर्ण है। उसका मानना है कि सभी भौतिक वस्तुओं का आवश्यक गुण विस्तार या देश है। यह विस्तार या देश वस्तु सत् है। विस्तार प्रत्यय से सिद्ध होता है कि विस्तार नाम की वस्तु है और विस्तार वस्तु से यह सिद्ध होता है कि विस्तार नाम का प्रत्यय है। अत: विस्तार और विस्तार के प्रत्यय में कारण-कार्य सम्बन्ध न मानकर युगपद् भाव मानना ही न्याय संगत है। जगत् जो इसी अचित्त तत्त्व का परिणाम है, वह रंगीन, मधुर, सुखमय और दु:खमय नहीं है। वह विशुद्ध गणित और भौतिकविज्ञान की वर्गणाओं, विस्तार और गति से युक्त है। गति विस्तार का ही विकार है, इसीलिए गतिशील विस्तार मशीन की तरह चलता रहता है। इसी प्रकार स्थिति भी विस्तार का विकार है और इसीलिए स्थितशील विस्तार पाषाण या पर्वत की तरह स्थिर है। डेकार्ट चित्त और अचित्त दो विरोधी द्रव्यों को स्वीकार कर दोनों में क्रिया-प्रतिक्रियावाद का सम्बन्ध भी स्थापित करता है।

चित्त और अचित्त द्रव्य के अतिरिक्त डेकार्ट निरपेक्ष द्रव्य के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है। उसके अनुसार ईश्वर पूर्ण, नित्य, अमर, स्वतंत्र, निरपेक्ष, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्ति सम्पन्न सत्ता है। वह उत्पत्ति और विनाश से परे है। वह अतीन्द्रिय है। इन्द्रियों के द्वारा उसका ज्ञान नहीं किया जा सकता है। वह संसार का उपादान कारण नहीं अपितु निमित्त कारण है। वह जगत् में नहीं जगत् से परे स्वर्ग लोक में विराजता है और वहीं से वह जगत् की लीला करता है। जगत् उसकी इच्छा का परिणाम नहीं है अर्थात् उसने अपनी किसी आकांक्षा की पूर्ति के लिए जगत् का निर्माण नहीं किया अपितु जगत् का निर्माण उसकी लीला के कारण संभव हुआ है। ईश्वर प्रत्यय भी जन्मजात है। मेडीटेशन के तीसरे भाग में वह कहता है। "One innate idea of a being who is eternal omniscient, omnipotent, source of all goodness and truth, creator of all things." अर्थात् ईश्वर जन्मजात प्रत्यय और शाश्वत है। वह सर्वज्ञ, अतीन्द्रिय, शुभ और सत्य का साधन तथा सब वस्तुओं का कर्त्ता है।

डेकार्ट ने ईश्वर के स्वरूप के निर्धारण पर उतना बल नहीं दिया जितना कि उसके अस्तित्व सिद्धि पर बल दिया है। उसने ईश्वर द्रव्य की सिद्धि के लिए तीन प्रमुख तर्क दिये हैं—

1. सत्तामूलक तर्क (Ontological Argument)
2. कारणमूलक तर्क (Causal Argument)
3. सृष्टिमूलक तर्क (Cosmological Argument)

प्रथम तर्क के द्वारा सर्वप्रथम ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि मध्ययुगीन दार्शनिक सन्त एन्सेल्म ने की थी। एन्सेल्म ने कहा था कि ईश्वर की धारणा से ईश्वर की सत्ता स्वत: सिद्ध होती है उसी को दृष्टान्त के द्वारा व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय डेकार्ट को है। डेकार्ट के अनुसार जैसे त्रिभुज कहने से त्रिभुज में तीन भुजाओं का होना निश्चित है और उसके तीनों अन्त: कोणों का योग समकोण के बराबर होना निश्चित है उसी प्रकार ईश्वर विचार से ईश्वर का अस्तित्व सुनिश्चित है। चूंकि यह काल्पनिक विचार और अपूर्ण विचार नहीं है। यह पूर्ण और वास्तविक विचार है अत: इसके अनुरूप ईश्वर का अस्तित्व निश्चित ही है। संसार के सब पदार्थ अपूर्ण हैं। अत: उनके विचार मात्र से उनकी सत्ता प्रमाणित नहीं होती किन्तु ईश्वर पूर्ण है अत: उनके विषय में विचारमात्र से उनकी सत्ता सिद्ध होती है। यद्यपि कालान्तर में काण्ट ने इस तर्क के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन करते हुए कहा कि विचार से विचार ही होता है, विचार कभी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वास्तविक नहीं होता है। मेरे जेब में सौ रुपये हैं और जैसे यदि मैं एक हजार की धारणा कर लूं तो वे एक हजार नहीं हो जाते उसी प्रकार विचार से ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती।

कार्य-कारण नियम के अन्तर्गत डेकार्ट यह मानता है कि हर कार्य का कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है। कोई भी कार्य अकारण नहीं होता है। यह भी सच्चाई है कि कार्य किसी-न-किसी रूप में कारण में निहित रहता है। ऐसा हो नहीं सकता कि जो कार्य में हो वह किसी-न-किसी रूप में कारण में न हो। इसीलिए यहां यह कहना प्रासंगिक है कि कारण यदि कार्य से उत्कृष्ट नहीं तो उसके समकक्ष अवश्य होना चाहिए। कहा भी गया है— "The cause must contain as much reality or perception as the effect."

चूंकि ईश्वर का प्रत्यय जन्मजात है। यह एक कार्य है, अतः इसका भी कारण होना चाहिए। अगर कारण नहीं होगा तो अकारण घटना घटित होने का दोष होगा। प्रो. थिली ने अपने ग्रन्थ History of Philosophy में डेकार्ट के इस तर्क के माध्यम से ईश्वर के अस्तित्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—"I myself can not be the cause of the idea of God, for I am a finite, imperfect being. While the idea of God is the perfect, infinite being. It must have been placed in by an infinite being or God and hence God must exist."

अर्थात् ईश्वर के प्रत्यय का कारण हम नहीं हो सकते। क्योंकि हम सीमित एवं अपूर्ण हैं। अतः ईश्वर प्रत्यय का कारण कोई पूर्ण एवं असीम ईश्वर ही होना चाहिए।

सृष्टिमूलक तर्क के माध्यम से ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते हुए डेकार्ट कहता है कि यह संसार अनेक प्रकार के वैविध्यों एवं वैचि=यों से परिपूर्ण है। ये वैविध एवं वैचि=य किसी सांसारिक सत्ता से संभव नहीं है। सृष्टि का हर व्यक्ति सांत है अतः वह अनंत सृष्टि का कर्त्ता कैसे हो सकता है। सृष्टि स्वयं जड़ रूप है जिसके कारण वह भी स्वयं अपना कारण नहीं हो सकती है। अतः यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि इस संसार का जो कारण है, वह ईश्वर ही है।

इस प्रकार डेकार्ट के दर्शन में ईश्वर प्रमुख द्रव्य है। याकूब मसीह ने अपनी पुस्तक 'पाश्चात्य आधुनिक दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या' में लिखा है कि डेकार्टीय दर्शन ईश्वर केन्द्रित है। परन्तु फिर भी डेकार्ट का ईश्वर-केन्द्रित दर्शन, मध्ययुगीन दर्शन से भिन्न है, जो यथार्थ में ईश्वर केन्द्रित था। मध्ययुग में ईश्वर धर्म-विश्वास का पात्र था, परन्तु डेकार्ट का ईश्वर तत्त्व मीमांसा की सत्ता है। डेकार्टीय ईश्वर की न पूजा होती है और न इसका कोई पुजारी है। डेकार्ट की विचार परम्परा के अनुसार विश्व बौद्धिक रचना है जिसे मानव अपनी बुद्धि से जान सकता है। अतः डेकार्ट ने ईश्वर की सत्यनिष्ठा से मानव ज्ञान क्षमता का बोध कराया है।

डेकार्ट के द्रव्य विचार पर जब हम गंभीरता से दृष्टिपात करते हैं तो दो प्रमुख असंगतियां दिखाई पड़ती हैं। प्रथम तो यह कि जब स्वतंत्र सत्ता द्रव्य का लक्षण है तो ईश्वर के अतिरिक्त अन्य द्रव्य नहीं हो सकते और दूसरा जब चित्त और अचित्त दोनों पूर्णतया विरोधी द्रव्य हैं तो दोनों में कथमपि सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। कदाचित् इन्हीं दोनों कमियों की पूर्ति के लिए बेनेडिक्ट स्पिनोजा का दर्शन जगत् में पदार्पण संभव हुआ हो।

8.2.2 स्पिनोजा का द्रव्य सम्बन्धी विचार

बेनेडिक्ट स्पिनोजा (1632-1677 ई.) का पाश्चात्य दर्शन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रो.संगमलाल पाण्डेय ने अपने आधुनिक दर्शन की भूमिका में स्पिनोजा के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि कुछ लोग उसे विश्व का सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक मानते हैं। कुछ लोग उसे प्लेटो के बाद दूसरे नम्बर का दार्शनिक मानते हैं। कुछ लोग उसे ईसामसीह के बाद दूसरा सर्वश्रेष्ठ मानव मानते हैं। ऐसे सभी लोग स्पिनोजा की महानता का आकलन करते हुए केवल पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के दार्शनिकों को सामने रखते हैं। यदि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसमें हम भारत और भारतेतर पूर्व के दार्शनिकों को शामिल कर लें तो फिर हमें स्पिनोजा को उस कोटि में रखना होगा जिस कोटि में गौतम बुद्ध और शंकराचार्य हैं।

महान् दार्शनिक स्पिनोजा ने सर्वप्रथम अपने पूर्ववर्ती दार्शनिक डेकार्ट के द्रव्य विचार की समीक्षा करते हुए कहा कि जब द्रव्य स्वतंत्र सत्ता को कहते हैं तो ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य स्वतंत्र नहीं हैं तब फिर चित्त और अचित्त द्रव्य कैसे हो सकते हैं? चित्त और अचित्त ईश्वर पर निर्भर हैं। उनकी अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं हैं अत: ये द्रव्य नहीं हैं। ईश्वर ही एकमात्र स्वतंत्र, निरपेक्ष द्रव्य है। इस प्रकार स्पिनोजा ने चित्त-अचित्त को द्रव्य के स्तर से उतारकर गुण के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया और एकमात्र ईश्वर को ही द्रव्य के रूप में स्वीकार किया। इसी तथ्य को फाल्केन वर्ग ने History of Modern Philosophy में इस प्रकार व्यक्त किया है "Substance is defined by the concept of independence. According to this there is no substance except God." इस प्रकार द्रव्य के संदर्भ में स्थापित डेकार्ट का द्वैतवाद स्पिनोजा के दर्शन में आकर अद्वैतवाद के रूप में स्थापित हो जाता है। फैंक थिली ने भी A History of Philosophy में स्पिनोजा के एक द्रव्यवाद का उल्लेख इस रूप में किया है— "If substance is that which needs nothing other than itself to exist, if God is the substance and everything else dependent on him. Then, obviously, there can be no substance outside of God. Then thought and extension can not be attributes of separate substance, but are merged in God, they are attributes of one single independent cause and bearer of qualities and events, the one principal in which all things find their being."

अर्थात् यदि ईश्वर ही द्रव्य है तो और अन्य सब उस पर निर्भर हैं तब यह स्पष्ट है कि ईश्वर के बाहर अन्य कुछ भी नहीं है, तब विचार और विस्तार भिन्न-भिन्न द्रव्यों के लक्षण नहीं हो सकते अपितु वे ईश्वर के ही लक्षण होते हैं। उसी एक द्रव्य में सब अपना अस्तित्व पाते हैं।

अत: स्पिनोजा द्वारा प्रदत्त द्रव्य की परिभाषा से द्रव्य के स्वरूप के संदर्भ में निम्न निष्कर्ष निकलते हैं—

1. द्रव्य स्वतंत्र है। द्रव्य को स्वतंत्र कहने का तात्पर्य यह है कि द्रव्य सबका आधार है पर उसका कोई आधार नहीं है। वह स्वप्रतिष्ठित है अत: स्वतंत्र है।
2. द्रव्य निरपेक्ष है। द्रव्य को अपने अस्तित्व एवं ज्ञान के लिए किसी अन्य द्रव्य की कोई अपेक्षा नहीं है। यदि उसे किसी की अपेक्षा होती तो वह सापेक्ष कहलाता किन्तु उसे किसी की अपेक्षा न होने के कारण वह निरपेक्ष ही है।
3. द्रव्य अद्वितीय है। यदि द्रव्य को एक से अधिक माना जाय तो द्रव्य की सत्ता सीमित हो जायेगी। एक से अधिक द्रव्य होने का तात्पर्य यह है कि उनका आपस में क्या सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध की व्याख्या से द्रव्य सीमित हो जायेगा अत: स्पिनोजा ने द्रव्य को अद्वितीय माना है।
4. द्रव्य अपरिच्छिन्न एवं अपरिमित है, वह सर्वेसर्वा है। कोई अन्य सत्ता उसे किसी रूप में चुनौती नहीं दे सकती। एक होने से ही वह अपरिच्छिन्न एवं अपरिमित है।
5. द्रव्य स्वयंभू है। उसका कोई अन्य कारण नहीं है। वह ही सबका कारण है और अपना भी कारण वह स्वयं ही है। यदि उसका कोई कारण माना जाय तो वह परतंत्र और सापेक्ष हो जायेगा किन्तु वह परतंत्र और सापेक्ष नहीं है अत: वह स्वयंभू है।
6. द्रव्य नित्य है। वह न उत्पन्न होता है और न ही मरता है। अत: वह उत्पत्ति, विनाश से परे शाश्वत है।
7. द्रव्य पूर्ण है। उसे किसी की कोई कमी नहीं है। उसे किसी की कोई अपेक्षा नहीं है। उसके सिवाय सब अपूर्ण हैं। वह ही एकमात्र पूर्ण है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

8. द्रव्य आप्तकाम है। उसका अपना कोई मनोरथ नहीं है। उसे किसी भी वस्तु की आकांक्षा नहीं है। उसके लिए ऐसा कोई प्राप्तव्य नहीं है जो उसे प्राप्त न हो अत: वह आप्तकाम है।
9. द्रव्य सर्वशक्तिमान् है। उसकी शक्ति को चुनौती देने वाला अन्य कोई तत्त्व नहीं है। उसके लिए कुछ भी असंभव नहीं है।
10. द्रव्य स्वत: सिद्ध एवं स्वयंज्योति स्वरूप है क्योंकि अपनी सत्ता और ज्ञान के लिए वह किसी पर निर्भर नहीं है।
11. द्रव्य अन्तर्यामी है। वह सृष्टि के अणु-अणु में, कण-कण में व्याप्त है। द्रव्य सब में और सब कुछ द्रव्य में है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है।
12. द्रव्य अतीन्द्रिय है। द्रव्य जगत् के कण-कण में ही सीमित नहीं है वह जगत् से परे भी है अत: अतीन्द्रिय भी है।
13. द्रव्य अनिर्वचनीय है। इतनी सब विशेषताओं से अलंकृत होने पर भी द्रव्य का निर्वचन संभव नहीं है। निर्वचन का मतलब है द्रव्य को सीमित करना, इसलिए वह अनिर्वचनीय है।

इस स्वतंत्र, निरपेक्ष, अपरिमित, अद्वितीय एवं अनिर्वचनीय द्रव्य को स्पिनोजा ने ईश्वर के रूप में स्वीकार किया है। उसके अनुसार ईश्वर ही एकमात्र द्रव्य है। परन्तु यहां यह ध्यातव्य है कि स्पिनोजा का ईश्वर यहूदी, ईसाई या इस्लाम धर्म का ईश्वर नहीं है, जो सृष्टिकर्त्ता है, जो दुष्टों को दण्ड एवं सज्जनों को पुरस्कार देता है और अपने भक्तों को अपने समीप स्वर्ग में स्थान देता है। स्पिनोजा ने ईश्वर को जगत् के कण-कण में अन्तर्निहित माना है जो धर्मवादियों को स्वीकार नहीं था अत: उस पर निरीश्वरवादी और नास्तिकवादी होने का आरोप लगाया गया जबकि स्पिनोजा से बढ़कर आस्तिक शायद ही कोई दार्शनिक हो। स्पिनोजा ईश्वर को अतीन्द्रिय एवं अन्तर्यामी दोनों मानता है और सृष्टि का उपादान एवं निमित्त कारण भी मानता है अत: स्पिनोजा सर्वेश्वरवादी है। स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर ही कारण प्रकृति (Natura Naturanas) और ईश्वर ही कार्य प्रकृति (Natura Naturata) दोनों हैं अत: वह सर्वेश्वरवादी है।

स्पिनोजा ने द्रव्य के गुण और पर्याय की भी चर्चा अपने ग्रन्थ 'एथिक्स' में की है। गुण को परिभाषित करते हुए उसने एथिक्स में कहा है कि—"By attribute, I mean that which the intellect perceives as constituting the essence of substance."

अर्थात् गुण वे धर्म हैं जिनको बुद्धि द्रव्य का स्वरूप समझती है। गुण द्रव्य स्वत: बुद्धिगोचर नहीं है। इसलिए स्पिनोजा ने द्रव्य को निर्गुण, निर्विशेष और अनिर्वचनीय माना है। गुणों के कारण ही द्रव्य सगुण, सविशेष और बुद्धिग्राह्य बनता है। स्पिनोजा के अनुसार द्रव्य अनन्तधर्मात्मक है किन्तु मानव बुद्धि चैतन्य और विस्तार इन दो गुणों को ही जान पाती है। एक ही द्रव्य के गुण होने के कारण ये परस्पर विरोधी नहीं है जैसा कि डेकार्ट स्वीकार करता है। ये परस्पर भिन्न हैं परन्तु विरोधी नहीं सहचारी हैं। ये जड़ एवं चेतन ईश्वर के ही रूप हैं। ये ईश्वर से भिन्न नहीं हैं। ये एक ही स्रोत से निकलने वाली दो धाराएं हैं, जो समानान्तर रूप से बह रहे हैं। स्पिनोजा के दर्शन में गुणों को लेकर दो प्रकार के मत मिलते हैं। कुछ लोगों के अनुसार स्पिनोजा के दर्शन में गुण वास्तविक हैं तो कुछ लोगों के अनुसार काल्पनिक हैं। जिन लोगों ने स्पिनोजा के गुण की परिभाषा में 'द्रव्य के स्वरूप' शब्दावली पर बल दिया वे यहां गुण को वास्तविक मानते हैं किन्तु जिन लोगों ने 'बुद्धि समझती है' शब्दावली पर बल दिया वे यहां गुणों को काल्पनिक मानते हैं। कूनोफिशर ने स्पिनोजा के दर्शन में गुण को वास्तविक एवं तात्त्विक माना है परन्तु हेगल और अर्डमान ने गुणों को यहां काल्पनिक स्वीकार किया है। किन्तु इस विवाद को इस रूप में समाहित किया जा सकता है, चूंकि स्पिनोजा यह मानता है कि गुण ईश्वर को सीमित नहीं कर सकते इसलिए वह निर्गुण है और उससे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जगत् आदि की अभिव्यक्ति होती है अतः वह सगुण भी है। प्रत्येक विशेषण निषेधात्मक है। उसके इस कथन की भी समायोजक व्याख्या ही की जाती है।

गुणों की व्याख्या कर लेने के पश्चात् अब स्पिनोजा के दर्शन में 'पर्याय' पर विचार कर लेना प्रासंगिक है। उसके अनुसार पर्याय द्रव्य के परिणामी धर्म हैं। पर्याय निरपेक्ष नहीं सापेक्ष है, पर्याय स्वतंत्र नहीं परतंत्र है, पर्याय नित्य नहीं अनित्य है। पर्याय को व्याख्यायित करते हुए स्पिनोजा ने एथिक्स (Ethics) ग्रन्थ में कहा है—"By mode, I understand the modification of the substance, that which exists in God and is conceived by something other than itself."

अर्थात् पर्याय द्रव्य में विकार नहीं उत्पन्न कर सकते, वरन् पर्याय गुणों के विकार हैं।

स्पिनोजा के अनुसार द्रव्य के अनन्त गुणों में मानवी बुद्धि केवल चैतन्य और विस्तार को जान पाती है। चैतन्य के पर्याय हैं बुद्धि और संकल्प। विस्तार के पर्याय हैं गति और स्थिति। पर्याय भी दो प्रकार के हैं—अनन्त या नित्य और सांत या अनित्य। अनन्त ईश्वर का स्वरूप होने के कारण पर्याय भी अनन्त हैं, परन्तु व्यक्तिगत रूप से पर्याय सांत या अनित्य है। अतः पर्यायों का नित्य स्वरूप ईश्वर स्वरूप का द्योतक है तथा इनका अनित्य स्वरूप विश्व की विभिन्न वस्तुओं का द्योतक है। चैतन्य रूप में बुद्धि तथा संकल्प अनन्त और नित्य है किन्तु विविध जीवों के रूप में सांत और अनित्य है। इसी प्रकार विस्तार के रूप में गति तथा स्थिति अनन्त तथा नित्य है किन्तु विविध जड़ पदार्थों के रूप में सांत और अनित्य है। अतः एक से अनेक, असीम से ससीम की व्याख्या के लिए पर्याय को मानना आवश्यक है।

स्पिनोजा के द्रव्य विचार की समीक्षा करते हुए प्रसिद्ध बुद्धिवादी दार्शनिक लाइबनीज ने कहा कि डेकार्ट ने जिस द्वैत को द्रव्य स्तर पर स्थापित किया था उसी को स्पिनोजा ने गुण के स्तर पर स्थापित कर ठीक नहीं किया। द्वैत चाहे द्रव्य के स्तर पर हों या गुणस्तर पर कहीं भी ठीक नहीं है। लाइबनीज के अनुसार एक ही द्रव्य में स्पिनोजा के दो विरोधी गुण कैसे रह सकते हैं? इसके अतिरिक्त स्पिनोजा के द्रव्य (ईश्वर) विचार पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए जर्मनी के महान् दार्शनिक हेगल ने स्पिनोजा के द्रव्य (ईश्वर) को 'सर्वग्रासी ईश्वर' कहा है। हेगल ने स्पिनोजा के ईश्वर की तुलना 'सिंह की गुफा' से करते हुए कहा है कि ईश्वर वह गुफा है जहां लोगों के जाने के चिह्न तो दिखाई पड़ते हैं पर वापसी के नहीं। (Spinoza's Absolute is a lion's den to which all footprints point, but from which none returns.) ऐसा संभवतः उसने इसलिए कहा क्योंकि स्पिनोजा ने ईश्वर के अतिरिक्त सब कुछ असत् कहा है। चूंकि स्पिनोजा ने जगत् के कण-कण में ईश्वर को स्वीकार किया तो कुछ धर्म के ठेकेदारों ने उस पर 'निन्दनीय नास्तिक' का आरोप भी लगाया है जबकि स्पिनोजा जैसा 'ईश्वर प्रेमोन्मत्त' (God intoxicated) दार्शनिक शायद ही कोई पैदा हुआ हो।

इस प्रकार यहां यह कहा जा सकता है कि आधुनिक बुद्धिवादी युग में डेकार्ट के द्वैतवाद को अद्वैतद्रव्यवाद के रूप में परिष्कृत एवं परिमार्जित करने का पूरा श्रेय स्पिनोजा को है।

8.3 डेकार्ट और जैनदर्शन में द्रव्य

द्रव्य के संदर्भ में डेकार्ट और जैनदर्शन में निम्नलिखित समानता दृष्टिगोचर होती है—

8.3.1 समानता

1. दोनों के अनुसार द्रव्य 'सत्' है। जैनदर्शन का पंचास्तिकाय ग्रन्थ 'दव्वं सल्लक्खणयं' और तत्त्वार्थसूत्र 'सत् द्रव्य लक्षणम्' अर्थात् द्रव्य का लक्षण सत् है कहकर द्रव्य को सत् स्वीकार किया है वहीं डेकार्ट भी 'A substance is that which exists by itself.' (अर्थात् द्रव्य वह है जो स्वयं सत् है, अस्तित्वपूर्ण है जिसे अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य की आवश्यकता नहीं पड़ती है।) इस परिभाषा से द्रव्य को सत् मानते हैं, अर्थात् एक द्रव्य अपने अस्तित्व के लिए किसी दूसरे द्रव्य पर निर्भर नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. द्रव्य, गुण और पर्याय से युक्त है के संदर्भ में भी दोनों में समानता है। जैनदर्शन में तो गुण पर्याय युक्त विचार को प्राय: सर्वथा स्वीकार किया गया है। पंचास्तिकाय में गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णति सव्वण्हू' तत्त्वार्थ में 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्' जैन सिद्धान्त दीपिका में 'गुणपर्यायाश्रयं द्रव्यं,' द्रव्यानुयोग तर्कणा में 'गुण पर्यायियो: स्थान मेक रूपं सदापि यत्, पंचाध्यायी में गुणपर्यय समुदायो द्रव्यम' तथा प्रवचनसार में 'समगुण पर्यायं द्रव्यं इति वचनात' आदि द्रव्य की परिभाषाओं से स्पष्ट है कि जैनदर्शन द्रव्य को गुण पर्याय युक्त ही मानता है। डेकार्ट ने भी अपने द्रव्यों को गुणपर्याय युक्त ही माना है। उसके अनुसार चित्त द्रव्य का गुण चैतन्य और अचित्त का गुण विस्तार तथा चैतन्य का पर्याय, स्मृति, कल्पना तथा विस्तार का पर्याय गति और स्थिति आदि है। अत: स्पष्ट है कि दोनों दर्शनों में गुण पर्याय युक्त द्रव्य की अवधारणा स्वीकार है।

3. जैनदर्शन में जीव-अजीव भेद से द्रव्य दो प्रकार के माने गये हैं। प्रवचनसार में स्पष्ट है—

"दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवओगमओ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अज्जीवं॥"

अर्थात् द्रव्य जीव और अजीव के भेद से दो प्रकार का है। उसमें चेतनामय तथा उपयोगमय जीव है और पुद्गल द्रव्यादिक अचेतन द्रव्य है। इसी प्रकार पंचास्तिकाय में भी स्पष्ट है—

'आगास काल पुग्ल धम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा।
तेसिं अचेदणत्थं भणिदं जीवस्स चेदणदा॥'

अर्थात् आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्म जीव नहीं हैं, ये अचेतन हैं, केवल जीव ही चेतन है। इसी प्रकार डेकार्ट भी चित्त और अचित्त द्रव्य को स्वीकार करता है। चित्त-अचित्त का द्वैत ही डेकार्ट को पाश्चात्य दर्शन का महान् द्वैतवादी दार्शनिक बना देता है। वह भी जैनदर्शन की तरह चेतन और अचेतन द्रव्य को परस्पर विरोधी इस रूप में स्वीकार करता है कि जीव कभी अजीव नहीं हो सकता और अजीव कभी जीव नहीं हो सकता। डेकार्ट के अनुसार—Mind or Soul is entirely different from body. अर्थात् आत्मा और शरीर परस्पर भिन्न द्रव्य हैं। इसके अतिरिक्त दोनों के द्रव्य सम्बन्धी विचार में कुछ समानताएं दृष्टिगोचर होती हैं। जैसे दोनों ही मानते हैं कि द्रव्य स्वत: सिद्ध है, दोनों ही मानते हैं कि द्रव्य अपना स्वभाव कभी नहीं छोड़ते हैं, दोनों ही मानते हैं कि एक द्रव्य अन्य द्रव्य रूप में परिणमन नहीं करते हैं।

8.3.2 असमानताएं

उपर्युक्त समानताओं के अतिरिक्त एक दर्शन पूर्व का और दूसरा पश्चिम का होने से दोनों के द्रव्य विचार में अन्तर होना स्वाभाविक है—

1. दोनों द्रव्य का लक्षण सत् अवश्य मानते हैं किन्तु जैनदर्शन जहां सत् का अर्थ 'उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं' (पंचास्तिकाय) अर्थात् उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त माना है और इस आधार पर जैनदर्शन परिणामी नित्यत्ववाद को स्वीकार करता है, वहीं डेकार्ट के दर्शन में द्रव्य को परिणामी नित्य न मानकर 'त्रिकालाबाधित सत्' या शाश्वत रूप माना गया है। डेकार्ट द्रव्य को नित्य, विभु एवं शाश्वत ही मानता है।
2. डेकार्ट ने द्रव्य की परिभाषा देते हुए द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता पर बल दिया है जबकि जैनदर्शन में द्रव्य की परिभाषा के अन्तर्गत गुण-पर्याय युक्त द्रव्य है, इस पर विशेष बल दिया है। डेकार्ट ने द्रव्य के अन्तर्गत 'अस्तित्व' गुण को प्रधानता दी है जबकि जैनदर्शन में द्रव्य के छ: सामान्य-गुण 'अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व' पर बल दिया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. डेकार्ट ने कुल तीन द्रव्य स्वीकार किये हैं जिसमें ईश्वर को निरपेक्ष द्रव्य और चित्त-अचित्त को सापेक्ष द्रव्य के रूप में स्वीकार किया है। जब कि जैनदर्शन में 'षडद्रव्यात्मको लोकः' की उक्ति प्रसिद्ध है। नियमसार में छः द्रव्यों का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

"जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुण पज्जएहिं संजुत्ता॥"

अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये छः द्रव्य कहे गये हैं, जो कि विविध गुण एवं पर्यायों से युक्त हैं।

4. डेकार्ट के दर्शन के तीन द्रव्यों में ईश्वर द्रव्य पूर्ण, सर्वशक्तिमान है। यह द्रव्य सर्वेसर्वा है, इससे कुछ भी परे नहीं है। यह चित्त और अचित्त सबसे परिपूर्ण है किन्तु चित्त द्रव्य केवल चेतन है और अचित्त द्रव्य केवल अचेतन है। जैनदर्शन के धवला ग्रन्थ में द्रव्य के जीव और अजीव रूप का चित्रण इस प्रकार है—

"तं च दव्वं दुविहं, जीव दव्वं अजीव दव्वं चेदि। जं तं रूवि अजीव दव्वं पुद्गलाः रूपि अजीवदव्व शब्दादि। जं तं अरूवि अजीवदव्वं तं चउव्विहं, धम्मदव्वं, अधम्मदव्वं, अधम्मदव्वं, आगासदव्वं कालदव्वं चेदि।" अर्थात् वह द्रव्य जीव और अजीव के रूप में दो प्रकार का है। उनमें से अजीव द्रव्य रूपी और अरूपी रूप में दो प्रकार का है। जहां रूपी अजीव द्रव्य पुद्गल है वहीं अरूपी अजीव द्रव्य धर्म, अधर्म, आकाश और काल को माना गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जैनदर्शन में जीव द्रव्य चेतन और शेष 5 द्रव्य अचेतन हैं।

5. गुण को दोनों दर्शनों में स्थान प्राप्त है। दोनों ही यह मानते हैं कि गुण द्रव्य पर आश्रित है और दोनों ही यह भी मानते हैं कि गुण स्वयं तो निर्गुण है अर्थात् गुण के गुण नहीं होते हैं। उमास्वाति ने गुण को परिभाषित करते हुए कहा है—द्रव्याश्रयाः निर्गुणा गुणाः अर्थात् गुण का आश्रय द्रव्य है पर गुण किसी का आश्रय नहीं है। किन्तु गुणों को लेकर दोनों ही दर्शनों में मूलभूत भेद भी देखे जाते हैं। जैनदर्शन में सभी द्रव्यों के छः सामान्य गुण देखे जाते हैं जबकि डेकार्ट के दर्शन में सामान्यगुण के रूप में केवल 'अस्तित्व' गुण ही प्रतिपादित है और जहां जैनदर्शन में 'चेतना लक्षणो जीवः', 'गति सहायो धर्मः', 'स्थिति सहायोऽधर्मः', 'अवगाहनोआकाशः', 'वर्तना परिणाम क्रिया परत्वापरत्वेश्चकालस्य', 'पूरयन्ति गलन्ति इति पुद्गलाः' कहकर सभी द्रव्यों के विशेष गुणों को अभिव्यक्त किया गया है वहीं डेकार्ट दर्शन में आत्मा चेतन और शरीर अचेतन तथा ईश्वर दोनों हैं।

6. जैनदर्शन छः द्रव्यों के अस्तित्व को स्वीकार कर जहां षड्द्रव्यवादी कहलाया है वहीं डेकार्ट निरपेक्ष एवं सापेक्ष द्रव्य एवं आत्मा एवं शरीर के द्वैत को स्वीकार कर द्वैतवादी के रूप में पाश्चात्य दर्शन में प्रसिद्ध है। जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य की स्वीकारोक्ति के कारण जैनदर्शन भी द्वैतवादी के रूप में भी प्रसिद्ध है।

7. द्रव्यों के सम्बन्ध को लेकर डेकार्ट का 'क्रियाप्रतिक्रियावाद (Interactionism) जहां प्रसिद्ध है, वहीं जैनदर्शन में द्रव्यों के सम्बन्ध को लेकर 'भेदाभेदवाद' प्रसिद्ध है। द्रव्यों में सामान्य गुणों को लेकर अभेद सम्बन्ध हैं क्योंकि ये सामान्य गुण सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं किन्तु अपने-अपने विशेष गुणों के कारण इनमें भेद है क्योंकि एक द्रव्य का विशेष गुण दूसरे का विशेष गुण नहीं हो सकता जैसे 'गति सहायक' गुण 'धर्म' द्रव्य का है जो किसी भी स्थिति में 'अधर्म' द्रव्य का नहीं हो सकता।

8.4 स्पिनोजा और जैनदर्शन के द्रव्य विचार की तुलना

डेकार्ट और जैनदर्शन के द्रव्य विचार की समानता एवं असमानता पर विचार कर लेने के पश्चात् अब आवश्यक होता है कि स्पिनोजा और जैनदर्शन के द्रव्य विचार की समानता एवं असमानता पर प्रकाश डाला जाय।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

8.4.1 समानता

1. दोनों ही द्रव्य के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। जैनदर्शन के अनुसार सारे द्रव्य स्व प्रतिष्ठित हैं। सबका अपना अलग-अलग अस्तित्व है। कोई द्रव्य अपने अस्तित्व के लिए किसी द्रव्य पर निर्भर नहीं है वैसे ही स्पिनोजा का द्रव्य भी स्वप्रतिष्ठित है, वह भी किसी पर निर्भर नहीं है। वह स्वयंभू एवं अकारण होते हुए सबका कारण और स्वत: सिद्ध है। अपने एथिक्स (Ethics) ग्रन्थ में इसी की पुष्टि करते हुए स्पिनोजा ने कहा है—"I have shown that he necessarily exists that he is one, that he acts solely by the necessity of his nature, that he is the free cause of all things and how is so, that all things are in God and so depend on him, that without him they could neither exist nor be conceived."
2. जैनदर्शन जिस प्रकार द्रव्य को 'गुण पर्यायवत्' स्वीकार करता है वैसे ही स्पिनोजा ने भी गुण और पर्याय के आश्रय के रूप में द्रव्य को स्वीकार किया है। हेगल और अर्डमान भले ही स्पिनोजा के दर्शन में गुणों को काल्पनिक मानते हैं, परन्तु यहां गुण काल्पनिक नहीं वास्तविक है जैसा की कूनोफिशर मानते हैं।

8.4.2 असमानता

1. जैनदर्शन में धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और काल के रूप में छ: द्रव्यों की अवधारणा है जैसा कि भोजसागर कृत द्रव्यानुयोग तर्कणा में इस प्रकार वर्णित है—

"धर्माधर्मौ नभ: कालौ, पुद्गलो जीव इत्यमी।
अर्था: षट् समये ख्याता जिनैराद्यन्तवर्जिता:॥"

किन्तु स्पिनोजा के द्रव्यवाद में एक द्रव्य की अवधारणा स्पष्ट है। द्रव्य के संदर्भ में स्पिनोजा अद्वैतवादी है। God is everywhere से स्पष्ट है कि स्पिनोजा स्वतंत्र, निरपेक्ष, नित्य, शाश्वत, पूर्ण द्रव्य के रूप में एकमात्र ईश्वर द्रव्य को ही स्वीकार करता है।

2. जैनदर्शन में ईश्वर को द्रव्य के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है और न ही ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता के रूप में ही स्वीकार किया गया है। इस दृष्टि से जैनदर्शन को निरीश्वरवादी भी कहा जा सकता है जबकि स्पिनोजा के दर्शन में ईश्वर की सत्ता, ईश्वर की अनन्तता तथा सर्वव्यापकता, ईश्वर का जगत् कारणत्व और प्रकृति नियंत्रण तथा सुख दु:खवादी फलों के कर्तृत्व के रूप में देखा गया है। कोनर महोदय ने अपने Critical History of Western Philosophy में इसी तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है— "The four cardinal points of the Jewish theological compass are the existence of God, his unity and infinity, his causation and regulation of nature and his assignment ot man of happiness or misery in accordance with the fulness or the failure in man's love of God."
3. एक द्रव्यवादी स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर द्रव्य से सृष्टि उसी प्रकार सहज रूप से अभिव्यक्त होती है। जिस प्रकार सूर्य के उदित होने से किरणें सहजरूप में अभिव्यक्त होती हैं किन्तु जैनदर्शन में लोक की सहज अभिव्यक्ति को भी स्वीकार नहीं किया गया है अपितु लोक उत्पत्ति, विनाश से परे शाश्वत है।
4. जैनदर्शन में जहां द्रव्यों के छ: सामान्य गुणों का उल्लेख है वहां स्पिनोजा के दर्शन में यह स्वीकार किया है कि ईश्वर द्रव्य के अनन्त गुणों में मानव बुद्धि केवल दो गुण चैतन्य और विस्तार को जान पाती है, अत: दो गुणों की अवधारणा स्वीकार की जा सकती है।
5. द्रव्यों के सम्बन्ध के संदर्भ में स्पिनोजा ने 'समानान्तरवाद' को स्वीकार करते हुए कहा है कि चित्त और अचित्त एक ही द्रव्य में बहने वाली दो समानान्तर धाराएं हैं, अत: आपस में भिन्न होते हुए भी सहचारी हैं और जैनदर्शन में छ: द्रव्यों के छ: सामान्य गुण द्रव्यों में अभेद को सिद्ध करते हैं तो विशेष गुण उनमें भेद स्वीकारते हैं। इस प्रकार द्रव्यों में भेदाभेद सम्बन्ध जैनदर्शन को मान्य है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इन विभिन्न पाश्चात्य दार्शनिकों के द्रव्यविचार को जैनदर्शन से किये गये तुलनात्मक अध्ययन को निम्न चार्ट से भलीभांति समझा जा सकता है—

द्रव्य विचार तुलनात्मक अध्ययन

क्रम	डेकार्ट	स्पिनोजा	लाइबनीज	जैनदर्शन
1.	द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता पर बल	स्वतंत्र सत्ता पर बल	स्वतंत्र शक्ति पर बल	गुणपर्यायवद्द्रव्यम्
2.	तीन द्रव्य (ईश्वर, चित्त, अचित्त)	ईश्वर द्रव्य	अनेक द्रव्य (चिदणुओं के रूप में)	छः द्रव्य
3.	ईश्वर चित्त-अचित्त दोनों चित्त द्रव्य चेतन और अचित्त अचेतन	ईश्वर द्रव्य चित्त और अचित्त	केवल चेतन द्रव्य	एक चेतन शेष अचेतन
4.	ईश्वर में चैतन्य-विस्तार गुण चित्त में चैतन्य, अचित्त में विस्तार गुण	ईश्वर में चैतन्य और विस्तार गुण	केवल चैतन्य गुण	छः सामान्य गुण और प्रत्येक द्रव्य के विशेष गुण
5.	द्रव्यकी दृष्टि से द्वैतवादी	अद्वैतवादी	बहुतत्त्ववादी	षड्द्रव्यवादी
6.	ईश्वर द्रव्य जगत् का निमित्त कारण	उपादान एवं निमित्त कारण	सर्वकारण	षड्द्रव्यात्मको लोकः
7.	द्रव्यों में क्रिया प्रतिक्रियावाद का सम्बन्ध	समानान्तरवाद	पूर्वस्थापित सामञ्जस्य	भेदाभेदवाद

8.5 सारांश

उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि पाश्चात्य दर्शन के आधुनिक युग में बुद्धिवादी युग द्रव्य चिन्तन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण युग है। इस युग के तीनों महान् दार्शनिकों डेकार्ट, स्पिनोजा एवं लाइबनीज ने अपने-अपने दृष्टिकोण के आधार पर द्रव्यवादी चिन्तन को आगे बढ़ाया परन्तु द्रव्य के सम्बन्ध में डेकार्ट का उग्र द्वैतवादी रूप, स्पिनोजा का उग्र अद्वैतवादी रूप एवं लाइबनीज का केवल चैतन्यवादी रूप आलोचना का कारण बनता है किन्तु जैनदर्शन के षड्द्रव्यों का भेदाभेदवादी होना सभी प्रश्नों को समाहित करता है।

8.6 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. डेकार्ट और स्पिनोजा द्रव्य की तुलना जैनदर्शन के द्रव्य से कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. डेकार्ट के चित्त-अचित्त द्रव्य को स्पष्ट कीजिए।
2. स्पिनोजा के ईश्वर द्रव्य की संक्षेप में विवेचना कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. डेकार्ट के तीन द्रव्यों को कितने भागों में विभक्त किया जा सकता है?
2. जैनदर्शन में द्रव्यों के कितने सामान्य गुण माने गये हैं?
3. डेकार्ट द्रव्य की दृष्टि से द्वैतवादी है या बहुतत्ववादी?
4. जैनदर्शन के जीव द्रव्य का विशेष गुण क्या है?
5. स्पिनोजा कितने द्रव्य स्वीकार करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6. जैनदर्शन द्वैतवादी है या बहुतत्ववादी या षड्द्रव्यवादी?
7. स्पिनोजा के दर्शन में गुण काल्पनिक है, ऐसा कौन मानते हैं?
8. जैनदर्शन के द्रव्यों में कितने चेतन और कितने अचेतन हैं?
9. स्पिनोजा का द्रव्य स्वतंत्र सत्तारूप है या स्वतंत्र शक्तिरूप?
10. 'सत् द्रव्य लक्षणम्' परिभाषा किस ग्रन्थ की है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. दो (निरपेक्ष और सापेक्ष द्रव्य)
2. छः
3. द्वैतवादी
4. चेतना
5. एक द्रव्य
6. षड्द्रव्यवादी
7. हेगल और अर्डमान
8. एक चेतन, शेष अचेतन
9. स्वतंत्र सत्तारूप
10. तत्त्वार्थसूत्र।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–9 कारणता (ह्यूम, काण्ट और जैनदर्शन)

संरचना

9.0 प्रस्तावना

9.1 उद्देश्य

9.2 कारण–कार्य के सम्बन्ध का वैशिष्ट्य

9.3 डेविड ह्यूम के कारण–कार्य सम्बन्धी विचार

9.4 इमेन्युअल काण्ट की कारणता सम्बन्धी दृष्टि

9.5 जैन दर्शन में कारणता

9.5.1 उपादान और निमित्त

9.6 ह्यूम और जैन कारणता की तुलना

9.7 काण्ट और जैन कारणता की तुलना

9.8 सारांश

9.9 अभ्यास प्रश्नावली

9.0 प्रस्तावना

दर्शन जगत् में कारण और कार्य की मान्यता का अपना महत्त्व है। अधिकांश भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों ने अपने–अपने मतानुरूप इसकी मीमांसा की है। कारण और कार्य के स्वरूप एवं सम्बन्ध में भले ही इन दार्शनिकों में आपस में मत वैभिन्य हों परन्तु अर्थ की दृष्टि से प्राय: इनके विचारों में समानता है। प्राय: सभी यह मानते हैं कि 'प्राग्भावित्वं कारणत्वम् और पश्चाद् भावित्वं कार्यत्वम्' अर्थात् पूर्व में होने वाली घटना कारण और बाद में होने वाली घटना कार्य है। कोई यह नहीं मानता कि बाद में घटने वाली घटना कारण और पूर्व में घटने वाली घटना कार्य है। पाश्चात्य चिन्तक बेन (Bain) ने कारण–कार्य की मीमांसा करते हुए कहा था—

"In scientific investigations, the cause must be regarded as the entire aggregate of conditions or circumstances requisite to the effect."

अर्थात् वैज्ञानिक विश्लेषण में उपाधियों एवं परिस्थितियों के उस सम्पूर्ण रूप को कारण मानना चाहिए जो कार्य को उत्पन्न करने के लिए आवश्यक होता है।

9.1 उद्देश्य

यहां ह्यूम काण्ट एवं जैनदर्शन के कारणता सम्बन्धी विचार का तुलनात्मक विवेचन करना प्रमुख उद्देश्य है।

9.2 कारण–कार्य के सम्बन्ध का वैशिष्ट्य

कारणता के अन्तर्गत जिस कारण और कार्य के सम्बन्ध की मीमांसा की जाती है, उसका वैशिष्ट्य निम्न है—

1. कारण पूर्ववर्ती होता है और कार्य परवर्ती। इस प्रकार काल की दृष्टि से कारण कार्य से पूर्ववर्ती (Antecedent) होता है और कार्य कारण का अनुवर्ती (consequent) होता है। कार्वेथ रीड के अनुसार कार्य कारण की अपेक्षा बाद में ही होता है।
2. कारण, कार्य का पूर्ववर्ती ही नहीं नियत (Invariable) पूर्ववर्ती होता है। अर्थात् ऐसा नहीं कह सकते कि कभी पूर्ववर्ती होता है तो कभी कुछ और हो सकता है। नियत पूर्ववर्ती सम्बन्ध के कारण ही कारण की समरूपता का नियम माना जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. कारण नियत पूर्ववर्ती ही नहीं अपितु अव्यवहित (Immediate) पूर्ववर्ती होता है। दूरस्थ पूर्ववर्ती को कारण न मानने के लिए अव्यवहित पूर्ववर्ती शब्द का उल्लेख किया गया है।
4. कारण, कार्य का अव्यवहित पूर्ववर्ती ही नहीं होता अपितु निरुपाधिक पूर्ववर्ती भी होता है। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि कोई क्रिया पूर्ववर्ती, नियत पूर्ववर्ती और अव्यवहित पूर्ववर्ती होने के बावजूद भी कारण नहीं कहलाती क्योंकि वह क्रिया औपाधिक होती है, निरुपाधिक नहीं। जैसे दिन के बाद रात और रात के बाद दिन। यहां नियत पूर्ववर्ती है किन्तु अनौपाधिक पूर्ववर्ती न होने से इनमें कारण-कार्य का सम्बन्ध नहीं है। इसी तथ्य को प्रस्तुत करते हुए मिल का कहना है कि—
"We may define, therefore, the cause of phenomenon to be the antecedent or the concurrence lot antecedents, on which it is invariably and unconditionally consequent." (Logic, Book III, chapter V, Article-6) अर्थात् किसी घटना का कारण या तो एक पूर्ववर्ती है या अनेक पूर्ववर्तियों का समूह है जिस पर या जिन पर घटना नियत और अनौपाधिक रूप में निर्भर करती है।
5. कारण और कार्य पूर्णतया भिन्न-भिन्न नहीं होते हैं अर्थात् निरपेक्ष रूप से कोई भी तथ्य कारण अथवा कार्य नहीं होता है। हम यह देखते हैं कि एक ही वस्तु किसी दृष्टि से कारण भी है तो दूसरी दृष्टि से कार्य भी अत: कारण और कार्य सापेक्ष हैं।

कारण और कार्य को परिभाषित करने तथा उसके वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालने के उपरान्त विषयानुरूप ह्यूम और काण्ट के कारणता सम्बन्धी सिद्धान्त पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है।

9.3 डेविड ह्यूम का कारण-कार्य सम्बन्धी विचार

ह्यूम ने कारणता के प्रत्यय का विवेचन इसलिए किया क्योंकि इसी कारणता के आधार पर उसके पूर्व जॉन लॉक ने जगत्, आत्मा और ईश्वर का अस्तित्व तथा विशप बर्कले ने आत्मा और ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार किया था। लॉक और बर्कले की तरह ह्यूम भी अनुभववादी दार्शनिक था अत: ह्यूम को यह निरन्तर आभास होता था कि अनुभव किसी भी आधार पर इन द्रव्यों की स्थापना नहीं कर सकता। अत: उन्होंने अपने ग्रन्थ ए ट्रीटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर (A Treatise of Human Nature) और ऐन ऐन्क्वायरी कन्सरनिंग ह्यूमन अण्डरस्टैण्डिंग (An enquiry concerning Human understanding) में कारण कार्य सम्बन्ध पर विस्तृत विवेचन किया है। कारण-कार्य सम्बन्ध पर विचार करते हुए उन्होंने सर्वप्रथम यह प्रश्न उठाया है कि हमें कारणता का प्रत्यय किस संस्कार से प्राप्त होता है। क्या हम उन वस्तुओं से कारणता का प्रत्यय प्राप्त कर सकते हैं जिन्हें हम 'कारण' कहते हैं? इस प्रश्न का निषेधपरक उत्तर देते हुए ह्यूम ने कहा है कि 'कारण' मानी जाने वाली वस्तुओं में कोई ऐसा सामान्य गुण नहीं है जिसके आधार पर हम उनसे 'कारणता' का प्रत्यय प्राप्त कर सकें। दूसरे शब्दां में जिन वस्तुओं को हम कारण मानते हैं उनसे हम तर्क तथा अनुभव द्वारा 'कारणता' का प्रत्यय प्राप्त नहीं कर सकते। इस प्रकार ह्यूम इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि 'कारणता' का प्रत्यय वस्तुगत नहीं है। ए ट्रीटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर (पृष्ठ 75) में उसने यह स्वीकार किया है कि कारणता का प्रत्यय हमें वस्तुओं में विद्यमान किसी सम्बन्ध से ही प्राप्त हो सकता है। सम्बन्धों की मीमांसा करते हुए उसने तीन प्रकार के सम्बन्धों का उल्लेख किया है—

1. दैशिक दृष्टि से वस्तुओं का सामीप्य सम्बन्ध
2. कालिक दृष्टि से वस्तुओं में विद्यमान पौर्वापर्यक्रम
3. अनिवार्यता का सम्बन्ध

ह्यूम के अनुसार सामान्यत: कारण-कार्य में दैशिक सामीप्य का सम्बन्ध होते हुए भी यह अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। जब हम किन्हीं दो वस्तुओं या घटनाओं में से एक को कारण और दूसरे को कार्य मानते हैं तो सामान्यत: वे एक-दूसरे के समीप होती हैं। यह सामीप्य सम्बन्ध साक्षात्, व्यवधान रहित भी हो सकता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है और परोक्ष, व्यवधान युक्त भी हो सकता है। कभी हम एक घटना से दूसरी घटना घटते हुए देखते हैं तो कभी एक घटना से चौथी घटना घटते देखते हैं। जो दूसरी, तीसरी घटना को भी समाहित किये रहती है। मक्खन से सीधे घी निकलते हुए देखना और दूध से घी निकलते हुए देखना दोनों प्रकार के सामीप्य सम्बन्ध का उदाहरण है। प्रथम उदाहरण में कार्य कारण से प्रत्यक्ष सम्बन्धित है तो दूसरे में परोक्ष रूप से। परन्तु यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ह्यूम प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष दैशिक सामीप्य को कारण-कार्य के सम्बन्ध के लिए आवश्यक नहीं मानते। उनके अनुसार दो वस्तुएं एक दूसरे के समीप हो सकती हैं पर इस सामीप्य से उनमें अनिवार्य सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। वह यहां स्पष्ट भी करता है मनोवेगों एवं विचारों से कारण-कार्य का सम्बन्ध हो सकता है, परन्तु उनमें किसी प्रकार का दैशिक सामीप्य नहीं हो सकता।

कारण और कार्य के दूसरे सम्बन्ध कालिक दृष्टि से वस्तुओं में विद्यमान पौर्वापर्य के सम्बन्ध में ह्यूम का मानना है कि जब कोई कारण किसी कार्य को उत्पन्न करता है तो वह सदैव उस कार्य का पूर्ववर्ती होगा। मक्खन से घी के उदाहरण में ह्यूम प्रत्येक स्थिति में मक्खन को घी से पूर्व स्वीकार करता है। कारण-कार्य के संदर्भ में इस कालिक पौर्वापर्य सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए भी वह इसे पर्याप्त नहीं मानता है। उसके अनुसार दो घटनाएं एक दूसरे के बाद घटित हो सकती हैं पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि इनमें आपस में कारण-कार्य का सम्बन्ध है। जैसे रेलवे के एक प्लेटफार्म पर एक गाड़ी के जाने के तुरन्त बाद दूसरी गाड़ी का आकर खड़ा होना पौर्वापर्य सम्बन्ध की दृष्टि से होते हुए भी कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं है। उपर्युक्त मीमांसा को स्पष्ट करते हुए ए ट्रीटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर में वह कहता है "यह संभव है कि कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के समीप तथा पूर्ववर्ती होते हुए भी उसका कारण न हो। इन दोनों में एक अनिवार्य सम्बन्ध का होना आवश्यक है जो पूर्व वर्णित दोनों सम्बन्धों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।"

अब प्रश्न यह उठता है कि कारण-कार्य के इस अनिवार्य सम्बन्ध का ज्ञान किस प्रकार होता है? दूसरे शब्दों में कारण और कार्य में जो अनिवार्यता दृष्टिगोचर होती है उसका प्रत्यय हमें किस संस्कार से होता है? इस प्रश्न के उत्तर में ह्यूम का कहना है कि कोई भी संवेदन या इन्द्रिय प्रत्यक्ष कारण-कार्य के अनिवार्य सम्बन्ध का ज्ञान नहीं करा सकते। आन्तरिक अनुभव या अनुचिन्तन भी इस सम्बन्ध की व्याख्या नहीं कर सकता। अनुभव हमें केवल इतना ही बताता है कि एक घटना के पश्चात् दूसरी घटना किस प्रकार घटती है। इन घटनाओं को अपृथकनीय बनाने वाले किसी अनिवार्य सम्बन्ध का हमें इस अनुभव द्वारा ज्ञान नहीं होता। अत: निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि अनिवार्य सम्बन्ध का प्रत्यय हमारे मन में विद्यमान किसी भावना या चेतना की अनुकृति नहीं है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि कारण-कार्य के अनिवार्य सम्बन्ध का ज्ञान न हमें बाह्य प्रत्यक्ष से होता है और न ही आन्तरिक प्रत्यक्ष से फिर यह क्यों मानते हैं कि दो घटनाओं में आपस में कारण और कार्य का सम्बन्ध हैं? इसके उत्तर में ह्यूम कहता है कि ऐसा मानने का कारण केवल प्रथा और आदत है। जब हम दो घटनाओं को बार-बार एक के बाद घटित होते हुए देखते हैं तो हमारा मन उन घटनाओं में स्वत: सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और इसी कारण उनमें से किसी एक घटना को घटित होते देखकर तुरन्त उससे सम्बन्धित दूसरी घटना के घटित होने की आशा करने लगते हैं। उदाहरणार्थ अग्नि के स्पर्श से हमने सदैव उष्णता का अनुभव किया है और बर्फ के स्पर्श से शीतलता का अनुभव। इस पूर्वानुभव के परिणामस्वरूप हमारे मन में इस प्रकार का सम्बन्ध भी स्थापित हो जाता है। यही कारण है कि जब हम अग्नि पर बर्फ को देखते हैं तो उष्णता और शीतलता का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। वस्तुत: पूर्वानुभव द्वारा उत्पन्न अपनी इस आदत के कारण हमें अग्नि और उष्णता में और बर्फ और शीतलता में अनिवार्य सम्बन्ध प्रतीत होता है। पूर्वानुभव के अभाव में केवल इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा हम इस अनिवार्य सम्बन्ध को कभी नहीं जान सकते और न हम इसे तर्क द्वारा प्रमाणित ही कर सकते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि ह्यूम कारण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

और कार्य के सम्बन्ध को वस्तुगत न मानकर अनुभवजन्य आदत के परिणामस्वरूप उत्पन्न आत्मगत सम्बन्ध मात्र मानते हैं। अत: ह्यूम के अनुसार अनुभवजन्य आदत ही कारण-कार्य के अनिवार्य सम्बन्ध का आधार है। कारण-कार्य में अनिवार्य सम्बन्ध वास्तविक रूप में न होने का एक कारण ह्यूम कारण-कार्य सम्बन्धी निर्णय को संश्लेषणात्मक निर्णय होना बताया है। इस निर्णय में उद्देश्य और विधेय का सम्बन्ध आन्तरिक न होकर बाह्य होता है। यहां कार्य कारण में निहित न होकर इस निर्णय के अनुसार पृथक् होता है। इस कारण से भी इनमें अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है।

उपर्युक्त विवरणों में कारण और कार्य के सम्बन्ध की मीमांसा और विशेष कारण से विशेष कार्य की उत्पत्ति के आधार की मीमांसा के पश्चात् ह्यूम के दर्शन में इस प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि क्या प्रत्येक वस्तु का कोई कारण होना अनिवार्य है? प्राय: यह माना जाता है कि जो वस्तु उत्पन्न हुई है या जो घटना घटित हुई है उसका कोई न कोई कारण अवश्य होता है। इस संदर्भ में ह्यूम का यह मानना है कि इस सिद्धान्त को हम न तो अनुभव द्वारा और न ही तर्क द्वारा ही सिद्ध कर सकते हैं। इसे सिद्ध करने के लिए क्लार्क और जॉन लॉक ने जो तर्क दिये उन तर्कों का भी ह्यूम ने खण्डन किया है। ह्यूम यद्यपि कारण-कार्य के अनिवार्य सम्बन्ध को किसी युक्ति या तर्क की कसौटी पर खरा नहीं मानता परन्तु इससे यह भी आशय नहीं निकाला जा सकता कि वह अकारण किसी घटना के घटित होने को स्वीकार करता है। 'ऐन एन्क्वायरी कन्सरनिंग ह्यूमन अण्डरस्टैण्डिग' के पृष्ठ 75 पर उसने यह स्पष्ट किया है कि—"यह सर्वसम्मति से स्वीकार किया जाता है कि बिना कारण के किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता।" लेटर्स भाग एक के पत्र संख्या 91 में उसने प्रत्येक वस्तु के लिए कारण की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए लिखा है—"मैंने यह मूर्खतापूर्ण बात कभी नहीं कही कि कोई वस्तु बिना कारण के उत्पन्न हो सकती है।" ए ट्रीटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर से यह स्पष्ट है कि व्यावहारिक दृष्टि से ह्यूम कारणता के सिद्धान्त में पूर्णत: विश्वास करते थे। परन्तु उनका यह निश्चित मत था कि सैद्धान्तिक दृष्टि से तर्क द्वारा किसी वस्तु के लिए कारण की अनिवार्यता को कभी प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

यहां इस बात का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है प्रतीत होता है कि ह्यूम को अपने पूर्ववर्ती दार्शनिक अरस्तू द्वारा किया गया 'कारण' का वर्गीकरण भी मान्य नहीं है। अरस्तू जब किसी घटना की उत्पत्ति के कारण की बात करते हैं तो वे इस सम्बन्ध में 'कैसे' और 'क्यों' प्रश्नों का समाधान भी चाहते हैं और इसी समाधान के लिए ये चार प्रकार के कारण भी स्वीकार करते हैं—

1. उपादान कारण (Material cause)
2. निमित्त कारण (Efficient cause)
3. आकारिक कारण (Formal cause)
4. लक्ष्य कारण (Final cause)

कारणों का विश्लेषण करते हुए अरस्तू ने इन चार कारणों को दो ही मौलिक कारणों के रूप में परिवर्तित कर दिया—उपादान (द्रव्य) एवं आकार। चूंकि अरस्तू का मूल लक्ष्य था विश्व की वस्तुओं की एक व्यापक दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करना। विश्व की व्याख्या के लिए ही उन्होंने चार प्रकार के कारणों को उपादान (द्रव्य) एवं आकार में परिवर्तित कर दिया। उनके अनुसार किसी वस्तु के निर्माण में द्रव्य एवं आकार महत्त्वपूर्ण हैं। द्रव्य में संभावना है और आकार में वास्तविकता। किन्तु डेविड ह्यूम ने अरस्तू के चार प्रकार के कारणों में केवल निमित्त कारण को ही स्वीकार करता है। उसके अनुसार अरस्तू ने कारण के जो अन्य तीन भेद स्वीकार किये हैं वे वास्तव में कारण नहीं हैं। किसी कार्य को उत्पन्न करने वाला कारण केवल एक ही प्रकार का हो सकता है और वह है निमित्त कारण। कारण के विषय में अपनी इस मान्यता को स्पष्ट करते हुए ह्यूम ने 'ए ट्रीटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर', पृष्ठ 171 पर लिखा है "शक्ति अथवा उत्पादकता सम्बन्धी हमारा प्रत्यय किन्हीं दो वस्तुओं के सतत् सम्बन्ध के फलस्वरूप ही उत्पन्न होता है, अत: जहां यह सतत् सम्बन्ध पाया जाता है वहां केवल निमित्त कारण होता है और जहां यह सतत् सम्बन्ध नहीं पाया जाता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वहां किसी प्रकार का कारण नहीं हो सकता।" अत: यह भी स्पष्ट होता है कि ह्यूम 'कारण' के परम्परागत वर्गीकरण को भी स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ह्यूम ने कारणता के संदर्भ में एक नयी पहल की है, हालांकि यह पहल डॉ. वेद प्रकाश वर्मा ने अपनी कृति 'डेविड ह्यूम का दर्शन' में मौलिक न स्वीकार कर चौदहवीं सदी के दार्शनिक निकोलस के विचारों के अनुरूप ही स्वीकार किया है। यह मान लेने पर भी ह्यूम के सिद्धान्तों का महत्त्व कम नहीं होता क्योंकि आधुनिक अनुभववादी और तर्कीय प्रत्यक्षवादी ह्यूम के दर्शन को ही अपने दर्शन का मूल आधार मानते हैं; न कि निकोलस के दर्शन को। अत: ह्यूम के कारणता सिद्धान्त का अपना वैशिष्ट्य है।

9.4 इमेन्युअल काण्ट की कारणता सम्बन्धी दृष्टि

जर्मनी के महान् दार्शनिक इमेन्युअल काण्ट को पश्चिम जगत् में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अनुभव और बुद्धिवाद की विरोधी विचारधारा में समन्वय स्थापित करने के कारण दर्शन जगत् में वह अमर हैं। ह्यूम ने अनुभव के आधार पर कार्य-कारण सम्बन्ध पर जो दृष्टिपात किया और जो निष्कर्ष निकाला उससे काण्ट सहमत दिखाई नहीं पड़ता है। अनुभववादी होने के कारण ह्यूम ने अनुभव की कसौटी पर ही कारणता सिद्धान्त को कसने की कोशिश की और यह निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया कि कारण और कार्य में कोई अनिवार्य सम्बन्ध अनुभव स्थापित नहीं कर सकता। अनुभव से तो हमें कारण और कार्य का पृथक्-पृथक् ज्ञान होता है। अनुभव हमें केवल इतना ही बता सकता है कि हमने पानी पीया और प्यास बुझने का अहसास हुआ। पानी पीना और प्यास बुझना ये अलग-अलग क्रियायें हैं, जिसका ज्ञान हमें अनुभव से होता है। इस ज्ञान के आधार पर हम कभी यह अनुभव नहीं कर सकते कि पानी में प्यास बुझाने की क्षमता है और भविष्य में भी जब पानी पीयेंगे तो प्यास बुझेगी। काण्ट ने ह्यूम के कारणता सम्बन्धी इस विचार का उत्तर देते हुए स्पष्ट किया है कि कार्य-कारण सम्बन्ध आनुभविक नहीं अपितु अनुभव निरपेक्ष है। अनुभव निरपेक्ष होने के कारण उसने इसे बुद्धि के विकल्प के रूप में स्वीकार किया है। यह एक सांचा है जहां से अनुभूत सामग्री निकलकर ज्ञान का रूप ले लेती है। इसी कारण से इसे अनुभव का आधार भी माना गया है और जो अनुभव का आधार है, वह भला आनुभविक कैसे हो सकता है? काण्ट का यह मानना है कि यदि अनुभववादी यह कहते हैं कि मैं केवल पूर्वापर घटनाओं को देखता हूं और उनमें किसी सम्बन्ध को नहीं देखता हूं तो इससे अनुभववाद की सीमाओं का ही पता चलता है न कि कार्य-कारण सम्बन्ध का अभाव।

काण्ट का यह मानना है कि कार्य-कारण का अर्थ सभी परिवर्तनों का इस शृंखला से होकर ही घटित होना है। कारण-कार्य को बुद्धि के सम्बन्ध (Relation) विकल्प के अन्तर्गत काण्ट ने प्रतिष्ठापित किया है। जिस पर किसी प्रकार का प्रश्नचिह्न नहीं लगाया जा सकता। ह्यूम ने अनुभव के आधार पर कारण-कार्य के अनिवार्य सम्बन्ध को लेकर जो टिप्पणी की है उसका काण्ट ने सटीक जवाब भी दिया है जिसे दर्शन जगत् में 'ह्यूम को काण्ट का प्रत्युत्तर' नाम से प्रसिद्धि भी मिली है। उसी प्रत्युत्तर को डॉ. संगमलाल पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक दर्शन की भूमिका' में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

1. मैं प्रत्यक्ष देखता हूं कि एक दृश्य विषय दूसरे दृश्य विषय का अनुवर्तन करता है। इसका तात्पर्य है कि मैं विविध दृश्यों को सम्बन्धित करता हूं। किन्तु सम्बन्ध स्थापित करना इन्द्रियानुभव का व्यापार नहीं है। यह व्यापार कल्पना का है। इसलिए कल्पना विविध विषयों को सम्बन्धित करती है परन्तु कल्पना बुद्धि के अधीन रहकर ही ऐसा करती है और वह मनमानी नहीं कर सकती। पुनश्च विविध दृश्यों में जो अनुवर्तन दिखाई पड़ता है वह कल्पना का मनमाना व्यापार नहीं है क्योंकि वह विषयगत है। अत: कल्पना विविध दृश्यों में जो सम्बन्ध स्थापित करती है वह बुद्धि के द्वारा नियंत्रित है। बुद्धि का यह नियंत्रण बताता है कि एक दृश्य नियतरूप से पूर्ववर्ती है और दूसरा दृश्य नियतरूप से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

परवर्ती। यही कार्य-कारण का सिद्धान्त है। अत: विविध दृश्यों का अनुवर्तन कार्य-कारण को सिद्ध करता है।

2. काण्ट के अनुसार क्रम विषयगत और मनोगत दो प्रकार का है। मनोगत क्रम केवल देखने में है और विषयगत क्रम वस्तुगत है। जब हम नौका को खेते हुए दो स्थानों में देखते हैं तो उसकी स्थितियों का क्रम विषयगत है, मनोगत नहीं। विषयगत क्रम नियत होता है और नियत क्रम कारण-कार्य के नियमानुसार होता है। अत: विषयगत क्रम के प्रत्यक्ष में कार्य-कारण का नियम निहित है।
3. यदि मान लिया जाय कि कोई घटना कार्य-कारण के नियम के अनुसार नहीं घटती फिर उसका ज्ञान असंभव होगा क्योंकि इस परिस्थिति में उस घटना के विविध अंगों में कोई सम्बन्ध न रहेगा और उनके बीच सम्बन्ध न रहने के कारण उनका ज्ञान असंभव होगा। किन्तु यह अनुभव के विपरीत है। कारण हमें प्रत्येक घटना का ज्ञान होता है। अत: यह ज्ञान सिद्ध करता है कि कार्य-कारण का नियम प्रत्येक घटना के ज्ञान में निहित है।
4. हमारे प्रत्यक्षों में एक अनिवार्य क्रम है जिसके अनुसार पूर्ववर्ती प्रत्यक्ष अनुवर्ती प्रत्यक्ष को प्रस्तुत करता है। स्पष्ट है कि यह प्रस्तुति कार्य-कारण के नियम के बिना नहीं हो सकती। अत: कार्य-कारण का नियम सत्य है।
5. विभिन्न क्षणों के सातत्य का जो प्रत्यक्ष हमें होता है उसमें कार्य-कारण का नियम निहित है। हम भविष्य को पहले, भूत को बाद में और वर्तमान को अंत में नहीं देख सकते हैं। हमें काल को क्रमश: भूत, वर्तमान और भविष्य के रूप में देखना पड़ता है। कालक्रम अपरिवर्तनीय और नियतक्रम है। उसका यह रूप कार्य-कारण के नियम को सिद्ध करता है।

इस प्रकार काण्ट ने सिद्ध किया कि प्रकृति में जो परिवर्तन होता है वह आकस्मिक या मनगढ़न्त नहीं है वरन कार्य-कारण के नियमानुसार है। कार्य-कारण का विषय प्रागनुभविक है। वह अनुभवजन्य नहीं है। प्रत्येक घटना इसी कारण-कार्य से गुजरती हुई कारण-कार्य सम्बन्ध को पुष्ट करती है।

9.5 जैनदर्शन में कारणता

भारतीय दर्शन में कारणता को लेकर 5 प्रकार के वाद प्रसिद्ध हैं—

1. सत्कार्यवाद	सांख्य-योग
2. असत्कार्यवाद	न्याय-वैशेषिक
3. सत्कारणवाद (विवर्तवाद)	अद्वैतवेदान्ती शंकर
4. असत्कारणवाद	बौद्ध
5. सदसत्कार्यवाद	जैन

उपर्युक्त कारण-कार्य के संदर्भ में सत्कार्यवाद जहां कारण-कार्य की अभेदता पर बल देता है वहीं असत्कार्यवाद दोनों की भेददृष्टि को उजागर करता है। सत्कारणवाद जहां कारण की नित्यता और कार्य की अनित्यता या भ्रम को प्रतिपादित करता है तो असत्कारणवाद कारण के नष्ट होने पर कार्य की उत्पत्ति को स्वीकार करता है। सदसत्कार्यवाद तो कारण से कार्य को नवीन भी स्वीकार करता है और अनवीन भी।

इन उपर्युक्त विवेचनों के साथ यह भी कहा जा सकता है कि आमतौर पर भारतीय दर्शन में उपादान और निमित्त कारण को ही स्वीकार किया गया है। नैयायिकों ने जरूर समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्त कारण के रूप में तीन प्रकार के कारणों को स्वीकार किया है। योगसूत्र (1/28) पर व्यास भाष्य में नौ प्रकार के कारणों का भी उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. उत्पत्ति कारण—उदाहरण बीज पौधे का उत्पत्ति कारण है।
2. स्थिति कारण—जल, मिट्टी, सूर्य, प्रकाश, पौधे के स्थिति कारण हैं।
3. अभिव्यक्ति कारण—प्रकाश जिसके कारण अंधेरे में घट व्यक्त होता है।
4. विकार कारण—जामन जिससे दूध में विकृति होकर दही बनता है।
5. प्रत्यय कारण—दुर्गन्ध से सड़ी हुई लाश का अनुभव होता है।
6. प्राप्ति कारण—पुरुष को प्रकृति से अलग जानना मोक्ष प्राप्ति का कारण है।
7. वियोग कारण—वैराग्य संसार में आसक्ति का वियोग कारण है।
8. अन्यत्व कारण—जो दूध को दही, छाछ, मक्खन आदि में परिवर्तित करती है।
9. धृति कारण—जैसे नींव मकान को खड़ा करने का कारण है।

भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में कारणता पर संक्षिप्त विमर्श करने के उपरान्त यहां जैन कारणता पर विस्तार अपेक्षित है। जैनदर्शन में भी कारण को पूर्ववर्ती और कार्य को परवर्ती माना गया है और कारण-कार्य में पौर्वापर्य सम्बन्ध को भी स्वीकार किया गया है तथा यह माना गया है कि एक ही द्रव्य अपने पूर्ववर्ती पर्याय से कारण और उत्तरवर्ती पर्याय से कार्य भी है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कारण-कार्य भाव के इस स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

"पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा॥"

अर्थात् पूर्व पर्याय से युक्त द्रव्य कारण भाव यानी उपादान कारण होता है और उत्तर पर्याय से युक्त वही द्रव्य कार्य होता है। इस तरह वस्तु के पूर्व और उत्तर परिणाम को लेकर तीनों ही कालों में प्रति समय कारण-कार्य भाव होता रहता है। नयचक्र में भी कहा गया है—

"उप्पज्जंतो कज्जं कारणमप्पा णियं तु जणयंतो।
तम्हा इह ण विरुद्धं एकस्स व कारणं कज्जं॥"

अर्थात् जो उत्पद्यमान है वह कार्य है और उसको उत्पन्न करने वाला निजात्मा कारण है। अत: एक ही द्रव्य में कारण-कार्यभाव विरोध को प्राप्त नहीं होता है। तत्त्वार्थवार्तिक में भी अकलंक ने अनेकान्त की सिद्धि में कहा है कि सभी दार्शनिक और लौकिक जन पूर्वकालभावी अवस्था को कारण और उत्तरकालभावी अवस्था को कार्य मानते हैं। इस प्रकार एक ही द्रव्य में कार्यशक्ति और कारणशक्ति के मानने में कोई विरोध नहीं है। अध्यात्म में भी मुक्तात्मा का जो मोक्ष पर्यायरूप से उत्पाद है वहीं निश्चय रत्नत्रय (मोक्षमार्ग पर्याय) रूप से विनाश है तथा वे दोनों मोक्ष पर्याय और मोक्ष-मार्ग-पर्याय कार्य-कारण रूप से भिन्न हैं किन्तु उन दोनों का आधारभूत परमात्मा द्रव्य एक ही है। द्रव्यानुयोग तर्कणा में भी ऊर्ध्वता सामान्य की व्याख्या में इसी पौर्वापर्य की व्याख्या इस रूप में की गयी है—

ऊर्ध्वतादिमसामान्यं पूर्वापरगुणोदयम्।
पिंडस्थादिक संस्थानानुगता मृद्यथा स्थिता॥

अर्थात् पूर्ववर्ती मिट्टी में ही उत्तरवर्ती स्थास, कुसूल अदि कारण-कार्य सम्बन्ध से निहित हैं।

इस प्रकार यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि जहां सांख्ययोग दार्शनिक कारण और कार्य में अभेद सम्बन्ध स्वीकार कर विकास, प्रगति एवं परिवर्तन का मार्ग अवरुद्ध करते हैं वहीं कारण और कार्य में समग्रत: भेद स्वीकार कर न्याय-वैशेषिक बालू से तेल निकालने एवं पानी से दही जमाने की निरर्थक कोशिश करते हैं वहीं जैनदर्शन 'कारणता' के संदर्भ में विरोधपूर्ण द्वय एकान्तवादी विचारों में समन्वय करते हुए कहता है कि न तो कारण-कार्य एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न हैं और न ही अभिन्न। यहां कारण-कार्य को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

परस्पर सापेक्ष भी माना गया है। यों तो यहां गुण कारण और पर्याय कार्य है परन्तु पर्यायों में भी प्रथम पर्याय दूसरे पर्याय का कारण है तो दूसरा पर्याय तीसरे पर्याय का कारण है और तीसरा पर्याय चौथे पर्याय का कारण है, अतः सापेक्ष है। द्रष्टव्य है—

प्रथम पर्याय (कारण)	———————	द्वितीय पर्याय (कार्य)
द्वितीय पर्याय (कारण)	———————	तृतीय पर्याय (कार्य)
तृतीय पर्याय (कारण)	———————	चतुर्थ पर्याय (कार्य)

9.5.1 उपादान और निमित्त कारण

जैनदर्शन में दो प्रकार के कारणों की अवधारणा स्पष्ट है। जो द्रव्य स्वयं कार्यरूप परिणमता है वह उपादान कारण होता है और जो उसमें सहायक होता है वह निमित्त कारण होता है। उपादान कारण का लक्षण यहां इस रूप में अभिव्यक्त हुआ है—

"त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत् पौर्वापर्येण वर्तते।
कालत्रयेऽपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम्॥"

अर्थात् जो पौर्वापर्यरूप से अपने आत्मरूप को त्यागता भी है और नहीं भी त्यागता, तीनों कालों में उस द्रव्य को उपादान कारण कहते हैं। उपादान कारण के समान ही कार्य होता है क्योंकि उपादेय (कार्य) उपादान के अनुरूप होता है किन्तु ऐसा भी एकान्त नहीं है। यदि ऐसा एकान्त नियम हो तो मिट्टी के पिण्ड से मिट्टी का पिण्ड ही उत्पन्न हो सकेगा, घट, सकोरा, लोटा आदि उत्पन्न नहीं हो सकेंगे। अतः घट अपने उपादान कारण मिट्टी के पिण्ड से कथंचित् सदृश और कथंचित असदृश होता है।

उपादान के पश्चात् जब निमित्त कारण पर विचार करते हैं तो देखते हैं कि जैनदर्शन में कारण और निमित्त को एक अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है, जिससे निमित्त कारण की प्रधानता का आभास होता है। सर्वार्थसिद्धि में प्रत्यक्षतः कारणं निमित्तमित्यनर्थान्तरम' कहकर प्रत्यय, कारण और निमित्त को एकार्थवाची कहा गया है। निमित्त और कारण को एकार्थक कहने से ऐसा प्रतीत होता है कि लोक में और शास्त्र में कारण शब्द से निमित्त की ही प्रसिद्धि रही है। यद्यपि उपादान ही कार्यरूप में परिणत होता है तथापि लोक में जिनकी सहायता से कार्य होता है उनको ही कारण की संज्ञा दी गयी प्रतीत होती है। ऐसा संभवतः इसलिए होता है क्योंकि लोक में बिना निमित्त के कार्य होता दिखलाई नहीं पड़ता है। यह ठीक है कि मिट्टी के बिना घड़ा नहीं बनता, किन्तु कुम्हार के बिना मिट्टी होते हुए भी घड़ा नहीं बनता। अतः निमित्त की प्रधानता के कारण ही निमित्त और कारण को पर्यायवाची मान लिया गया है। इस निमित्त के दो भेद किये गये हैं—स्वनिमित्त और परनिमित्त। यहां यह उल्लेखनीय है कि प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय जो उत्पाद व्यय-ध्रौव्यरूप परिणमन होता है वह स्वनिमित्त है। इससे यह स्पष्ट है कि निमित्त केवल घट ही नहीं होता, स्व भी होता है। द्रव्य की अन्तरंग शक्ति को स्वनिमित्त कहा जाता है जैसे धर्मादि निष्क्रिय द्रव्यों में वर्तमान अगुरुलघु नामक गुणों के निमित्त से उत्पाद, व्यय सतत् होता रहता है।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल का परनिमित्तक रूप भी दृष्टिगोचर होता है। धर्म द्रव्य जीवों, पुद्गलों के चलने में निमित्त है अधर्म द्रव्य उनके ठहरने में निमित्त है। आकाश द्रव्य सबके अवगाहन में निमित्त है

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

और काल द्रव्य सबके परिणमन में निमित्त है। यद्यपि चलने और ठहरने की शक्ति जीवों और पुद्गलों में स्वाभाविक है। इसी तरह अवगाह शक्ति और परिणमन शक्ति भी सब में स्वाभाविक है, परन्तु परनिमित्त भी आवश्यक है। उसके बिना वह स्वाभाविक शक्ति भी व्यक्त नहीं होती। स्व निमित्त और परनिमित्त की तरह जैनदर्शन में उदासीन निमित्त और प्रेरक निमित्त का भी विभाजन संभव है। उदासीन निमित्त का उदाहरण धर्मादि द्रव्य और प्रेरक निमित्त का उदाहरण कुम्भकार है।

उपादान और निमित्त में जैनदर्शन कहीं उपादान को प्रधानता देता है तो कहीं निमित्त को। अकलंक ने अपने तत्त्वार्थवार्तिक में ही एक स्थान पर उपादान की प्रधानता का उल्लेख किया है तो दूसरे स्थान पर निमित्तों की प्रधानता का। उनका मानना है कि मिट्टी के स्वयं घटरूप में परिणमन के लिए दण्ड, चक्र और कुम्हार का प्रयत्न निमित्त मात्र होता है क्योंकि इनके होने पर भी कंकरीली, पथरीली मिट्टी घट रूप नहीं हो पाती, अत: यहां मिट्टी मूल है और दण्डादि निमित्त मात्र है। इस उपर्युक्त कथन में उपादान की मुख्यता और निमित्त की गौणता को प्रतिपादित किया है। दूसरे स्थान पर जगत् निमित्त की प्रधानता और उपादान की गौणता बतलाते हुए कहते हैं कि मिट्टी घट परिणामरूप होने के लिए आभ्यन्तर में सामर्थ्य होते हुए भी बाह्य कुम्भकार दण्ड, चक्र आदि के बिना घटरूप नहीं हो सकती। अकेली मिट्टी कुम्भकार आदि बाह्य साधनों के मिले बिना घटरूप होने में समर्थ नहीं है।

अत: यह कहा जा सकता है कि जैनदर्शन में 'कारणता' सिद्धान्त के संदर्भ में विभिन्न दृष्टियों के आलोक में निम्न निष्कर्ष निकाला गया है—

1. कारण के बिना कार्य नहीं होता।
2. कारण सदृश ही कार्य होता है।
3. कारणभेद से कार्यभेद अवश्य होता है।
4. कारण और कार्य पूर्वोत्तर कालवर्ती होते हैं।
5. कारण कार्य में कथंचित् भेदाभेद है।
6. उपादान और निमित्त दो कारण होते हैं।
7. परिणमन में उपादान की ही योग्यता प्रधान है।
8. उपादान की योग्यता के सद्भाव में भी निमित्त के बिना कार्य नहीं होता है।
9. निमित्त स्वनिमित्तक और परनिमित्तक दो प्रकार का होता है।
10. उदासीन और प्रेरक की दृष्टि से भी दो प्रकार का निमित्त होता है।

9.6 ह्यूम और जैनदर्शन में कारणता की तुलना

जब हम जैनदर्शन के आलोक में ह्यूम के कारणता सिद्धान्त की विवेचना करते हैं तो दोनों सचमुच पूरब और पश्चिम की धुरी पर केन्द्रित दिखलाई पड़ते हैं, इसलिए दोनों के 'कारणता' सम्बन्धी सिद्धान्त में जमीन-आसमान का अन्तर दृष्टिगोचर होता है। कारण-धर्म की परिभाषा में दोनों की दृष्टि समान दिखलाई पड़ती है। कारण की परिभाषा करते हुए ह्यूम कहता है कि वह वस्तु कार्य है जो बाद में और वह वस्तु जिसे हम कारण कहते हैं पहले घटित होती है। समान वस्तुओं के समान कारण होते हैं। कारण वस्तु का विचार कार्य वस्तु के विचार को और कार्यवस्तु का विचार कारणवस्तु के विचार को जगाता है। जैनदर्शन में भी इसी प्रकार कारण पूर्ववर्ती और कार्य पश्चादवर्ती कहा गया है। अष्टसहस्री में उल्लेख है—'नियतपूर्वक्षणवर्तित्वं कारणलक्षणम्। नियतोत्तरक्षणवर्तित्वं कार्यलक्षणम्।' अर्थात् नियतपूर्वक्षणवर्ती तो कारण होता है और नियत उत्तरक्षणवर्ती कार्य होता है। यहां भी कारण के अनुरूप ही कार्य को स्वीकार किया गया है। धवला में विवेचन है—"सव्वत्थ कारणाणुसारिकज्जु वलंभादो।" अर्थात् सब जगह कारण के अनुसार ही कार्य पाया जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

डेविड ह्यूम कारण और कार्य को दैशिक दृष्टि से सामान्यतः समीपस्थ मानता है। उसके अनुसार यह सामीप्य प्रत्यक्ष एवं व्यवधान रहित भी हो सकता है और अप्रत्यक्ष एवं व्यवधानयुक्त भी हो सकता है। उदाहरण रूप में 'क' कारण 'ख' कार्य से साक्षात् सम्बन्धित हो सकता है और 'क' कारण का 'घ' कार्य से 'ख और ग' के माध्यम से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध भी हो सकता है। इसी तथ्य को 'द्रव्यानुयोग तर्कणा' जैनग्रन्थ में ऊर्ध्वता सामान्य के ओघशक्ति और समुचिता शक्ति के संदर्भ में इस प्रकार विवेचन मिलता है—

"गुणपर्याययोः शक्तिमात्रमोघोद्भवादिमा।
आसन्न कार्य योग्यत्वाच्छक्तिः समुचिता परा॥
ज्ञायमाना तृणत्वेनाज्यशक्तिरनुमानतः।
किंच दुग्धादिभावेन प्रोक्ता लोक सुखप्रदा॥"

इसमें ओघशक्ति अप्रत्यक्ष एवं व्यवधानयुक्त और समुचिता शक्ति प्रत्यक्ष और व्यवधानरहित दृष्टिगोचर होती है। तृण से घी कार्य का होना ओघशक्ति है और मक्खन से घी का होना समुचिता शक्ति है। ह्यूम और जैनदर्शन के कारणता के संदर्भ में यह समानता होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि जैनदर्शन में कारण और कार्य में दैशिक समीपता अनिवार्य है जबकि ह्यूम इसे अनिवार्य नहीं मानता। जैनदर्शन भी यह मानता है कि प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई कारण होता है। कोई घटना अकारण उत्पन्न नहीं हो सकती। डेविड ह्यूम ने भी अपने पत्रों में लिखा है कि मैंने इस मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन कभी नहीं किया कि प्रत्येक घटना अकारण होती है।

उपर्युक्त समानताओं के बावजूद दोनों ही कारण-कार्य सम्बन्धी विचारधारा के मूल में ही अन्तर है। चूंकि ह्यूम अनुभववादी दार्शनिक है और उसने अनुभववाद को चरमोत्कर्ष पर पहुंचाया था अतः कारण-कार्य सिद्धान्त को वह अनुभव की कसौटी पर कसने की कोशिश करता है। उसके अनुसार—"There are no objects which by the mere survey, without consulting experience we can determine to be the causes of any other and no objects, which we can certainly determine in the same manner not to be the causes." अर्थात् ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसके सम्बन्ध में बिना अनुभव का सहारा लिए हम कह सकते हैं कि वह किसी दूसरी वस्तु का कारण है या नहीं अर्थात् अनुभव ही हमें यह बतलाता है कि किसी वस्तु का क्या कारण है।

अनुभव से वह पाता है कि सामान्यतः कारण-कार्य में दैशिक और कालिक सम्बन्ध है पर चूंकि अनुभव की एक सीमा है। अनुभव भविष्य की किसी स्थापना की गारण्टी नहीं दे सकता, इसी कारण कारण-कार्य के संदर्भ में ह्यूम ने ऐसे किसी अनिवार्य सम्बन्ध की प्रतिष्ठापना नहीं की जो अनुभव के द्वारा स्थापित ही न हो सके। इसलिए वह कारण और कार्य को दो अलग-अलग घटना ही मानता है, उनमें कोई अनिवार्य सम्बन्ध स्वीकार नहीं करता। जिस कारणता सम्बन्ध के आधार पर वैज्ञानिकों ने 'जगत' का, दार्शनिकों ने 'आत्मा' का और धार्मिकों ने 'ईश्वर' का अस्तित्व सिद्ध किया है उसी कारणता के अनिवार्य सम्बन्ध का निषेधकर ह्यूम ने इन सभी तत्त्वों के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं किया है किन्तु जैनदर्शन में कारण-कार्य के अनिवार्य सम्बन्ध को भी स्वीकृति मिली है और उनके आधार पर स्थापित तत्त्वों को भी माना गया है। ईश्वर भी जैनदर्शन में 'परमात्मा' के रूप में मान्य है। जैनदर्शन में कारण-कार्य के अनिवार्य सम्बन्ध को वास्तविक एवं वस्तुनिष्ठ माना गया है जबकि ह्यूम इसे वास्तविक एवं वस्तुनिष्ठ न मानकर काल्पनिक और मानसिक मानता है।

जैनदर्शन में उपर्युक्त विवरण से यह भी स्पष्ट हुआ कि यहां उपादान और निमित्त कारण दोनों मान्य हैं। यह बात अलग है कि जैनदर्शन में कहीं उपादान को प्रधान माना गया है तो निमित्त को गौण और कहीं निमित्त को प्रधान माना गया है तो उपादान को गौण माना गया है। परन्तु सर्वत्र दोनों प्रकार के कारणों की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

समुचित मीमांसा हुई है। किन्तु ह्यूम के विचारों में केवल निमित्त कारण की मान्यता दृष्टिगोचर होती है। उसके अनुसार किसी कार्य को उत्पन्न करने वाला कारण एक ही हो सकता है और वह निमित्त कारण है। अपनी पुस्तक 'ए ट्रीटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर' में उल्लिखित पूर्व उद्धृत विचार को यहां प्रस्तुत कर सकते हैं—"शक्ति अथवा उत्पादकता सम्बन्धी हमारा प्रत्यय किन्हीं दो वस्तुओं के सतत् सम्बन्ध के फलस्वरूप ही उत्पन्न होता है, अत: जहां यह सतत् सम्बन्ध पाया जाता है वहां केवल निमित्त कारण होता है और जहां यह सतत् सम्बन्ध नहीं पाया जाता वहां किसी प्रकार का कारण नहीं हो सकता।"

9.7 इमेन्युअल काण्ट और जैनदर्शन

कारणता सिद्धान्त का जैनदर्शन में जितना महत्त्व है उतना ही काण्ट के दर्शन में भी दृष्टिगोचर होता है। ह्यूम की तरह काण्ट की ऐसी कोई मजबूरी नहीं थी कि वह कारण-कार्य सम्बन्ध को केवल अनुभव की परिधि में व्याख्यायित करे। कहा तो यह जाता है कि काण्ट ने ह्यूम को कारणता के संदर्भ में सही प्रत्युत्तर दिया। किसी सीमा और संकीर्णता में ह्यूम की तरह कैद न होने के कारण काण्ट के कारणता सम्बन्धी विचार में जैनदर्शन की तरह व्यापकता दिखाई पड़ती है। ह्यूम के विरोध में काण्ट कारण और कार्य के अनिवार्य सम्बन्ध को मजबूती से स्वीकार करता है। उसके अनुसार यदि 'क' कारण है और 'ख' कार्य तो दोनों का अनिवार्य सम्बन्ध आवश्यक है। इसमें कारण 'क' सदा पूर्ववर्ती होगा और कार्य 'ख' सदा अनुवर्ती होगा। वह ह्यूम की तरह इस सम्बन्ध को काल्पनिक या मानसिक भी नहीं मानता है। अत: कारण-कार्य के अनिवार्य सम्बन्ध और इस सम्बन्ध की वस्तुनिष्ठता को लेकर काण्ट जैनदर्शन के निकट है। कारण-कार्य के सम्बन्ध के अभाव में काण्ट का मानना है कि ज्ञान भी असंभव हो जायेगा क्योंकि जब भी हम किसी तथ्य का ज्ञान करने चलेंगे और उसके कारणों की तह में नहीं पहुंच पायेंगे तो उसके संदर्भ में यथोचित ज्ञान संभव नहीं हो सकता, काण्ट के इस विचार से जैनदर्शन भी किंचित् सहमत है, पूर्णतया सहमत इसलिए नहीं कह सकते क्योंकि ज्ञान के लिए अनेकानेक माध्यमों में 'कारणता भी एक माध्यम है, सर्वमाध्यम नहीं।

कालक्रम अपरिवर्तनीय और नियतक्रम है। इस आधार पर भी इमेन्युअल काण्ट ने कारणता को स्वीकार किया है। चूंकि जैन श्वेताम्बर परम्परा में काल द्रव्य न होकर औपचारिक द्रव्य माना गया है किन्तु दिगम्बर परम्परा में इसे स्वतंत्र द्रव्य स्वीकार किया गया है। नैश्चयिक काल और व्यावहारिक काल में व्यावहारिक काल की जो मान्यता है उसमें सभी भूत, वर्तमान और भविष्य का नियतक्रम स्वीकार किया गया है। अर्थात् हम यह कह सकते हैं कि काण्ट की तरह जैनदर्शन में भी भूत कारण है वर्तमान का और वर्तमान कारण है भविष्य का।

इमेन्युअल काण्ट ने कारण-कार्य सम्बन्ध को एक बौद्धिक वर्गणा या बुद्धि का विकल्प स्वीकार कर भारतीय शब्दावली में दोनों में जो व्याप्ति सम्बन्ध स्वीकार किया है वैसा जैनदर्शन में भी देखा जाता है, जिसके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

"तत्कारणकत्वस्य तदन्वयव्यतिरेकोपलम्भेन व्याप्तत्वात् कुलालकारणकस्य घटादे: कुलालान्वय-व्यतिरेकोपलम्भ प्रसिद्धे:॥" **(आप्त परीक्षा, 9/41/2)**

अर्थात् जैसे कुम्हार से उत्पन्न होने वाले घड़े आदि में कुम्हार का अन्वय व्यतिरेक स्पष्टत: प्रसिद्ध है। अत: सब जगह कारण और कार्य के सम्बन्ध में अन्वय-व्यतिरेक अवश्य पाया जाता है।

"जस्स अण्ण विदिरेगेहि णियमेण जस्सण्णयविदिरेगा उवलंभंति तं तस्स कज्जमियरं च कारणं।" **(धवला, 8/3)**

अर्थात् जिसके अन्वय और व्यतिरेक के साथ नियम से जिसका अन्वय और व्यतिरेक पाया जावे वह उसका कार्य और दूसरा कारण होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

9.8 सारांश

उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि ह्यूम का कारण सिद्धान्त जैनदर्शन से जितनी दूरी पर है वहीं काण्ट का कारणता सिद्धान्त जैनदर्शन के उतना ही निकट है। कारण और कार्य का पूर्ववर्ती, अनुवर्ती होना, उनका वास्तविक और वस्तुनिष्ठ होना, उनमें अनिवार्य सम्बन्ध होना और उनके सम्बन्ध का बौद्धिक होना आदि कारणता सम्बन्धी बातें काण्ट और जैनदर्शन में एक जैसी दिखाई पड़ती हैं।

9.9 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. ह्यूम और जैनदर्शन के कारण-कार्य सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. जैनदर्शन के 'कारणता' विचार पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
2. काण्ट के 'कारणता' सिद्धान्त की निष्पत्ति लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. ह्यूम कितने कारण मानता है?
2. जैनदर्शन में कितने प्रकार के कारण माने गये हैं?
3. 'कारण से कार्य सदा नया होता है' यह किस दर्शन की मान्यता है?
4. ह्यूम कारण-कार्य में अनिवार्य सम्बन्ध मानता है या नहीं?
5. कारणता के संदर्भ में जैनदर्शन सत्कार्यवादी है/असत्कार्यवादी है/सदसत्कार्यवादी?
6. कारण-कार्य सम्बन्ध को काण्ट किस रूप में मानता है?
7. कारणता की व्याख्या ह्यूम ने अपने किन ग्रन्थों में की है?
8. जैनदर्शन के अनुसार कारण-कार्य में भेद है/अभेद है/भेदाभेद है?
9. कारणता के संदर्भ में सांख्य की क्या मान्यता है?
10. कारण-कार्य के संदर्भ में जैनदर्शन के अधिक नजदीक ह्यूम है या काण्ट?

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. एक, निमित्त कारण
2. दो
3. न्याय, वैशेषिक
4. नहीं मानता
5. सदसत्कार्यवादी
6. बुद्धि विकल्प रूप में
7. ए ट्रीटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर और ऐन एनक्वायरी कन्सरनिंग ह्यूमन अण्डरस्टेण्डिंग
8. भेदाभेद
9. कारण में कार्य निहित रहता है, दोनों पृथक् नहीं है।
10. काण्ट।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–10 (प्लाटिनस, स्पिनोजा, लाइबनीज, बर्कले, जैनदर्शन)

संरचना

10.0 प्रस्तावना
10.1 उद्देश्य
10.2 प्लाटिनस का जगत् सम्बन्धी विचार
10.3 स्पिनोजा के दर्शन में जगत्
10.4 लाइबनीज के दर्शन में जगत्
10.5 वर्कले का जगत सम्बन्धी विचार
10.6 जैन दर्शन में जगत विचार
10.7 पाश्चात्य और जैन दर्शन में जगत् की तुलना
10.8 सारांश
10.9 अभ्यास प्रश्नावली

10.1 प्रस्तावना

दर्शन जगत् में प्राय: यह प्रश्न उठता रहा है कि जगत् अथवा संसार जिस रूप में है उसका स्रोत क्या है, वह कहां से आया, उसकी उत्पत्ति कैसे हुई? समाधान की दृष्टि से इस प्रश्न के दो उत्तर दिये जाते रहे हैं—

1. जगत् अपने जिस रूप में है उसी रूप में परम पिता ईश्वर ने उसकी सृष्टि एक ही बार में की है। सारे जीव-जन्तु, पौधे, वनस्पति आदि जो विश्व में विद्यमान हैं उनकी सृष्टि एक ही बार में ईश्वर ने एक निश्चित समय पर कर दी और तब से विश्व अपने उसी रूप में चला आ रहा है, अन्तर सिर्फ इतना हुआ है कि समय-समय पर जीव-जन्तु और पौधों की संख्या बढ़ती रही है।
2. इस मान्यता के विपरीत एक धारणा यह है कि विश्व का वर्तमान रूप किसी के द्वारा की गयी एक ही बार की सृष्टि का फल नहीं है, अपितु हजारों-लाखों वर्षों के क्रमिक विकास का फल है। प्रारम्भ में कालक्रम से पृथ्वी का निर्माण हुआ, उसमें किसी प्रकार एक-दो साधारण जीव या पौधे उत्पन्न हुए और फिर वातावरण के प्रभाव से उन प्रारम्भिक जीव-जन्तुओं में परिवर्तन होता गया, उनका रूप जटिलतर होता गया तथा कालक्रम से जीव-जन्तुओं की नयी-नयी जातियों-उपजातियों की उत्पत्ति होती गयी। इसलिए इस विश्व का वर्तमान रूप किसी एक या दो या छ: सात दिनों के कार्य का परिणाम नहीं है बल्कि हजारों-हजारों वर्षों के स्वत: विकास क्रम का परिणाम है। जगत् के संदर्भ में इनमें से पहला उत्तर सृष्टिवाद तथा दूसरा विकासवाद के सिद्धान्त को जन्म देता है।

10.1 उद्देश्य

अत: जगत् सम्बन्धी सृष्टिवादी मान्यता है कि ईश्वर ने ही जगत् की रचना की है। ईश्वर सभी तरह से पूर्ण है और सर्वशक्तिमान है। वह अनादि तथा अजन्मा है और उसका अन्त कभी नहीं होता। कभी सिर्फ वही था और विश्व नहीं था। किसी खास समय में उसे विश्व को उत्पन्न करने की इच्छा हुई और उसने विश्व की सृष्टि कर डाली। विश्व की सृष्टि के लिए उसे कुछ करना नहीं पड़ा, इसके लिए उसकी इच्छा ही काफी थी। उसे इच्छा हुई कि विश्व की उत्पत्ति हो और विश्व उत्पन्न हो गया। विभिन्न पाश्चात्य दर्शनों में ईश्वर द्वारा सृष्टि की रचना के संदर्भ में कमोबेश यही विचार मिलते हैं। जहां तक सृष्टि के संदर्भ में विकासवादी अवधारणा का प्रश्न है, उनका मानना है कि विश्व का वर्तमान स्वरूप अनेक वर्षों के क्रमिक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विकास का परिणाम है। चूंकि जगत् के संदर्भ में जिन दार्शनिकों की दृष्टि का विवेचन यहां होना है उनमें एक भी विकासवादी दार्शनिक न होने के कारण जगत् का विकासवादी स्वरूप विवेचन यहां अभीष्ट नहीं है। जगत् के विकासवादी स्वरूप की दृष्टि से डार्विन का विकासवाद जगत् प्रसिद्ध है।

10.2 प्लाटिनस का जगत् सम्बन्धी विचार

प्लाटिनस (204 ई.-270 ई.) नव्यप्लेटोवादी युग का एक महान् दार्शनिक था। वैसे तो इस युग की संस्थापना अम्मोनियस सैकस ने की थी परन्तु उन्होंने इसका बीजारोपण किया था। इसे एक सुसम्बद्ध एवं पूर्ण विकसित दार्शनिक निकाय के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय उनके यशस्वी शिष्य प्लाटिनस को ही है।

प्लाटिनस के दर्शन का अथ और इति ईश्वर ही है। उसके अनुसार सब कुछ ईश्वर से ही उत्पन्न हुआ है और अन्त में ईश्वर में ही विलीन हो जाता है। उसके अनुसार ईश्वर ही सम्पूर्ण जगत् का आधार है। वह ईश्वर एक, अनंत, अविनाशी है। ईश्वर अनंत होने के कारण वर्णनातीत है। ईश्वर के विषय में हम इदमित्थं रूप से कुछ भी नहीं कह सकते। प्लाटिनस के अनुसार ईश्वर अनिर्वचनीय है। ईश्वर शुद्ध, सत्, निर्गुण, निर्विकार और निराकार है। वह अन्तर्यामी (Immanent) भी है। डॉ. चन्द्रधर शर्मा के अनुसार सृष्टि इसका शरीर है और यह सृष्टि की आत्मा है।

उपर्युक्त वर्णन से परमतत्त्व ईश्वर के दो रूप देखने को मिलते हैं—

1. ईश्वर कूटस्थनित्य, अविचल, अद्वितीय, निष्प्रपञ्च एवं लोकोत्तर है।
2. वह असीम और सभी वस्तुओं का मूल कारण है।

ईश्वर के प्रथम रूप को देखकर किसी को भी यह कहने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि जगत् की उत्पत्ति वह नहीं कर सकता। एक कूटस्थ नित्य सत्ता अनित्य एवं परिवर्तनशील वस्तुओं का निर्माण कैसे कर सकता है? एक अविचल सत्ता, जहां क्रिया व गति की संभावना नहीं, अतः उससे जगत् और उसकी वस्तुओं की सृष्टि नहीं हो सकता। एक निष्प्रपञ्च एवं अद्वितीय सत्ता से भला प्रपञ्च और विविधता या नानात्व की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? पूर्णरूप से लोकोत्तर तत्त्व जगत् में प्रवेश कैसे कर सकता है? एक अनन्त सत्ता सान्त वस्तुओं की सृष्टि के लिए अपने को सीमित कैसे कर सकती है? अतः परम सत्ता अपने प्रथम रूप में जगत् का कर्त्ता कैसे हो सकती है? किन्तु परमसत्ता का दूसरा रूप उसे जगत् का कर्त्ता सिद्ध करता है। दूसरे रूप में वह सभी वस्तुओं का मूल कारण है अतः उससे सभी वस्तुओं की उत्पत्ति होने में कोई आपत्ति नहीं है।

प्लाटिनस के दर्शन में ईश्वर के इन दो रूपों में आत्मविरोध स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। लोकोत्तर सत्ता लोक का निर्माण नहीं कर सकती। प्रपञ्चशून्य को प्रपञ्च में पड़ने की क्या जरूरत है? यदि ईश्वर के इस प्रथम स्वरूप को मान लिया जाए तो उसका सर्जक रूप संभव नहीं है अर्थात् वह जगत् का कर्त्ता नहीं हो सकता और यदि उसका दूसरा रूप अर्थात् जगत् कर्तृत्वरूप स्वीकार कर लिया जाय तो उसकी अद्वितीयता, एकता, अविचलता, अनंतता नष्ट हो जायेगी। दोनों स्वरूपों को एक साथ भी नहीं माना जा सकता। अंधकार और प्रकाश को भला एक साथ स्वीकार किया जा सकता है? एक तरफ प्लाटिनस ईश्वर को लोक से इतना परे मानते हैं कि लोक से उसका सम्बन्ध संभव नहीं है और दूसरी तरफ उसे लोक का कर्त्ता मानकर एक अजीब उलझन सी खड़ी कर देता है। प्लाटिनस के समक्ष यह एक अजीब सी समस्या थी। किन्तु प्लाटिनस ने इसका समाधान भी बखूबी रूप से दिया है।

सचमुच ईश्वर के दोनों रूपों में आपस में विरोध नहीं है। प्रथम रूप ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का सूचक है तो दूसरा रूप उसके कर्तृत्व का सूचक है। हम जानते हैं कि जिसमें योग्यता, क्षमता और सामर्थ्य होता है वही कुछ कर सकता है। अयोग्य, असमर्थ से किसी कार्य की अपेक्षा कैसे की जा सकती है? डॉ. छोटेलाल त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक ग्रीक दर्शन के नव्य प्लेटोवाद (पृष्ठ 327) में प्लाटिनस के अनुसार इस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

समस्या के समाधान का उल्लेख करते हुए लिखा है कि प्लाटिनस ने यह प्रतिपादित किया है कि ईश्वर अपनी अलौकिक पूर्णता द्वारा अपने को उत्प्रवाहित करता है। यह अनिवार्य उत्प्रवाह (Inevitable overflow) ही जगत् है। ईश्वर से सर्वप्रथम एक किरण का आविर्भाव होता है। यही किरण जगत् का रूप धारण करती है। जगत् के सभी प्राणियों की उत्पत्ति ठीक उसी प्रकार होती है जिस प्रकार अग्नि की लपटों से प्रकाश और हिमखण्डों से शीत की उत्पत्ति होती है। ईश्वर वह जलस्रोत है जिससे जल प्रवाह निरन्तर बहता रहता है, पर इससे जलस्रोत की क्षमता में कभी कमी नहीं आती। ईश्वर उस सूर्य के समान है जिससे प्रकाश की किरणें बिना सूर्य को क्षति पहुंचाएं निरन्तर विकीर्ण होती रहती हैं। इस प्रकार प्लाटिनस के अनुसार ईश्वर जगत् के कण-कण में व्याप्त है। निखिल जगत् उसी से आप्लावित हो रहा है। सारी सृष्टि का अस्तित्व उसी के कारण है। जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसकी सृष्टि उससे न हुई हो।

अगर यह मान भी लें कि ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता है तो प्रश्न उठता है कि उसने सृष्टि का निर्माण क्यों किया? सृष्टि निर्माण के पीछे उसका क्या उद्देश्य था? एक कुम्भकार भी घट का निर्माण करता है तो उसे अर्थ आदि की अपेक्षा रहती है। बिना अपेक्षा या प्रयोजन के एक पत्ता भी नहीं हिलता। तो ईश्वर से सृष्टि के निर्माण का प्रयोजन भी यह समझा जाय कि ईश्वर को कुछ आवश्यकता थी। उसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसने सृष्टि का निर्माण किया। प्लाटिनस ने जगत् की सृष्टि के पीछे ईश्वर की कोई कमी या अपेक्षा को स्वीकार नहीं किया है। उसके अनुसार वस्तुओं की उत्पत्ति प्रकृति का स्वभाव है। ये अनिवार्यत: उत्पन्न होती रहती हैं। ईश्वर को न तो इनकी आवश्यकता है और न ही इनकी सृष्टि के लिए उसे किसी प्रकार का प्रयास ही करना पड़ता है। इनकी निस्सरण की प्रक्रिया में भी वह अपने सहजरूप में स्थित रहता है अत: उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। वस्तुत: वह सभी वस्तुओं का द्रष्टा होते हुए भी उनसे अस्पृष्ट रहता है। जगत् के सभी नानात्व का मूल होते हुए भी वह अद्वैतरूप रहता है। वस्तुएं उससे स्वत: निर्गमित या निस्सरित होती हैं किन्तु वह वस्तुओं से सम्बन्धित नहीं है। भौतिक दृष्टि से तो यह भी विरोध दृष्टिगोचर होता है किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से इनमें कोई विरोध नहीं है। भर्तृहरि का यह वाक्य इस बात का स्पष्ट प्रमाण है—'यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता:' अर्थात् जिसका मैं निरन्तर चिन्तन करता हूं वह मुझसे विरक्त है।

अत: यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि प्लाटिनस ने ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति न मानकर निस्सरण माना है। ईश्वर से पूर्णता के कारण एक-एक तत्त्व बारी-बारी से अभिव्यक्त होते हैं। जैसे झरना जलाधिक्य के कारण उत्प्रवाहित होता है तो मुहाने का जल स्वच्छ, साफ-सुथरा होता है और जैसे-जैसे उसकी धारा आगे बढ़ती जाती है उसकी निर्मलता में कमी आती जाती है वैसे ही ईश्वर रूपी झरने से परमविज्ञान (Nous), विश्वात्मा (World soul), द्रव्य (Matter) का क्रमश: निस्सरण होता है और इस प्रकार सबसे अन्त में जगत् (Phenomenal world) का निस्सरण होता है। इस प्रकार प्लाटिनस के दर्शन में जगत् का उद्भव होता है। ईश्वर द्वारा जगत् के उद्भव को प्लाटिनस के दर्शन में 'निस्सरणवाद' की संज्ञा से अभिहित किया गया है किन्तु प्रो. जेलर महोदय को यह मान्य नहीं है। उन्होंने निस्सरणवाद के स्थान पर इसे 'गत्यात्मक सर्वेश्वरवाद' (Dynamic Panthceism) की संज्ञा दी है। उनका मानना है कि जब ईश्वर से वस्तुएं निरन्तर निकल रही हैं और समस्त सृष्टि उसी का उत्प्रवाह है तो इसे 'गत्यात्मक सर्वेश्वरवाद' कहा जाना अधिक उपयुक्त है।

इसे 'निस्सरणवाद' कहें या 'गत्यात्मक सर्वेश्वरवाद' दोनों का भाव एक ही है कि ईश्वर से सहजरूप से जगत् का उद्भव होता है। यदि ईश्वर से जगत् निकलता है तो एक प्रश्न यह भी उठता है कि ईश्वर द्वारा सर्जित कृति में बुराई क्यों? अर्थात् जगत् में अन्याय, अनीति, अशुभ, अंधकार क्यों दिखाई पड़ते हैं? ईश्वर जैसे सर्वशक्तिमान सत्ता की कृति में यह कमी क्यों? ईश्वर अपनी छवि के अनुरूप जगत् का निर्माण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

क्यों नहीं करता और यदि उसकी छवि के अनुरूप जगत् नहीं है तो फिर जगत् का कर्त्ता उसे नहीं माना जाना चाहिए। प्लाटिनस ने इस प्रश्न का समाधान देते हुए कहा कि जैसे झरने से निकला हुआ जल जितनी दूर जाता है वह उतना ही मलिन हो जाता है उसी प्रकार ईश्वर द्वारा सबसे अंत में जगत् के निकलने के कारण उसमें बुराई देखने को मिलती है। इस प्रकार प्लाटिनस ने अपने निस्सरण सिद्धान्त द्वारा जगत् की प्रत्येक शुभ और अशुभ वस्तु की उत्पत्ति दिखाने का प्रयत्न किया है। चूंकि उद्भूत वस्तुएं अपने स्रष्टा से दूर होती हैं अत: स्रष्टा की अपेक्षा अपूर्ण होती है। निस्सरण की प्रक्रिया में जो वस्तु जितनी ही देर बार निस्सृत होती है उसकी पूर्णता उतना ही घटती जाती है और एक समय ऐसा आता है जब सत् अपने इतने अपूर्णरूप में प्रकट होता है कि हम उसे असत् की संज्ञा से अभिहित करते हैं। इसी प्रकार प्रकाश अपने इतने अपूर्णरूप में प्रकट होता है कि हम उसे अंधकार की संज्ञा देते हैं। वस्तुत: असत् और अंधकार की पृथक् सत्ता नहीं है, वे निरपेक्ष सत् ईश्वर की ही अस्पष्टतम अभिव्यक्तियां हैं। जगत् सत् ईश्वर की प्रतिच्छाया (Shadow) है। इस प्रकार वे प्लेटो की तरह अपने ईश्वर को अशुभकर्त्ता से बचाने की कोशिश नहीं करते अपितु ईश्वर को ही जगत् के शुभ, अशुभ का कारण मानते हैं।

जगत् के प्रति प्लाटिनस का दृष्टिकोण मध्यममार्गी दिखाई पड़ता है। जगत् के प्रति न ही उनका अति अनुराग है और न ही घृणा। 'आउट लाइन्स ऑफ द हिस्ट्री ऑफ ग्रीक फिलासॉफी' में यह उल्लेख है कि प्लाटिनस जगत् के प्रति अति आसक्ति को आत्मा का पतन मानते हैं और जगत् के प्रति घृणाभाव की भी तीव्र स्वरों में निन्दा करते हैं। इस प्रकार प्लाटिनस के दर्शन में जगत कें संदर्भ में निम्न निष्कर्ष देखे जा सकते हैं—

1. जगत् का कर्त्ता ईश्वर है।
2. ईश्वर से जगत् निस्सृत होता है।
3. ईश्वर किसी कमी की पूर्ति के लिए सृष्टि का निर्माण नहीं करता है।
4. ईश्वर ही सृष्टि का उपादान एवं निमित्त कारण दोनों हैं।
5. जगत् का शुभ-अशुभ दोनों ही ईश्वर द्वारा निस्सृत है।
6. ईश्वर से सबसे बाद में निकलने के कारण जगत् में अशुभ, अन्याय और अंधकार है।
7. ईश्वर से जगत् का निस्सरण और विलयन होता रहता है।
8. प्लाटिनस का जगत् के प्रति न अति अनुराग है और न अति घृणा।

10.3 स्पिनोजा के दर्शन में जगत्

स्पिनोजा पाश्चात्य दर्शन में अद्वैतवादी दार्शनिक के रूप में ख्याति प्राप्त है। जैसे शंकराचार्य ने एकमात्र ब्रह्म के अस्तित्व को ही स्वीकार किया वैसे ही स्पिनोजा ने एकमात्र ईश्वर के अस्तित्व को ही स्वीकार किया है। उसके अनुसार ईश्वर ही परम द्रव्य है। वह ईश्वर स्वतंत्र, निरपेक्ष, नित्य, शाश्वत, व्यापक, सर्वशक्तिमान, अद्वितीय, अपरिमित, अपरिच्छिन्न, पूर्ण, स्वयंभू एवं त्रैकालिक है। जगत् और जगत् के परे वही एकमात्र सत्ता है। स्पिनोजा ने जगत् के संदर्भ में अपने ग्रन्थ (Ethics) में विस्तार से चर्चा की है। एथिक्स ग्रन्थ के अनुसार इस एक ईश्वर ने संपूर्ण संसार का निर्माण किया है। ईश्वर के अतिरिक्त कोई दूसरा तत्त्व अस्तित्व में ही नहीं है। जिसे संसार का कर्त्ता माना जाए। स्पष्ट है कि स्पिनोजा का ईश्वर डेकार्ट के ईश्वर के समान जगत् से बाह्य ही नहीं है बल्कि जगत् में भी है। वह जगत् का आन्तरिक तत्त्व है। वह जगत् में है और जगत् उसमें है। जगत् और ईश्वर एक है। ईश्वर जगत् से बाहर रहकर उसे नहीं बनाता। वह सभी वस्तुओं का सार है, सभी के अन्तर्गत गतिशील तत्त्व है। जगत् में जड़ और चेतन जो कुछ भी है वे सब ईश्वर की ही कृति है। स्पिनोजा का मानना है कि जो कुछ है, ईश्वर में है और ईश्वर के बिना किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है और न ही किसी वस्तु का चिन्तन है। ईश्वर अपने नियमों के अनुसार कार्य करता है, वह किसी से विवश नहीं है। इस प्रकार जगत् में समस्त कार्य ईश्वर के नियमों के अनुसार होते हैं और इन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नियमों में किसी प्रकार से परिवर्तन नहीं किया जा सकता क्योंकि ईश्वर से बाहर किसी भी अन्य पदार्थ का अस्तित्व नहीं है जिससे कि उसकी क्रियाओं पर किसी प्रकार का असर पड़े। ईश्वर एकमात्र स्वाधीन कारण है। स्वाधीनता का अर्थ यह नहीं कि वह चाहे जो करे बल्कि यह है कि वह अपनी प्रकृति के अनुसार चलता है। स्पिनोजा स्वतंत्रता को स्वच्छन्दता नहीं मानता बल्कि आत्म नियन्त्रण मानता है। इस प्रकार उसका ईश्वरीय नियतिवाद ईश्वरीय स्वतंत्रता से भिन्न नहीं है।

स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर वस्तुओं के अस्तित्व का सर्जक कारण नहीं अपितु उसके सार का भी कारण है। अस्तु, संसार में जो वस्तु जो कार्य करती है, वह ईश्वर के द्वारा ही निश्चित किया गया है। स्वयं अपनी इच्छा से कोई व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता। जो वस्तु किसी क्रिया के लिए ईश्वर की ओर से निर्णीत हुई है, उसमें यह शक्ति नहीं कि अपने आपको अनिर्णीत कर सके। इस प्रकार उसके अनुसार जगत् के सभी जीव प्राणी ईश्वर द्वारा निर्णीत कार्यों को ही करते हैं। स्पिनोजा के अनुसार संकल्प अनिवार्य कारण है, स्वाधीन कारण नहीं। ईश्वर संकल्प की स्वाधीनता से क्रिया नहीं करता है। संसार की वस्तुओं को ईश्वर ने जिस रीति या क्रम से बनाया है, वह उसकी प्रकृति का अनिवार्य परिणाम है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि स्पिनोजा के दर्शन में भी प्लाटिनस की तरह ही एकमात्र ईश्वर ही सृष्टि का कर्त्ता है। ईश्वर ही उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों हैं। सृष्टि निर्माण के लिए ईश्वर को किसी अन्य सत्ता की सहायता नहीं लेनी पड़ती है। वह मकड़ी की तरह संसार रूपी जाल बुनने के लिए अपने अन्दर से ही उपादान कारण का भी सृजन करता है और उसे व्यवस्थित करने का भी कार्य करता है अर्थात् वही उपादान और निमित्त कारण दोनों हैं। जगत् में रहकर ही जगत् की रचना करता है उसके लिए उसे डेकार्ट की तरह किसी उपरिलोक में विराजकर चमत्कार करने की जरूरत नहीं पड़ती है। वह जगत् के कण-कण में व्याप्त है। दूसरे शब्दों में कहें तो स्पिनोजा के शब्दों में जगत् को ही ईश्वर कह सकते हैं। ऐसा करने पर ही स्पिनोजा को 'निन्दनीय नास्तिक' तक कहा गया है। आलोचकों के अनुसार चूंकि जड़ और भौतिकता के प्रतीक जगत् को ईश्वर कहना ईश्वर की निन्दा करना है और ऐसा कोई 'निन्दनीय नास्तिक' ही कर सकता है। जबकि स्पिनोजा के दर्शन पर गंभीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि उससे बढ़कर 'ईश्वर प्रेमोन्मत्त' दार्शनिक दूसरा कोई हो ही नहीं सकता। उसने अपने दर्शन में ईश्वर को जितना महत्त्व दिया उतना शायद ही किसी दर्शन में दिया गया हो।

जगत् के संदर्भ में स्पिनोजा के दर्शन में भी एक प्रश्न यह उठता है कि ईश्वर जैसी असीम सत्ता की कृति जगत् में अशुभ कहां से आया? ईश्वर जैसे पूर्ण सत्ता की कृति में यह अपूर्णता कैसे? स्पिनोजा इसका समाधान भलीभांति करता है। उसके अनुसार संसार में कुछ भी अशुभ एवं अपूर्ण नहीं है। ईश्वर ने सब कुछ ठीक बनाया है किन्तु उसका कहना है कि वस्तुओं की अपूर्णताएं तब दिखलाई पड़ती हैं जब मनुष्य अपने मतलब को सामने रखकर उनके बारे में सोचता है, स्वयं वस्तुओं में कोई अपूर्णताएं नहीं हैं। जो लोग ईश्वर की सृष्टि में किसी प्रकार का दोष दिखलाते हैं वे यह भूल जाते हैं कि ईश्वर ने अपनी अनन्त बुद्धि और अनन्त सृजन की योग्यता से जगत् को बनाया है तो जगत् में भला अपूर्णता कैसे आ सकती है? अत: यह अपूर्णता मानव की सीमित बुद्धि का परिणाम है। वैसे भी यह प्रत्यक्षत: देखा भी जाता है कि एक वस्तु जो किसी के लिए प्रिय है तो दूसरों को वही अप्रिय भी है और जो दूसरों को अप्रिय है वही किसी को प्रिय भी है। दूध और मिठाई भी किसी को अप्रिय लग सकती है तो किसी को चाय भी प्रिय लगती है। इस प्रकार स्पिनोजा अशुभ कर्त्ता से अपने ईश्वर की रक्षा करता है फिर भी वह स्पष्ट रूप से कहता है कि जो भी संसार में हैं वे सब ईश्वर से ही उद्भूत हैं। यदि ईश्वर परम मंगलमय है तो उससे सर्वोत्तम से अतिरिक्त कुछ भी संभव नहीं है। अत: वह सर्वोत्तम सृष्टि का निर्माण करता है। इस प्रकार स्पिनोजा के दर्शन में भी जगत् के संदर्भ में कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. ईश्वर ही जगत् का कर्त्ता एवं अधिष्ठाता है।
2. वह जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण दोनों है।
3. जगत् का निर्माण ईश्वर जगत् से परे रहकर नहीं करता अपितु अन्तर्यामी होने के कारण जगत् के कण-कण में भी परिव्याप्त रहता है।
4. जगत् के सभी जीव, प्राणी ईश्वर द्वारा ही निर्णीत कार्य करते हैं।
5. संसार में जो भी हैं वे सब ईश्वर द्वारा ही उद्भूत हैं।
6. अशुभ का निर्माण ईश्वर ने नहीं किया अपितु यह मनुष्य की सीमित बुद्धि का परिणाम है।

10.4 लाइबनीज के दर्शन में जगत् विचार

प्लाटिनस और स्पिनोजा की तरह लाइबनीज भी जगत् का कर्त्ता ईश्वर को ही स्वीकार करता है। उसके अनुसार जगत् में जो कुछ है उसे ईश्वर ने ही बनाया है। असीम सृष्टि का कर्त्ता असीम ईश्वर ही हो सकता है। वैचि=यपूर्ण जगत् का निर्माता सर्वशक्तिमान ईश्वर ही हो सकता है अत: एफ. मेयर महोदय ने A History of Modern Philosophy में सृष्टिकर्त्ता लाइबनीज के ईश्वर के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—Leibnitz deduced various attributes of God. He beleived God to be unique, universal necessary and incapable of limits. God is perfect, perfection being nothing but the magnitude of positive reality. अर्थात् ईश्वर सर्वत्र, सर्वशक्तिमान, पूर्ण एवं अनन्त है।

लाइबनीज ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, पूर्ण एवं स्वतंत्र मानते हैं परन्तु ईश्वर को स्वतन्त्र मानते हुए भी स्वेच्छाचारी नहीं मानते। वेबर महोदय के अनुसार लाइबनीज का ईश्वर सृष्टि के निर्माण में नियमों का उल्लंघन नहीं करता है। वह भी नियमों से बंधा हुआ है अर्थात् उसके भी सारे कार्य नियत एव नियंत्रित होते हैं। इसी कारण लाइबनीज के ईश्वर को राजतंत्र का निरंकुश सम्राट् नहीं वरन् प्रजातंत्र का प्रधान भी मानते हैं। उनके अनुसार—"Hence the God of Leibnitz is not like an oriental monarch, he is soverign ground of laws which he can not unmake, a kind of constitutional king."

अब प्रश्न यह उठता है कि सृष्टिकर्त्ता ईश्वर और सृष्टि में किस प्रकार का सम्बन्ध है। डेकार्ट ने जहां उपरिलोक में विराजकर सृष्टि से परे रहकर ईश्वर को सृष्टि का निर्माता कहा वहीं स्पिनोजा ने सृष्टि के भीतर रहते हुए ईश्वर को सृष्टि का निर्माता माना है। लाइबनीज भी डेकार्ट की तरह ईश्वर को विश्वातीत माना है परन्तु उसका विश्वातीतरूप डेकार्ट से भिन्न है। लाइबनीज जगत् में चेतना एवं चेतन तत्त्व के अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता है। उसके अनुसार यह जगत् चिदणुओं का पुंज है और इसका कर्त्ता चिदणुओं का चिदणु ईश्वर है। वह जगत् में पाषाण से लेकर आत्मा तक सबको चेतन ही मानता है। उसके अनुसार पाषाण जिसे लोग अचेतन कहते हैं उसमें भी ईषत् चेतना है। इस प्रकार अचेतन (ईषत् चेतन) उपचेतन, चेतन, स्वचेतन और सर्वचेतन के रूप में उसने सम्पूर्ण सृष्टि को चेतनामय ही माना है। चूंकि अचेतन से अतीत उपचेतन और उपचेतन से अतीत चेतन और चेतन से अतीत स्वचेतन और विश्व के इन सब वर्गों से अतीत सर्वचेतन, चिदणुओं का चिदणु या ईश्वर है। इसी रूप में लाइबनीज ईश्वर को विश्वातीत स्वीकार करता है।

लाइबनीज के अनुसार सृष्टि निर्माण के समय ही ईश्वर ने सर्वोत्तम व्यवस्था दी है। वह इतना कुशल कारीगर है कि उसे बार-बार हाथ लगाने की जरूरत नहीं है। पूर्वस्थापित सामञ्जस्य सिद्धान्त के द्वारा लाइबनीज ने जगत् में होने वाली समस्त क्रियाओं का कारण ईश्वर को ही स्वीकार किया है। चूंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान है अत: उसने सर्वोत्तम सृष्टि का निर्माण किया है। अपने 'मोनाडोलॉजी' ग्रन्थ में इसी आशय को पुष्ट करता हुआ लाइबनीज कहता है—"And this is the cause for the existence of the best, which his wisdom causes God to know, his goodness makes him choose, and his power makes him produce."

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अर्थात् इस संसार का रचयिता ईश्वर है, जो बहुत बुद्धिमान एवं शक्तिशाली है। उसने असीम संसारों की संभावनाओं में से इस संसार को चुना है। अतः यह सर्वश्रेष्ठ संभव संसार है।

अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जब ईश्वर ने सबसे अच्छे संसार का निर्माण किया है तो फिर संसार में अपूर्णता, बुराई, दुःख, पीड़ा और संत्रास क्यों? जब ईश्वर ही जगत् का कारण है और ईश्वर पूर्ण है तो फिर जगत् में अभाव और अशुभ क्यों? लाइबनीज इस संदर्भ में अधिक स्पष्टवादी दिखाई पड़ता है। उसके अनुसार जगत् में दुःख और दैन्य अवश्य है। जगत् में अभाव और अशुभ रहते हुए भी यह ईश्वर की सर्वोत्तम कृति है और यदि कोई दूसरी कृति भी होती तो ये दुःख एवं पाप वहां भी होते। ये पाप, दुःख, अभाव संसार की भलाई के लिए हैं। यदि पाप न हो तो लोग पुण्य की ओर प्रवृत्त नहीं होंगे। सावधान और जागरूक नहीं होंगे तथा सदैव ठगे जाते रहेंगे। विरोध एवं संघर्ष विकास के लिए आवश्यक है। सद्गुण की ओर प्रवृत्त कराने के लिए जगत् में दुर्गुण का होना भी आवश्यक है। अतः अशुभ संसार के लिए कलंक नहीं, अपितु शोभा है। जैसे गोरे चेहरे पर लगी हुई काली बिन्दी उसकी शोभा बनती है वैसे ही अच्छे से अच्छे संसार के लिए दुःख, दैन्य भी शोभा है। इनके न होने से अपूर्ण जगत् होगा। इनके अभाव में पूर्ण जगत् संभव नहीं। अतः जगत् में पाप की सत्ता की नैतिक आवश्यकता है। इसीलिए लाइबनीज ने तीन प्रकार के अशुभ का उल्लेख किया है—

1. तात्त्विक अशुभ (Metaphysical Evil)
2. नैतिक अशुभ (Moral Evil)
3. भौतिक अशुभ (Physical Evil)

तात्त्विक अशुभ को लाइबनीज अपरिहार्य मानता है। फाल्केनवर्ग ने History of Modern Philosophy में लाइबनीज के विचार को इस रूप में प्रस्तुत किया है—

"Metaphysical evil is absolutely unavariable, if a world is to exist at all created being without imperfections, finiteness limitations are entirely inconceivable." अर्थात् यदि मानव इस संसार में आया है तो दैन्य और संत्रास तो स्वभाव से उसमें रहेंगे ही। इसका निराकरण नहीं हो सकता।

तात्त्विक अशुभ की तरह नैतिक अशुभ भी मनुष्य के स्वभाव से सम्बद्ध है। पाप और पुण्य मनुष्य के सामने हैं। मनुष्य अपनी इच्छा से पाप का मार्ग चुन लेता है। इसमें मनुष्य की चयन शक्ति का दोष है, ईश्वर का नहीं। इसी प्रकार भौतिक अशुभ भी शुभ है, अशुभ नहीं। युद्ध में क्षत-विक्षत होकर विजयश्री के वरण होने के सुख का कहना ही क्या? इस प्रकार लाइबनीज अशुभ को जगत् की आवश्यकता बतलाता है और ईश्वर को ही उस अशुभ का कर्त्ता। उसके अनुसार यदि ईश्वर चाहता तो पापशून्य जगत् का निर्माण कर सकता था पर ऐसा होना असंभव है क्योंकि पापशून्य जगत् में पुण्य का महत्त्व नहीं होता। इस प्रकार जगत् के संदर्भ में लाइबनीज के दर्शन में निम्न निष्कर्ष देखे जा सकते हैं—

1. जगत् के सारे तत्त्व चेतनमय हैं। चेतन से परे जगत् में कुछ भी नहीं।
2. चेतनमय जगत् का कर्त्ता सम्पूर्ण चेतन ईश्वर है।
3. ईश्वर ही जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण है।
4. ईश्वर विश्वातीत है।
5. ईश्वर ने सबसे अच्छे जगत् का निर्माण किया है।
6. ईश्वर ने जगत् के निर्माण के समय ही सब कुछ एक साथ व्यवस्थित किया है।
7. अशुभ जगत् की आवश्यकता है।
8. अशुभ का निर्माण भी ईश्वर ने ही किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

10.5 बर्कले का जगत् सम्बन्धी विचार

जार्ज बर्कले (1685ई.-1753 ई.) पाश्चात्य दर्शन का वह अनुभववादी दार्शनिक है जिसने लॉक के अनुभववाद को परिष्कृत करने का प्रयास किया था, इसीलिए उसे 'निर्दोष लॉक' कहा जाता है। जिस अनुभववाद के आधार पर जॉन लॉक ने जड़ तत्त्व (जगत्), आत्मतत्त्व एवं ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया था उसी अनुभववाद के सहारे जार्ज बर्कले ने जड़ तत्त्व (जगत्) का खण्डन कर आत्मतत्त्व एवं ईश्वर को स्वीकार किया। बर्कले ने जड़ पदार्थ का पूर्णत: निषेध किया और अध्यात्मवाद की स्थापना की। उसका मानना था कि जड़ तत्त्व या जगत् विचार भौतिकता, नास्तिकता को बढ़ावा देने वाला है जो अध्यात्म के लिए घातक है अत: उसने जड़वाद का निषेधकर अध्यात्मवाद की स्थापना की। उसके अध्यात्मवाद पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कुशमैन ने कहा है कि 'जिस व्यक्ति के चारों ओर बर्कले का दर्शन हो (अर्थात् वह बर्कले की विचारधारा से घिरा हो) वह अवश्य ही आध्यात्मिक है। ऐसा व्यक्ति वर्तमान समाज से ऊपर उठ जाता है क्योंकि वह भौतिक समाज का नहीं, वरन् धार्मिक समाज का व्यक्ति है जो व्यक्ति के साथ विहार और वार्तालाप करता है।'

भौतिकवाद का खण्डन और अध्यात्मवाद की स्थापना बर्कले ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सिरिज (Siris) में की है। उनके अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु परम नि:श्रेयस (Supreme good) से संचालित होती है। अत: जगत् निष्प्रयोजन तथा भौतिक नहीं, वरन् सप्रयोजन तथा आध्यात्मिक है। बर्कले प्रत्ययवादी या विज्ञानवादी दार्शनिक है। वह अपने विज्ञानवाद से ईश्वर, आत्मा आदि आध्यात्मिक विषयों की ही सिद्धि करता है। वस्तुत: जिसे हम देखकर या स्पर्श करके जानते हैं वह भौतिक वस्तु नहीं विज्ञान रूप ही है। विज्ञान के अतिरिक्त हम किसी वस्तु को देख या स्पर्श नहीं कर सकते। तात्पर्य यह है कि तथाकथित वस्तु का अस्तित्व तो देखने या छूने पर है परन्तु देखना और छूना तो विज्ञान है। इन विज्ञानों का अस्तित्व मन या आत्मा पर निर्भर है। अत: वस्तुओं का अस्तित्व आत्मसापेक्ष या आत्मनिर्भर है। आत्मा में अनुभव करने की शक्ति परमात्मा या ईश्वर की देन है। ईश्वर प्रदत्त शक्ति के कारण ही आत्मा इन्द्रिय विज्ञानों का अनुभव कर्त्ता होता है। बर्कले ने अपने ग्रन्थ Three Dialogues between hylas and Philoneus (हाइलस और फिलानस के तीन संवाद) में कहा है कि "Causes must be held to resemble their effects accordingly material, that is non-mental thing cannot in the nature of the cause be conceived as cause of a percept which is mental." अर्थात् केवल मूर्ख ही वस्तु की सत्ता में विश्वास करता है, दार्शनिक तो इन्हें प्रत्यय या विज्ञानरूप मानता है।

लॉक ने जिन मूलगुणों को वस्तु का धर्म स्वीकार कर उनके अस्तित्व को सिद्ध किया था उन्हीं मूलगुणों को वस्तुगत न मानकर उन्हें आत्मगत कहकर बर्कले ने जड़तत्त्व का खण्डन किया। उसके अनुसार कोई भी मूलगुण वस्तुगत नहीं है। लॉक ने जिस अमूर्त्त प्रत्यय को स्वीकार कर बाह्य वस्तु के अस्तित्व को प्रतिष्ठित किया उन्हीं अमूर्त्त प्रत्ययों (सामान्य प्रत्ययों) को अनुभव द्वारा यथार्थ न मानकर अस्वीकार करते हुए बर्कले ने कहा है कि "I cannot by any effort of thought conceive the abstract idea. It is impossible for me to form the abstract idea of motion distinct from the body moving and which is neither swift nor slow, curvilinear nor rectlinear; and the like may be said of all other like general abstract ideas what so ever."

अत: बर्कले बाह्य वस्तुओं की सत्ता को अस्वीकार कर विज्ञान की सत्ता को ही स्वीकार करता है। सत्ता अनुभवमूलक है (Essest percipi) के द्वारा बर्कले ने सभी वस्तुओं के अस्तित्व को आत्मकेन्द्रित कर दिया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अध्यात्मवादी दार्शनिक बर्कले ने जगत् (जड़तत्त्व) को अध्यात्म की बहुत बड़ी बाधा मानकर उसके स्वतंत्र अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया। विज्ञान के अतिरिक्त संसार में कुछ भी नहीं है और यह विज्ञान आत्मा और अन्तत: परमात्मा पर ही निर्भर है। इस प्रकार यहां यही कहा जा सकता है कि आत्मा और ईश्वर के अतिरिक्त जगत् का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

10.6 जैनदर्शन में जगत् विचार

जैनदर्शन में जगत् या विश्व के लिए 'लोक' शब्द का उपयोग हुआ है। यहां लोक व्यवस्था ही जगत् व्यवस्था है। लोक शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर लोक के स्वरूप को समझाते हुए भगवतीसूत्र (2-55) में बताया गया है कि "यह लोक शाश्वत है, काल की दृष्टि से इसका न आदि है, न अन्त है; क्षेत्र की दृष्टि से यह सीमित है, चारों ओर से घिरा हुआ है; इसका एक निश्चित आकार है।" 'जे लोक्कइ से लोए' अर्थात् जो दिखाई दे रहा है, वह लोक है। आचार्य पूज्यपाद ने तत्त्वार्थसूत्र पर रचित अपनी टीका 'सर्वार्थसिद्धि' में लिखा है—"धर्माधर्मादीनि द्रव्याणि यत्र लोक्यन्ते स लोक इति" अर्थात् जहां धर्म-अधर्म आदि द्रव्य विलोके जाते हैं, उसे लोक कहते हैं। इसी प्रकार धवलाकार आचार्य वीरसेन ने भी लिखा है "को लोकः, लोक्यन्ते उपलभ्यन्ते यस्मिन् जीवादयः पदार्थाः स लोकः।" अर्थात् लोक किसे कहते हैं? जिसमें जीवादि पदार्थ देखे जाते हैं अर्थात् उपलब्ध होते हैं उसे लोक कहते हैं। जैनदर्शन में 'षड्द्रव्यात्मको लोकः' की अवधारणा बहुत प्रसिद्ध है। जिसका उल्लेख उत्तराध्ययनसूत्र में इस प्रकार है—

"धम्मो अधम्मो आगासं, कालो पुग्गल जन्तवो।
एस लोगोत्ति पन्नतो, जिणेहिं वरदंसिहिं॥"

अर्थात् वर द्रष्टा जिनेन्द्र के द्वारा धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव को लोक कहा गया है। द्रव्य संग्रह में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है—

"एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं।
उत्तं कालविजुत्तं णायव्वा पंच अत्थिकाया दु॥"

अर्थात् जीव-अजीव आदि छः प्रकार के द्रव्य हैं जिसमें काल को छोड़कर शेष पांच अस्तिकाय के रूप में प्रसिद्ध हैं। भगवतीसूत्र में पांच अस्तिकाय रूप लोक का प्रतिपादन भी मिलता है। यहां उल्लेख है "किमियं भंते! लोएत्ति पव्वुच्चइ?" "गोयमा! पंचत्थिकाया, एस णं एवतिए लोएत्ति पव्वुच्चइ, तं जहा—धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, अगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए।" अर्थात् भन्ते यह लोक किसे कहा गया है? गौतम! पांच अस्तिकायों को लोक कहा गया है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय ही लोक है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी पंचास्तिकाय ग्रन्थ में 'पंचास्तिकाय रूप लोक' का उल्लेख इस प्रकार किया है—

"समवायो पंचण्हं समउत्ति जिणुत्तमेहिं पण्णत्तं।
सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिओ अलोओरवं॥
जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आयासं।
अत्थित्तम्हि य णियदा अणण्णमइया अणुमहंता॥"

लोक को परिभाषित करने के पश्चात् भगवतीसूत्र में प्रतिपादित लोक के प्रकार के संदर्भ में विचार कर लेना अत्यावश्यक प्रतीत होता है। यहां उल्लेख है "कति विहेणं भन्ते! लोए पण्णत्ते। गोयमा! चउव्विहे लोए पण्णत्ते। तं जहा—दव्वलोए, खेत्तलोए, काललोए और भावलोए।" अर्थात् द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक एवं भावलोक ये चार हैं। द्रव्यों की अपेक्षा से लोक की व्याख्या को द्रव्यलोक, छः द्रव्यों में संख्या की दृष्टि से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय एक-एक द्रव्य हैं; पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल अनन्त द्रव्य हैं। इसी प्रकार क्षेत्र की दृष्टि से लोकाकाश एक, अखण्ड, सान्त और ससीम तथा अलोकाकाश एक, अखण्ड, असीम और अनन्त हैं। भाव की दृष्टि से धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव अमूर्त्त, अभौतिक तथा पुद्गल मूर्त्त एवं भौतिक है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लोक के आकार के संदर्भ में भगवतीसूत्र में इस प्रकार का विवरण है—"किं संठिए णं भंते! लोए पण्णत्ते। गोयमा! सुपइट्ठगसंठिए लोए पण्णत्ते—हेट्ठा विच्छिण्णे, मज्झे संखित्ते, उप्पिं विसाले, ऊहे पलियंकसंठिए, मज्झे वरवइरविग्गहिए, उप्पिं उद्धमुइंगाकारसंठिए। " अर्थात् भगवन्! इस लोक का क्या आकार है?

गौतम! यह लोक सुप्रतिष्ठक आकार वाला है। अर्थात् नीचे से विस्तीर्ण, मध्य में संक्षिप्त और ऊपर में विशाल—नीचे पर्यंक संस्थान वाला, मध्य में वरवज्र के आकार और ऊपर में ऊर्ध्व मृदंग के आकार से संस्थित है। सुप्रतिष्ठक आकार का अर्थ है त्रिशराव सम्पुटाकार। अर्थात् एक शिकोरा उल्टा, उस पर एक शिकोरा सीधा, फिर उस पर एक उल्टा रखने से जो आकार बनता है उसे त्रिशराव सम्पुटाकार कहते हैं। इस प्रकार से बने आकार में नीचे चौड़ाई अधिक और मध्य में कमती है पुनः ऊपर चौड़ाई अधिक होती है अन्त में पुनः कम हो जाती है। गणित प्रतिभा के धनी धवलाकार वीरसेनाचार्य ने लोक के एक आयाम को सर्वत्र 7 रज्जु मानकर 343 घनरज्जु वाले लोक की आकृति प्रस्तुत की है। इस संदर्भ में श्वेताम्बर परम्परा का यह मत है कि लोक की लम्बाई-चौड़ाई सर्वत्र समान है अर्थात् ऊर्ध्व लोक के अन्त में एक रज्जु, मध्य में पांच रज्जु तथा अधोलोक के अन्त में सात रज्जु। इस प्रकार का लोक 343 घनरज्जु आयतन (घनफल) का है। जैनदर्शन में 'रज्जु' से तात्पर्य असंख्यात योजन से है। लोक कितना बड़ा है? गौतम के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने कहा—"गौतम यह लोक बहुत बड़ा है। पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण और ऊर्ध्व तथा अधो दिशाओं में असंख्यात योजन का लम्बा-चौड़ा कहा गया है।

इस प्रकार जैनदर्शन में जगत् विचार बहुत ही व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक है। यहां जगत् को उत्पत्ति, विनाशयुक्त न मानकर अनादि एवं अनन्त माना गया है। चूंकि इसकी उत्पत्ति नहीं होती है अतः यहां इसके उत्पत्तिकर्त्ता के रूप में किसी भौतिक एवं अभौतिक सत्ता को भी स्वीकार नहीं किया गया है।

10.7 पाश्चात्य दर्शन एवं जैनदर्शन के जगत् विचार की तुलना

ऊपर हमने पाश्चात्य दर्शन में प्लाटिनस, स्पिनोजा, लाइबनीज और बर्कले के जगत् सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करते हुए यह पाया कि इन सभी दार्शनिकों ने जगत् की उत्पत्ति एवं विलय को स्वीकार किया है। प्लाटिनस ने ईश्वररूपी स्रोत से जगत् की सहज उत्पत्ति स्वीकार की है तो स्पिनोजा ने ईश्वररूपी सूर्य से सहज निकलने वाली किरण के रूप में जगत् को माना है। लाइबनीज ने तो चिदणुओं के चिदणु ईश्वर द्वारा जानबूझकर की गयी जगत् की संरचना को स्वीकार किया है। यहां यह उल्लेख करना उचित ही होगा कि प्लाटिनस एवं स्पिनोजा ने जहां जगत् की अभिव्यक्ति स्वीकार किया है वहां लाइबनीज ने जगत् की उत्पत्ति को स्वीकारा है। बर्कले जड़ तत्त्व का खण्डन करने के साथ एक दृष्टि से जगत् के बाह्य अस्तित्व को अस्वीकार करता है किन्तु विज्ञान के रूप में स्वीकार भी करता है। जहां इन सभी दर्शनों में जगत् की अभिव्यक्ति या उत्पत्ति को स्वीकारा गया है वहां जैनदर्शन में जगत् शाश्वत है। यह उत्पत्ति और विनाश से परे है। चूंकि छः द्रव्य शाश्वत हैं, अतः छः द्रव्यों से परिपूर्ण जगत् भी नित्य है।

पाश्चात्य दर्शन के सभी दार्शनिकों ने चूंकि जगत् की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति को स्वीकार किया है अतः सभी दार्शनिकों को उत्पत्तिकर्त्ता की आवश्यकता भी महसूस हुई है। इस विचार में सभी एकमत हैं कि वैचि=य एवं वैभिध्यपूर्ण इस विशाल जगत् का कर्त्ता कोई सांसारिक या भौतिक सत्ता नहीं हो सकता अतः सभी ने अभौतिक एवं सर्वशक्तिमान सत्ता ईश्वर को ही जगत् का कारण माना है। बर्कले ने भी प्रत्यय या विज्ञानरूप जिस जगत् को स्वीकार किया है उसका भी अंतिम कारण ईश्वर को ही माना है। इन सभी दार्शनिकों ने ईश्वर को जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण दोनों माना है। इनका ईश्वर जगत् के निर्माण के लिए किसी अन्य सत्ता पर निर्भर नहीं है। वही जगत् के लिए सामग्री भी तैयार करता है तो उन सामग्रियों को व्यवस्थित कर जगत् का स्वरूप भी देता है किन्तु जैनदर्शन चूंकि जगत् की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्वीकार नहीं करता अत: यहां कारण के रूप में न ही ईश्वर की अपेक्षा है और न ही ईश्वर को इस रूप में स्वीकार ही किया गया है। इसलिए यहां इस विमर्श का कोई औचित्य नहीं है कि ईश्वर जगत् का उपादान कारण है या निमित्त कारण या दोनों।

जगत् के स्वरूप के संदर्भ में यहां यह कहना उचित ही है कि प्लाटिनस और स्पिनोजा ने जगत् को चित्त-अचित्त रूप दोनों ही स्वीकार किया है क्योंकि उनका कर्त्ता ईश्वर चित्त-अचित्त रूप है, परन्तु लाइबनीज ने ईश्वर को चूंकि चिदणुओं का चिदणु माना है। अर्थात् वह संपूर्ण चेतन ही है, उसमें अंशमात्र भी अचेतना नहीं है, अत: अचेतन की उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए जगत् भी केवल चेतनमय है। उसके अनुसार जिसे लोग अचेतन कहते हैं, वह भी ईषत् चेतना है। बर्कले तो जड़तत्त्व का कट्टर दुश्मन दिखलाई देता है। उसने तो जड़तत्त्व पर खूब प्रहार किया है। उसके अनुसार जड़तत्त्व ही भौतिकता और नास्तिकता का कारण है इसलिए अध्यात्मवादी बर्कले ने जड़तत्त्व को समूल उखाड़ने की चेष्टा की है। जहां तक जैनदर्शन के लोक का संदर्भ है इसे चित्त और अचित्त से परिपूर्ण कहा जा सकता है। 'षड्द्रव्यात्मकोलोक:' में 5 द्रव्य अचेतन और एक द्रव्य जीव ही चेतन है। अत: छ: द्रव्यों का लोक यहां चिदचित रूप है।

प्लाटिनस और स्पिनोजा ने जगत् को यन्त्रवत् स्वीकार किया है। ईश्वर से सहज निकलने वाला जगत् यन्त्रवत् है। ईश्वर ने इसे किसी अपेक्षा की पूर्ति के लिए नहीं बनाया है किन्तु लाइबनीज जगत् को प्रयोजनमूलक स्वीकार करता है। जगत् में अचेतन चिदणु से लेकर स्वचेतन तक सभी विकासोन्मुख है। सब अपने से अग्रणी चिदणु को ध्यान में रखकर विकास कर रहे हैं। बर्कले का विज्ञानरूप जगत् भी अध्यात्म के प्रयोजन को ध्यान में रखकर चित्रित हुआ है। जैनदर्शन में भी जगत् में हो रहे परिवर्तन को वैस्रसिक एवं प्रायोगिक स्वीकार किया है किन्तु परिवर्तन के ये दोनों रूप प्रयोजनमूलक ही है।

जगत् के अशुभ के संदर्भ में भिन्न-भिन्न विचारकों की अपनी भिन्न-भिन्न अवधारणा है। प्लाटिनस के अनुसार चूंकि ईश्वर से सबसे अंत में निकलने वाला जगत् है, अत: प्रकाशपुंज ईश्वर से सबसे दूर होने के कारण यहां अशुभ, अन्यान्य, अनीति एवं अंधकार है। स्पिनोजा के अनुसार मानव की सीमित बुद्धि ही अशुभ का कारण है। इस संदर्भ में लाइबनीज का मानना है कि चूंकि अशुभ जगत् की आवश्यकता है, इसलिए ईश्वर ने जानबूझकर इसका निर्माण किया है। जगत् के सौन्दर्य को बढ़ाने के लिए तथा जगत् में विकास होता रहे इसलिए अशुभ आदि का निर्माण जगत् में हुआ है। बर्कले ने तो अन्य विज्ञानों की तरह सहज ही अशुभ के विज्ञान को भी स्वीकार किया है। जहां तक जैनदर्शन की बात है, यहां अशुभ आदि किसी परमसत्ता द्वारा सर्जित नहीं माना गया है। जैनदर्शन के अनुसार व्यक्ति अपने कर्मों का भोक्ता है। कर्म ग्रहण करने में व्यक्ति स्वतंत्र है किन्तु भोग करने में परतंत्र। यदि बुरा कर्म होगा तो बुरा फल पाने के लिए परतंत्र है और अच्छा कर्म करेगा तो अच्छा फल पाने के लिए परतंत्र है। जैसे वृक्ष पर व्यक्ति चढ़ता है तो चढ़ने में स्वतंत्र है। प्रमादवश गिर जाये तो गिरने में स्वतंत्र नहीं है। विशेषावश्यक भाष्य में इसी को स्पष्ट किया गया है— **"कम्मं चिणंति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परवसा होन्ति।**
सक्खं दु रूहइ सवसो, विगलसपरवसो तत्तो॥"

अर्थात् यहां शुभ-अशुभ का कर्त्ता कोई ईश्वर या अन्य सत्ता नहीं, अपितु कर्म ही है।

10.8 सारांश

अस्तु उपर्युक्त विभिन्न दर्शनों के जगत् सम्बन्धी विचार की तुलनात्मक रूपरेखा निम्न चार्ट से अधिक स्पष्ट है—

क्र.	प्लाटिनस	स्पिनोजा	लाइबनीज	बर्कले	जैनदर्शन
1.	जगत् की अभिव्यक्ति	अभिव्यक्ति	उत्पत्ति	असत् किन्तु	शाश्वत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

				विज्ञानरूप	
2.	जगत् का कारण ईश्वर	ईश्वर	ईश्वर	ईश्वर	कोई कारण नहीं
3.	ईश्वर उपादान, निमित्त कारण	उपादान निमित्त कारण	उपादान निमित्त	उपादान निमित्त	कोई कारण नहीं
4.	जगत् चित्-अचित्रूप	चित्-अचितरूप	चित्रूप	चित्रूप	चित्-अचित्रूप
5.	यन्त्रवत् सृष्टि	यन्त्रवत्	प्रयोजनमूलक	प्रयोजनमूलक	प्रयोजनमूलक
6.	सृष्टि ईश्वर की प्रचुरता के कारण	ईश्वर की सहजता के कारण	ईश्वर की व्यवस्था के कारण	ईश्वर की क्षमता के कारण	नित्य
7.	ईश्वर से सबसे अंत में निकलने के कारण जगत् में अशुभ	मानव की सीमित बुद्धि का परिणाम	आवश्यकता के कारण	अन्य विज्ञानों की तरह सहज	कर्म के कारण

10.9 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. पाश्चात्य दर्शन और जैनदर्शन के जगत् विचार का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. जैनदर्शन के लोक (जगत्) के स्वरूप का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।
2. प्लाटिनस के जगत् विचार का सार प्रस्तुत कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. लाइबनीज के अनुसार जगत् चित्तरूप है या अचित्तरूप?
2. जैनदर्शन में लोक के अन्तर्गत कितने द्रव्य स्वीकार किये गये हैं?
3. जैनदर्शन में जगत् के अशुभ का कारण किसे माना गया है?
4. लाइबनीज ने कितने प्रकार के अशुभ स्वीकार किये हैं?
5. स्पिनोजा का ईश्वर जगत् का उपादान कारण है या निमित्त कारण या दोनों?
6. जैनदर्शन में जगत् शाश्वत है या अशाश्वत?
7. जैनदर्शन के अनुसार लोक का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ क्या है?
8. भगवतीसूत्र में लोक के कितने प्रकार माने गये हैं?
9. बर्कले ने जड़तत्त्व का खण्डन क्यों किया है?
10. प्लाटिनस जगत् की उत्पत्ति मानता है या अभिव्यक्ति?

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. चित्त
2. 6
3. कर्म
4. 3
5. दोनों
6. शाश्वत
7. यः लोक्यते सः लोकः
8. चार
9. अध्यात्म की पुष्टि के लिए
10. अभिव्यक्ति।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग–4 : प्रमुख धर्म एवं जैन धर्म

इकाई–11 जैनधर्म और ईसाई धर्म

(ईश्वर, जगत्, अशुभ, मुक्तिमार्ग, नीतिशास्त्र)

संरचना

11.0 प्रस्तावा
11.1 उद्देश्य
11.2 ईसाई धर्म में ईश्वर
11.3 जगत् विचार
11.4 अशुभ की समस्या
11.5 मुक्ति मार्ग
11.6 नीतिशास्त्र
11.7 जैन धर्म
11.8 जैन धर्म एवं ईसाई धर्म में तुलना
11.9 सारांश
11.10 अभ्यास प्रश्नावली

11.0 प्रस्तावना

विश्व के क्षितिज पर धर्म का इतिहास इस बात का प्रमाण रहा है कि धर्म के नाम पर रक्तरंजित संघर्ष होते रहे हैं। साधारणत: धर्मावलम्बी अपने धर्म को ही अनूठा समझता है तथा अन्य धर्मों की उपेक्षा करता है यानी दूसरे धर्म को न्यून स्थान देता है किन्तु धर्मदर्शन विभिन्न धर्मों के बीच समन्वय करने का प्रयास करता है ताकि संसार के सभी धार्मिक व्यक्तियों के बीच आत्मीयता एवं बन्धुत्व की भावना का सृजन हो। विश्व के सभी धर्म सत्य की प्राप्ति में संलग्न हैं। सभी का लक्ष्य एक है, अन्तर सिर्फ साधन पक्ष एवं क्रिया पद्धति को लेकर परिलक्षित होता है। इस प्रकार धर्म-दर्शन विभिन्न धर्मों के बीच जो पार्थक्य की दीवार है उसे नष्ट करने की दिशा में एक सफल कदम है। इसीलिए धर्म-दर्शन में, धर्म से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों के संकलन के द्वारा धर्मों का मूल्यांकन होता है।

प्रो. राइट ने अपनी पुस्तक A Philosophy of Religion (p. 22) में धर्म-दर्शन की व्याख्या करते हुए कहा है—"Philosophy of religion is an attempt to discover by rational interpretation of religion and its relations to other types of experience, the truth of religions belief and the value of religions attitudes and practices."

अर्थात् "धर्म-दर्शन धर्म की सत्यता तथा धर्म के व्यवहारों एवं विश्वासों की मूल विशेषताओं का सम्पूर्ण जगत् की दृष्टि से विवेचन करता है तथा धर्म का सम्बन्ध तत्त्व से निश्चित करता है।" इन वैशिष्ट्यों से संपृक्त विश्व के अनेक धर्म-दर्शन हैं किन्तु यहां जैन और ईसाई धर्म-दर्शन का तुलनात्मक विवेचन अभीष्ट है।

आज विश्व के सभी धर्मों में ईसाई धर्म सर्वाधिक प्रसारित धर्म है। कहते हैं कि दुनिया का हर तीसरा आदमी ईसामसीह के धर्म को मानता है। यह धर्म चूंकि ईसामसीह के उपदेशों पर आधारित है इसलिए इस धर्म के प्रवर्तक ईसा को माना जाता है। डॉ. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा ने 'धर्म-दर्शन रूपरेखा' पुस्तक में लिखा है कि यह धर्म चूंकि एक व्यक्ति के द्वारा प्रवर्तित हुआ अत: इसे एक व्यक्ति द्वारा प्रवर्तित इस्लाम और पारसी के समकक्ष माना जा सकता है और चूंकि इसका विकास पूर्ववर्ती धर्म यहूदीधर्म (Judaism) से हुआ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है अत: यह धर्म जैनधर्म और बौद्धधर्म के निकट है क्योंकि इन दोनों धर्मों का विकास भी अपने पूर्ववर्ती हिन्दूधर्म से हुआ था। डॉ. सिन्हा ऐसा तथ्य प्रतिपादित करते समय शायद जैनधर्म की सुदीर्घ परम्परा (चौबीस तीर्थंकर परम्परा) की ओर अपना ध्यान आकृष्ट न किये हों। जैन परम्परा जैनधर्म को अति प्राचीन मानती है, इसे अनादिकालीन धर्म भी कहा जा सकता है।

ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसामसीह के बारे में उनके व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं, प्रत्यक्ष रूप-रंग, आकार-प्रकार आदि के बारे में बहुत कम जानकारी मिलती है। जब उनके जीवन चरित के विषय में निश्चित जानकारी हासिल करने की कोशिश करते हैं, तब और भी निराशा हाथ लगती है। ईसामसीह की हजारों, लाखों मूर्तियां और चित्र होने पर भी वे प्रत्यक्ष कैसे दिखते होंगे, इसका कोई वर्णन नहीं मिलता। कार्लाइल ने तो यहां तक कहा है कि "मै गरीब आदमी हूं, पर मै अपनी सारी सम्पत्ति का एक तिहाई अंश उस आदमी को देने को तैयार हूं जो ईसामसीह का सही-सही शारीरिक वर्णन सप्रमाण दे सके।" वे कितने लम्बे थे, उनके नाक-नक्श कैसे थे, उनके बालों और आंखों का रंग कैसा था—कोई नहीं जानता। चित्रकारों एवं शिल्पकारों ने मुक्त भाव से अपनी कल्पना से काम लिया। विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर उनका जो संक्षिप्त परिचय मिलता है वह इस प्रकार है। ईसा का जन्म फिलीस्तीन नामक देश के बैथलेहम ग्राम के एक घुड़साल में हुआ था। उनकी माता का नाम मरियम तथा पिता का नाम जोसेफ था। उनके ईश्वरीय संतान होने के सन्दर्भ में कहा जाता है कि मरियम को क्वाँरेपन में ही गर्भ रह गया। इस को जानकर जोसेफ के मन में शंका हुई। वे अपनी शंका का समाधान करने की सोच ही रहे थे कि तभी उन्हें स्वप्न में किसी दूत ने कहा कि मरियम के गर्भ में भगवान् का पुत्र है। ईसा का भरण-पोषण नजारेथ में हुआ। कहा जाता है कि बारह वर्ष की अवस्था में माता-पिता इन्हें येरूशलम ले गये। जहां वे रास्ते में खो गये थे। पता लगने पर माता-पिता इन्हें येरूशलम मन्दिर में शास्त्रार्थ करते हुए पाये। पिता बढ़ई का व्यापार करते थे। अभी ईसा ने सार्वजनिक जीवन में कदम भी नहीं बढ़ाये थे कि इनके पिता का देहान्त हो गया और पालन-पोषण माता मरियम ने किया। बचपन से ही ईश्वर में ईसा की अनुरक्ति थी। अवकाश के क्षणों में प्राय: वे ईश्वर के ध्यान में निमग्न रहते थे। उस समय के लोकप्रिय जॉन नामक प्रतिभाशाली साधु से उन्होंने दीक्षा ली और तदुपरान्त जीवन भर धर्म का प्रचार करते रहे।

ईसाई धर्म ग्रन्थों में ईसा द्वारा किये गये अनेक चमत्कारों का वर्णन हैं—अंधे को आंखें दी, पंगु चलने लगे और कोढ़ी अच्छे हो गये। हम चाहें इन चमत्कारों में विश्वास न करें किन्तु उस समय की जनता अवश्य विश्वास करती थी। उन्होंने अपना जीवन मानों दूसरों की भलाई में समर्पित कर दिया हो। इसके कारण जनता में यह विश्वास दृढ़ हो गया कि यदि ईश्वर परम और शुद्ध शिव है, अच्छाई का प्रतीक है तो ईसा मानो उसका मानवी रूप है। ईसा की ख्याति से तथाकथित पुरोहित वर्ग को ईर्ष्या हुई। वे ईसा की हत्या करने के लिए व्यग्र हो गये। ईसा को इसका आभास मिल गया। परन्तु वे अपने साथी जूडा (Judas) के विश्वासघात के फलस्वरूप पकड़े गये। उन पर ईश्वर निन्दा का अभियोग लगाया गया और बाद में वे शूली पर लटका दिये गये। मरते समय उनके अंतिम शब्द थे—'हे पिता यह आत्मा तुम्हें अर्पित है।' एच.जी. वेल्स ने तो उनके बारे में यह उल्लेख किया है कि 'या तो वह आदमी पागल था, या दुनिया उसे समझने के लिए तैयार न थी।'

ईसाई धर्म-दर्शन का आधारभूत ग्रन्थ बाइबिल है। इसे पवित्र ग्रन्थ माना जाता है। बाइबिल के दो रूप हैं—ओल्ड टेस्टामेंट और न्यू टेस्टामेंट। ओल्ड टेस्टामेंट में 39 पुस्तिकायें हैं जो ईसाई और यहूदी दोनों धर्मों के लिए समान हैं और न्यू टेस्टामेंट में 27 पुस्तिकाएं हैं। ईसाई लोग ईश्वर की उत्प्रेरणा से बाइबिल की रचना मानते हैं जबकि यहूदी इसे ईश्वर की प्रकाशना मानते हैं। ईसाई धर्म में बाइबिल की तरह गिरजाघर (Church) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मध्यकाल में तो चर्च और पोप प्रभावी हो गये थे। चर्च ईश्वरीय कृपा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

और मुक्ति का आधार बन गया। पोप ने अपने को ईश्वरीय प्रतिनिधि कहकर अनेक प्रकार के अन्याय करना शुरू कर दिया। मार्टिन लूथर किंग ने पोप के विरुद्ध प्रचार आरम्भ किया। अत: लूथर एवं उनके अनुयायियों को प्रोटेस्टैंट अर्थात् विरोधी की संज्ञा दी गयी और चर्च एवं पोप को मानने वालों को कैथोलिक कहा जाने लगा। कैथोलिकों ने मूर्तिपूजा को बढ़ावा दिया जबकि प्रोटेस्टैंटों ने मूर्तिपूजा का विरोध किया।

11.1 उद्देश्य

यहां ईसाई धर्म के संक्षिप्त परिचय के पश्चात् अब ईसाई दर्शन के मूल चिन्तनों पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है और तदुपरान्त जैन धर्म से तुलना अपेक्षित होगी।

11.2 ईश्वर विचार

ईसाई धर्म में ईश्वर को परमसत्ता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। वह एक है। वह सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है। वह पूर्ण, नित्य, शाश्वत है। वह स्वर्ग और पृथ्वी का स्वामी है। वह यत्र-तत्र सर्वत्र है। वह अतीन्द्रिय (Transcendental) एवं अन्तर्यामी (Immanent) है। वह न्यायी, परोपकारी एवं पवित्र है। वह विश्व का संचालक और नैतिक शासक है। संक्षेप में वह ही सब कुछ है। ईसाई धर्म में ईश्वर के बारे में निम्नलिखित धारणाएं हैं—

11.2.1 ईश्वर स्रष्टा और उद्धारक है

बाइबिल और ईसाई धर्म के इतिहास में ईश्वर को संसार का स्रष्टा और उद्धारक माना गया है। स्रष्टा एकमात्र ईश्वर है। उसके अतिरिक्त सब सृष्टि है। चूंकि वही स्रष्टा है अत: वही उद्धारक भी है। उसके सृष्टिकर्तृत्त्व के सम्बन्ध में निम्न बातें कहीं जा सकती हैं—

(1) ईश्वर ने शून्य से जगत् का निर्माण किया है। शून्य से जगत् का निर्माण करने का मतलब यह है कि जगत् के निर्माण के लिए उसे किसी दूसरी सत्ता या तत्त्व की सहायता नहीं लेनी पड़ी।

(2) सृष्टिकर्त्ता ईश्वर सर्वशक्तिमान एवं अशरीरी है।

(3) ईश्वर अपनी सृष्टि से दूर नहीं रहता वरन् सृष्टि में भी रहता है, अत: व्यक्तित्वपूर्ण भी है।

(4) ईश्वर सृष्टि की रचना कर उसे अनाथ बालक की तरह छोड़ नहीं देता अपितु निरन्तर उसकी साज-संभाल भी करता रहता है। वह संसार बनाता है, उसे बचाये रखता है और विकास की दिशा देता है।

इस प्रकार ईश्वर एक, पूर्ण और सृष्टि का कर्त्ता है। ए.आर. महापात्र ने अपनी पुस्तक 'Philosophy of Religion' में कहा है—"God is one. He is only absolutely prime mover or uncaused cause. The world is created by God out of nothing. God willed the universe. The world was not created in time and space but time and space were created by God as part of the world. The created world is God"

ईश्वर सृष्टि का निर्माता ही नहीं, वह सृष्टि का उद्धारकर्त्ता भी है। इसका अर्थ यह हुआ कि संसार अबाधगति से अपने उद्देश्य की ओर बढ़ने वाली चीज नहीं है। उसके मार्ग में बाधाएं भी हैं, बुराइयां हैं, पाप हैं जिन्हें दूर किये बिना विकास संभव नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि संसार के सच्चे और अबाधित विकास के लिए उन बुराइयों को मार्ग से दूर करने का कार्य भी सतत् होते रहना चाहिए। ईश्वर सदा इन बुराइयों के नाश में व्यस्त रहता है। अब यह बुराई दुनिया में है तो वह ईश्वर की बनायी हुई नहीं है। चूंकि मनुष्य ने ईश्वर के प्रति विद्रोह किया, उसके कारण बुराइयां जीवन में आईं। अत: ईश्वर सृष्टि का स्वामी है। वह उसे निरन्तर बनाता रहता है। इसे बुराइयों से बचाता है। वह संसार की गति को उसकी अंतिम पूर्णता तक ले जाने का मार्ग दिखाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

11.2.2 ईश्वर स्वभाव से प्रेम स्वरूप है

चूंकि ईश्वर कर्त्ता और संचालक है इसलिए वह प्रेम स्वरूप है। यहां प्रेम शब्द व्यापक अर्थ में है। ईश्वर चराचर जगत् के सभी प्राणियों का भरण-पोषण, संरक्षण करता है। वह किसी के प्रति दो आंख नहीं करता। रोमन्स (8:38) में यह इस प्रकार स्पष्ट है 'For I am certain that nothing can seperate us from his love, neither death nor life, neither angels nor other heavenly rulers or powers, neither present nor the future, neither the world above nor the world below, there is nothing in all certain that will ever be able to separate us from the Love of God.' मत्ती (6:30) में कहा गया है कि ईश्वर फूल-पत्तियों को सुन्दर बनाता है, गौरेये तक की खोज खबर रखता है, उसे दाना चुगाता है। ईश्वर के इस प्रेम में अच्छे बुरे सभी समाहित हो जाते हैं। ईश्वर के प्रेम का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि ईश्वर ने अपने प्यारे पुत्र को जगत् में भेजा ताकि उसके बलिदान से सभी का उद्धार हो सके। योहन (3:16) में स्पष्ट है कि 'ईश्वर ने जगत् से ऐसा प्यार किया कि उसने अपना इकलौता पुत्र दे दिया ताकि जो कोई उस पर विश्वास करे सो मृत्युदण्ड का भागी न हो, वरन् अनन्त जीवन प्राप्त करे। इस प्रकार ईश्वर अपने प्रेम के कारण बराबर सबका कल्याण करता रहता है।

11.2.3 ईश्वर सर्वोपरि एवं सर्वव्यापी है

ईसाई मत के अनुसार इस सृष्टि और हर जीवित वस्तु का सर्वोच्च स्वामी ईश्वर है। ईश्वर स्वामी है, इसका अर्थ यह नहीं कि संसार में बुराई नहीं है। ईश्वर सर्वशक्तिमान है। उसने जगत् का निर्माण किया है तो उसे आंशिक स्वतंत्रता भी दी है। इसी आंशिक स्वतंत्रता के कारण मनुष्य अपने लिए योजनाएं बनाता है और अपने अस्तित्व के लिए प्रयास भी करता है। इसी आंशिक स्वतंत्रता के कारण जब मनुष्य ईश्वर का विरोध करता है और अपने मित्रों एवं सगे सम्बन्धियों की उपेक्षा करता है तो बुराई जन्म लेती है।

जब ईसाई दर्शन में यह कहा गया है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान एवं सर्व स्वामी है तो इसका मतलब है कि मनुष्य की आंशिक स्वतंत्रता भी अन्ततः उसी के अधीन है। वही अन्ततः सब बुराइयों का अन्त करता है और संसार का उद्धार करता है। अतः उसे संसार की सब प्रक्रियाओं का नियंत्रक एवं सबका मार्गदर्शक कह सकते हैं क्योंकि वह इसी प्रकार से संसार और मनुष्य जाति के उद्देश्य पूरा करता है।

11.2.4 ईश्वर तीन में एक हैं

यहां ईश्वर एक है, सम्पूर्ण है। जो कुछ उसने बनाया वह उसी में स्थित है। व्यक्तिशः, समूहशः सब कुछ वही है। ईसाई मत का ईश्वर संख्या की दृष्टि से एक नहीं है। न वह एकाकी उस अर्थ में है कि उसका कोई साथी नहीं। वह सबको अपने-आप में समा लेने वाली इकाई है अर्थात् वह एकात्म है। तीन परम तत्त्वों का सिद्धान्त उसमें एकाकार हो गया है। इस प्रकार ईसाइयों के लिए ईश्वर एक है और तीन भी। यहां =येक परमेश्वर (Trinity) की अवधारणा है। याकूब मसीह ने अपनी पुस्तक "A comparative study of Religions" में इसी को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"There are three things, namely, God the Father, God the Son and God the Holy Ghost. Christian theologians in the west have held that these are three persons in one." अर्थात् ईसाई दर्शन में =येक है जिनके नाम हैं—पिता, पुत्र और पवित्रात्मा। ये तीन होते हुए भी ईसाई दर्शन एकेश्वरवादी है।

किन्तु ब्रह्म समाज के संस्थापक राजा राम मोहनराय के अनुसार पिता, पुत्र और पवित्रात्मा को एक कहना भारी भूल है। पर वास्तव में ईश्वर एक है, ईसा ईश्वर के वे पैगम्बर हैं जिन्होंने ईश्वर तक पहुंचाने के लिए एक मध्यस्थ का काम किया और पवित्र आत्मा ईश्वर की वह शक्ति है जो ईश्वर से निकलकर विश्व में व्याप्त होती है। प्रार्थना समाज के संस्थापक केशवचन्द्र सेन सत्, चित्त एवं आनंद के रूप में ईश्वर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

की भावना को स्वीकार किया है। वैसे वह एक साथ पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा है अर्थात् वह एक साथ सर्वान्तर्यामी एवं सबसे परे भी है।

11.2.5 ईश्वर का अवतार उसका पुत्र

ईश्वर का पुत्र धरती पर आया। उसे ईश्वर ने ही बनाया है। ईश्वर ने ही भेजा है। यहां अवतार ईश्वर का ही एक प्रमुख आदेश है। वह मानवी माता के उदर से धरती पर मनुष्य के रूप में जन्म लेता है। इस प्रकार ईसा मसीह ईश्वर का पुत्र और उसी के द्वारा संसार में प्रेषित हुआ। ईश्वर ही ईसा के रूप में पृथ्वी पर आया। मनुष्य के नाते उसे यहां वह सब कुछ सहन करना पड़ा, जो मानवमात्र को सहना होता है। ईसा का बलिदान उसका अंत नहीं है। उसका पुनर्जागरण देश-काल के बंधनों में ईश्वर तत्त्व की विजय का चिह्न है। इतिहास में ईसा का शूली पर चढ़ना बुराई के तात्कालिक और थोड़े समय के लिए विजय का प्रतीक है, तो ईश्वर तत्त्व के दुर्दम्य विजय का प्रतीक ईसा का कब्र से जागना है।

इस प्रकार ईसाई दर्शन का ईश्वर असीम, शाश्वत, स्वयंभू एवं वास्तविक सत् है। कहा भी गया है—"Thus God is conceived as the infinite, eternal, uncreated, personal reality, who has creatures all that exists other than himself, and who has revealed himself to his human creatures as holy and loving. Jesus never claimed himself to be God. He preached his oneness with God and said of himself that he was the son of God." इस प्रकार ईसाई दर्शन में सर्वेसर्वा ईश्वर ही है।

11.3 जगत् विचार

ईसाई दर्शन के अनुसार जगत् का निर्माण ईश्वर ने किया है। इस जगत् के निर्माण के लिए उसे किसी अन्य सत्ता के सहयोग की जरूरत नहीं पड़ती है, इसीलिए यहां स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ईश्वर ने शून्य से जगत् का निर्माण किया है। इसका तात्पर्य यह है कि जगत् के उपादान कारण के रूप में ईश्वर को किसी अन्य की आवश्यकता नहीं पड़ती है। वह मकड़ी की तरह अपने अन्दर से ही सामग्री भी उत्पन्न करता है और उनसे ही जाले की तरह संसार बनाता है।

ईश्वर सृष्टि का निर्माण किसी इच्छा की पूर्ति एवं किसी आवश्यकता के कारण नहीं किया? जैसे संसार में हम देखते हैं कि किसी-न-किसी वस्तु की उत्पत्ति का कोई-न-कोई उद्देश्य होता है? निरूद्देश्य कोई नहीं होता है। ईश्वर सृष्टि का निर्माण करता है तो उसके पीछे उसका क्या उद्देश्य है? ईसाई दर्शन के अनुसार ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण किसी इच्छा या आकांक्षा की पूर्ति के लिए नहीं किया है क्योंकि वह तो आप्तकाम है। ईश्वर ने विश्व की सृष्टि दबाव अथवा विवशता की परिस्थिति में नहीं कर प्रेम के वशीभूत होकर किया है। ईश्वर विश्व की सृष्टि ही नहीं करता अपितु उसे व्यवस्थित भी करता है।

बाइबिल में जगत् की रचना के संदर्भ में कहा गया है कि 1. ईश्वर ने सृष्टि-रचना में सर्वप्रथम आकाश की रचना की 2. फिर जल और थल की 3. फिर वनस्पतियों की 4. पुनः सूर्य चांद की 5. तब जल और थल जन्तुओं की 6. अंत में मानव की रचना की। मानव को ईश्वर ने सबसे विकसित प्राणी के रूप में बनाकर सृष्टि पर उनका प्रभुत्व कायम किया। बाइबिल (Gen 1.26) में स्पष्ट है—"The World is there for the sake of living being and above all for man who has dominion over all things." ईश्वर द्वारा सर्जित सृष्टि के वैशिष्ट्य के बारे में रोमन्स (1:20) में उल्लेख है—

"Ever since God created the world, his invisible qualities, both his eternal power and divine nature, have been clearly seen; they are perceived in the things that God has made." अर्थात् ईश्वर ने अपनी अप्रत्यक्ष शाश्वत एवं दैवीय शक्ति से जिस संसार का निर्माण किया वह स्पष्ट दिखाई पड़ता है। ईश्वर द्वारा रचित सभी वस्तुएं भी देखी जाती हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जगत् सृजन के बारे में बाइबिल में कहा गया है—"Bible states that the world has been created by God and God takes care of what he has created. Not even a sparrow falls to the ground without the Father's will. (Matt. 5:2, Luke, 12:25) and God was happy with his creation (Gen. 1:31)" अर्थात् जब ईश्वर ने अपनी सृष्टि-रचना सम्पन्न कर ली तो उसने अथ से इति तक अपनी सृष्टि को देखकर खुश हुआ किन्तु कालान्तर में व्यक्ति की असावधानियों एवं कमियों के कारण जगत् में पाप बढ़ता गया। तृष्णा और प्रलोभन व्यक्ति पर जैसे-जैसे प्रभावी होते गये वैसे-वैसे संसार में बुराई बढ़ती गयी। बाइबिल में कहा गया है कि पाप बुरे कार्य या बुरे व्यवहार की सूची नहीं अपितु शर्त है। मनुष्य स्वभाव से पापी है इसीलिए वह पाप के कार्य करता है और मनुष्य के इसी स्वभाव ने मनुष्य को ईश्वर से पृथक् कर दिया। द्रष्टव्य है—"The Bible teaches that sin is not a list or category of deeds, attitudes, but rather a condition. Man is by nature a sinner, therefore, he commits actions which are sinful (John 1:8-10)"

सृष्टि में पाप है, अंधकार है इसलिए सृष्टि अपूर्ण है जबकि ईश्वर पूर्ण, पुण्य एवं प्रकाश रूप है। वैसे सृष्टि ईश्वर की रचना है अतः ईश्वर से अभिन्न भी है किन्तु सृष्टि में दैन्य, अभिशाप, अन्धकार है इसलिए सृष्टि ईश्वर से भिन्न है। ईश्वर चरम सत्य है जबकि सृष्टि को कभी चरमसत्य नहीं कहा जा सकता। सृष्टि में तृष्णा विशेषकर धन की तृष्णा, धन को इकट्ठा करने की भावना घातक है। भौतिक धन स्वर्ग में जा नहीं सकते और जगत् में रहते हुए भी चोर, डाकुओं के द्वारा छिनने का डर रहता है अतः मत्ती में स्वर्गिक ऐश्वर्य को इकट्ठा करने पर बल दिया गया है—"Do not store up riches for yourselves here on earth, where moths and rust destroy, and robbers break in and steal. Instead, store up riches for yourselves in heaven, where moths and rust can not destroy (Matti 6:19)"

इस तरह यह कहा जा सकता है कि जगत् मानव केन्द्रित है और मानव, जगत् तथा जगत् का कण-कण, अणु-अणु ईश्वर की सर्जना है।

11.4 अशुभ की समस्या

जैसे दुःख के बिना सुख का कोई महत्त्व नहीं होता उसी प्रकार अशुभ के बिना शुभ का भी कोई महत्त्व नहीं होता। ईसाई दर्शन के अनुसार अशुभ अनेक प्रकार का है—

1. प्राकृतिक अशुभ (Intellectual Evil)
2. तात्त्विक अशुभ (Meta physical Evil)
3. सामाजिक अशुभ (Social Evil)
4. नैतिक अशुभ (Moral Evil)
5. सौन्दर्य सम्बन्धी अशुभ (Aesthetic Evil)

प्रकृति में व्याप्त अशुभ को प्राकृतिक अशुभ कहते हैं जैसे—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, तूफान आदि। माया, अविद्या, मिथ्याज्ञान, भ्रम, अध्यास आदि बौद्धिक अशुभ हैं। हर संरचना में कुछ न कुछ कमी रहती ही है। दोषरहित कोई रचना नहीं हो सकती क्योंकि वह अपूर्ण होती है। इसी को तात्त्विक अशुभ कहा जा सकता है। अस्पृश्यता, शोषण दैन्यता, दरिद्रता सामाजिक अशुभ के उदाहरण हैं। पाप, हिंसा, चोरी, कुशील, संग्रह आदि नैतिक अशुभ हैं। कुरूपता, मलिनता आदि सौन्दर्य सम्बन्धी अशुभ हैं। पांच प्रकार के इन अशुभों में प्राकृतिक और अनैतिक अशुभों को यहां प्रधानता मिली है।

प्रश्न यह उठता है कि ईश्वर सर्जित सृष्टि में ये अशुभ कहां से आये? ईसाई दर्शन में इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि ईश्वर ने जगत् का निर्माण कर मानव को स्वतंत्रता देकर उसे जो महत्त्व दिया उसी का परिणाम हुआ कि जगत् में अशुभ का जन्म हुआ। एक वाक्य में कह सकते हैं कि अशुभ मानव के संकल्प स्वातंत्र्य का दुरुपयोग है। इस दुरुपयोग के कारण अशुभ की उत्पत्ति हुई अतः इसका कारण मनुष्य ही है। प्रकृति, समाज, नैतिकता, तत्त्व एवं सौन्दर्य के साथ प्रकृति ने अनावश्यक छेड़छाड़ शुरू की जिसके कारण पूर्व में कहे गये पांच प्रकार के अशुभ उद्भूत हुए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ईसाई दर्शन में अशुभ को विकास का कारण भी माना गया है। जैसे सोना तपाने से विमल होकर सामने आता है वैसे ही व्यक्ति अशुभ से संघर्ष करते हुए उच्चशुभ की प्राप्ति कर सकता है। कष्ट, संत्रास एवं पीड़ा को सहन कर व्यक्ति धैर्यवान् बनता है। यातनाएं सहकर व्यक्ति महान् बनता है। यातना सहना ईसाई धर्म में सौभाग्यशाली माना गया है। स्वयं ईसा मसीह ने न जाने कितनी यातनाएं सही थी और यातना सहते हुए शूली पर लटक गये। अत: अशुभ मानव के लिए चुनौती है जिसे दूर करने के लिए मानव चरित्र का और बुद्धि का विकास होता है। यहां अशुभ को इसलिए भी स्वीकार किया गया है कि इसके द्वारा ईश्वर की महिमा भी प्रकट होती है। योहन (9:3) में एक घटना का उल्लेख है—"Pain at times is for the manifestation of the glory of God. This is illustrated in the case of the man born blind, whom Jesus healed. This disciples asked Jesus, "Why was this man born blind/ Did he sin or his parents that he was born blind?" Jesus replied, "Neither he nor his parents sinned? But he was born blind that, the power of God be made manisfast." (St. John 9:3)

अर्थात् एक अन्धे को मसीह के पास लाया गया और उससे पूछा गया कि यह जन्म से ही अन्धा क्यों पैदा हुआ? क्या इसने पूर्व जन्म में या इसके पिता ने पाप किया था जिससे कि यह जन्मान्ध हुआ? मसीह ने कहा कि यह इसलिए जन्मान्ध हुआ कि इसके द्वारा ईश्वर की महिमा प्रकट हो।

इन कारणों से याकूब मसीह ने अपनी पुस्तक A comparative study of religions में निष्कर्ष के रूप में कहा है कि "Thus, suffering is not an evil for a christian. It is the means by which he participates in the kingdom of God by sharing the suffering of the cross."

यद्यपि ईसाई धर्म में अशुभ तत्त्व को यथार्थ और किन्हीं संदर्भों में आवश्यक भी माना गया है फिर भी ईसाई दर्शन में अशुभ-मुक्ति की बात कही गयी है। अब प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य अशुभ से कैसे मुक्त हो सकता है? इस प्रश्न का समाधान देते हुए बाइबिल में कहा गया है कि ईश्वर की कृपा के बिना मानव अशुभ से मुक्ति नहीं पा सकता। ईश्वर के प्रति प्रेम, आत्मसमर्पण तथा समाज के सदस्यों के प्रति नि:स्वार्थ सेवा के फलस्वरूप वह ईश्वर की करुणा का पात्र बन सकता है। इस प्रकार ईसाई दर्शन में अशुभ से छुटकारा पाने का भी संकेत पूर्णरूपेण मिलता है।

11.5 मुक्ति मार्ग

ईसाई दर्शन में आत्मा की अमरता के सन्दर्भ में यह उल्लेख है कि मनुष्य का उद्देश्य वैयक्तिक अमरता (Personal immortality) को प्राप्त करना है। वैयक्तिक अमरता वैयक्तिक मुक्ति की ओर ले जाती है। किन्तु यह मुक्ति ईश्वरत्व को प्राप्त नहीं करती। जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त के मोक्ष में आत्मा परमात्मा की एकरूपता हो जाती है वैसा यहां संभव नहीं है। ईसाई दर्शन के अनुसार मुक्ति में मनुष्य ईश्वरत्व को प्राप्त नहीं कर सकता। वह ईश्वर से पृथक् अपनी सत्ता कायम रखता है। इसके लिए यहां पर ईश्वर की कृपा पर बल दिया गया है। ईश्वर की कृपा के बिना मनुष्य मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। इस धर्म के अनुसार मनुष्य अपने प्रयासों से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। इसके लिए ईश्वर की कृपा और प्रेम आवश्यक है।

ईसाई धर्म में मुक्ति के लिए ईश्वर में भक्ति, निष्ठा, समर्पण एवं विश्वास आवश्यक है। ईश्वर में विश्वास करने के अतिरिक्त ईसामसीह में भी विश्वास करना आवश्यक माना गया है क्योंकि वे मानव के उद्धारक हैं। उन्होंने स्वयं कहा है—"I and the Father are one (John-10:30)" अर्थात् मै और पिता एक हैं। आगे भी उन्होंने कहा है कि बिना मेरे कोई भी पिता के पास नहीं पहुंच सकता। योहन में यही तथ्य और स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया गया है—"Let not your heart be troubled. You are trusting God, now trust in Me. There are many homes up there where my father lives and I am going to prepare them for your coming. When everything is ready, then I will come and get you, so that you can always be with Me

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

where I am.. If this were not so, I would till you plainly." अर्थात् यहां यह स्पष्ट है कि ईश्वर की तरह यदि मेरे (ईसा) में भक्ति रखते हों तो मैं तुम्हें मुक्ति में अवश्य स्थान दिलाऊंगा।

इससे यह स्पष्ट हो सकता है कि ईसा की शिक्षाओं को जीवन में उतारकर और उनके प्रति भी अपना सम्पूर्ण समर्पण करके व्यक्ति मुक्त हो सकता है।

ईश्वर में विश्वास और ईसा में विश्वास के अतिरिक्त ईसाई दर्शन में मुक्तिमार्ग के रूप में हृदय की पवित्रता एवं अन्त:करण की शुद्धता को भी स्वीकार किया गया है। इसके अनुसार पवित्र हृदय वाला ही मुक्ति का पात्र है। छलछद्म एवं कटुता से पूर्ण व्यक्तित्व को इस धर्म में मुक्ति के योग्य नहीं माना गया है। कहा भी गया है—'Spirit produces love, joy, peace, patience, kindness, goodness, faithfulness, humanity and self control.' (Gal. 5:23)

मुक्ति के लिए भक्ति यहां आवश्यक है और कर्म के सन्दर्भ में विवाद है। कुछ लोगों के अनुसार मुक्ति के लिए कर्म अनावश्यक है। ऐसे लोगों का मानना है कि ईसाई धर्म में ईश्वर में भक्ति और उसके अनुग्रह-दान की शिक्षा बहुत दृढ़ है। कुछ लोगों के अनुसार ईसाई धर्म में कर्म की पूर्णतया उपेक्षा नहीं हुई है। ऐसे लोग याकूब (2:17) की पंक्ति प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि 'विश्वास बिना कर्म के मुर्दा है। इसलिए शुभकार्यों में लग जाना चाहिए, इसलिए यह कहा जा सकता है कि ईसाई दर्शन में मुक्तिमार्ग के रूप में ईश्वरास्था प्रबल है किन्तु कर्म भी आवश्यक है।

11.6 नीतिशास्त्र

ईसाई धर्मावलम्बी नैतिकता की दृष्टि से ईसा के जिन उपदेशों को अत्यन्त श्रद्धा से ग्रहण करते हैं वे हैं—शैलोपदेश (Sermon on the Mount)। शैलोपदेश में नैतिक विचार का चमत्कार पूर्ण विवेचन है, जिनकी प्रशंसा में प्रो. मित्रा की ये पंक्तियां उद्धृत हैं "This forms the brightest Jevel in the crown of brilliant moral teaching of Jesus." ईसामसीह द्वारा अपने अनुयायियों को जो शैलोपदेश दिये थे उसके प्रति आज भी ईसाइयों की अनन्त आस्था है। शैलोपदेश इस प्रकार हैं—

1. जिनके अन्दर दीनभाव उत्पन्न हो गया है वे धन्य हैं क्योंकि ईश्वर का साम्राज्य उन्हीं को प्राप्त होगा।
2. विनयी पुरुष धन्य हैं क्योंकि वे पृथ्वी पर विजय प्राप्त कर लेंगे।
3. दयालु पुरुष धन्य हैं क्योंकि वे ईश्वर की दया प्राप्त कर सकेंगे।
4. जिनका अन्त:करण शुद्ध है वे धन्य हैं क्योंकि ईश्वर का साक्षात्कार उन्हें होगा।
5. शांति के प्रचारक धन्य हैं क्योंकि वे भगवान् के पुत्र कहे जायेंगे।
6. धन्य वे हैं जो धर्म के भूखे-प्यासे हैं। वे तृप्त किये जायेंगे।
7. धन्य वे हैं जो धर्म के कारण सताये जाते हैं। स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है।
8. धन्य वे हैं जो दूसरों को सदा क्षमा करते हैं।
9. धन्य वे हैं जो हर परिस्थिति में प्रसन्न रहते हैं।
10. धन्य वे हैं जो कमजोर हैं पर अस्तित्व के लिए संघर्ष करते हैं।

इस तरह यह कहा जा सकता है कि अपने शिष्यों एवं अनुयायियों के 'शैलोपदेश' के माध्यम से ईसामसीह विनय, दया, अन्त:करण शुद्धि, माधुर्य, सेवा, सहिष्णुता, प्रेम, शांति, क्षमा आदि नैतिक गुणों की शिक्षा दी।

नैतिक मूल्यों के सन्दर्भ में यहूदियों के विचारों को भी ईसाई दर्शन में परिष्कृत किया गया है। पहले यह बताया गया था कि व्यभिचार न करो पर ईसा के अनुसार मैं कहता हूं कि जिसने किसी दूसरी स्त्री की ओर वासनापूर्वक दृष्टि फेरी है उसने उसके साथ व्यभिचार कर लिया है। व्यभिचार करना बड़ा पाप है, अत: प्रायश्चित्त करना आवश्यक है। इसलिए 'तेरी दाईं आंख यदि बुराई कराये, तो अच्छा है कि तू अपनी उस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आंख को निकाल दे ताकि तू काना होकर स्वर्गिक राज्य में प्रवेश करे, न कि दोनों आंखों के साथ नरक में डाला जाय। यही बात तेरे दाहिने हाथ के विषय में कही जा सकती है। (मत्ती 5:30)

पहले कहा गया था कि किसी की हत्या मत करो क्योंकि जो हत्या करता है, वह गुनहगार है। पर मैं तुमसे कहता हूं कि जो आदमी अपने भाई पर गुस्सा करता है, वह परमात्मा की नजर में गुनहगार है। जो आदमी अपने भाई को गालियां देता है, कड़वी बातें कहता है, वह और ज्यादा गुनहगार है।

पहले कहा गया था कि कसम न खाओ किन्तु परमात्मा के आगे अपनी प्रतिज्ञाओं पर डटे रहो। पर मै तुमसे कहता हूं कि तुम्हें किसी भी हालत में शपथ नहीं लेनी चाहिए। किसी के बारे में पूछा जाय तो हां या ना में जवाब देना चाहिए। यदि कसम स्वर्ग का खाते हो तो वह ईश्वर का वास है। और यदि पृथ्वी की खाते हो तो ईश्वर का पादस्थल है, अत: तुम्हें किसी की भी शपथ नहीं लेनी चाहिए और अपना हर जवाब सीधे और सरल शब्दों में देना चाहिए।

पहले कहा गया था कि 'आंख के बदले आंख फोड़ ले और दांत के बदले दांत तोड़ दो' पर मै तुमसे कहता हूं कि बुराई का बदला कभी बुराई से मत दो। यदि कोई तुम्हारे दायें गाल पर थप्पड़ मारे तो उसकी ओर बायां गाल भी फेर दो और यदि कोई तुम पर मुकदमा दायर कर तुम्हारा कोट ले ले तो उसे तुम अपना लबादा भी दे दो। इससे यह स्पष्ट होता है कि यहां क्षमा को अधिक महत्त्व दिया गया है।

पहले यह कहा गया था कि 'केवल अपनी ही जाति के लोगों से प्रेम करो।' पर मैं कहता हूं कि तुम्हें हर आदमी से प्रेम करना चाहिए। जो तुम्हें दुश्मन मानते हैं उनसे भी प्रेम करना चाहिए। सभी मनुष्य एक ही पिता की संतान हैं। सब भाई-भाई हैं। सबके साथ तुम्हें प्रेम का व्यवहार करना चाहिए। कहा भी गया है—"Love your enemies, bless them that curse you, do good to them that hate you." इसी सन्दर्भ को मत्ती (5:43-48) में कहा गया है कि तू अपने शत्रुओं को प्यार कर क्योंकि ईश्वर भी धर्मी, अधर्मी दोनों के लिए एक समान धूप, वर्षा, हवा का इन्तजाम करता है। स्वयं मसीह ने अपने सताने वालों के लिए सबसे पहले क्रूशीय मौत के समय ईश्वर से प्रार्थना की 'हे ईश्वर पिता, तू इन्हें क्षमा कर क्योंकि अज्ञानवश वे यह सब काण्ड मेरे विरुद्ध रच रहे हैं। (लूक 23:34)

यहां परनिन्दा को भी अधर्म माना गया है। यहां यह स्पष्ट कहा गया है कि जो दूसरों की निन्दा करता है, पीठ पीछे आलोचना करता है अथवा उसके दुर्गुणों को देखता है, उसकी कमजोरियों पर छींटाकशी करता है वह अनैतिकता को प्रश्रय देता है। इसीलिए ईसामसीह ने दूसरों के दुर्गुण देखने के बजाय अपने दुर्गुणों को देखने और जानने पर बल दिया। उन्होंने स्पष्ट कहा है "तुम अपने भाई की आंख के तिनके को क्यों देखते हो और अपनी आंख के लट्ठे को क्यों नहीं देखते?"

अनावश्यक धन संग्रह को यहां अच्छा नहीं माना गया है। यहां पर स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'धनवान स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता। सूई के छेद से ऊंट भले ही निकल जाये पर धनवान कभी प्रभु के राज्य में नहीं पहुंच सकता।

संसार से विरक्ति पर भी यहां बल दिया गया है। स्वयं ईसा ने कहा कि अपने माता-पिता को छोड़कर मेरे पीछे हो लो। फिर उन्होंने कहा कि सबसे पहले स्वर्गिक राज्य की खोज करो तो अन्न-जल-वस्त्र इत्यादि सभी ईश्वर-पिता तुम्हें देगा। मत्ती (19:29) में उल्लेख है जिस किसी ने मेरे लिए घर छोड़े, भाई छोड़े, बहनें छोड़ी, माता-पिता या बेटा-बेटी छोड़े, खेत या जमीन छोड़ी, उसे सौ गुना मिलेगा। लूका (14:39) में स्पष्ट कहा गया है तुम में से कोई भी क्यों न हो, यदि वह सर्वस्व त्याग नहीं करता, तो वह मेरा शिष्य नहीं बन सकता।

उपर्युक्त नैतिक विचारों के अतिरिक्त ईसाई दर्शन में कुछ अन्य मान्यताएं भी हैं जो नैतिकता से सम्बन्धित हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. सदैव जागरूक रहो। कभी प्रमाद मत करो। 'अपनी कमर बांधे रहो और दीपक जलता रखो। ऐसा न हो कि प्रभु तुम्हें बेखबर पाये।' (लूका 12:35)
2. 'जो कोई तुमसे मांगे, उन्हें दो। जो तुमसे उधार मांगे, उनसे मुंह मत मोड़ो।' (मत्ती 5:42)। तू भोज कंगालों, लूलों-लंगड़ों और अन्धों को दो। उसका पुण्यफल तुम्हें मिलेगा (लूका 14:12)
3. 'परमेश्वर की सबसे बड़ी आज्ञा है कि तुम अपने पूरे मन, प्राण और बुद्धि से परमेश्वर से प्रेम करो। इसी तरह की दूसरी बड़ी आज्ञा है कि तू अपने पड़ोसी से भी अपने समान प्रेम करो।' (मत्ती, 22:37) 'इससे बड़ा प्रेम किसी का नहीं है कि कोई अपने मित्रों के लिए प्राण दे दे।' (यूहन्ना 15:13)
4. अपेक्षितों की सेवा पर भी बल दिया गया है। मत्ती (10:8) में कहा गया है 'बीमारों का इलाज करो। मुर्दों को उठाओ। कोढ़ियों के घावों की सफाई करो।'
5. यहां दान के महत्त्व को भी उजागर किया गया है पर गरीब के दान को सर्वोत्तम माना गया है। मरकुस (12/42) में एक घटना का चित्रण है कि एक कंगाल विधवा ने मंदिर की दानपेटी में दो सिक्के डाले। ईसा ने अपने चेलों से कहा "मैं तुमसे सच कहता हूं कि इस कंगाल विधवा ने सबसे बड़ा दान दिया है क्योंकि और सबने अपनी बढ़ती में से डाला है परन्तु इसने अपनी घटती में से जो कुछ उसका था, अर्थात् अपनी सारी जीविका ही अर्पण कर दी।" दान के संदर्भ में मत्ती (6:2-4) में यह भी कहा गया है कि "जब तू दान करे तो तेरा दाहिना हाथ जो करे, सो तेरा बायां हाथ भी न जान सके ताकि तेरा दान गुप्त रहे और तब तेरा पिता, जो सब कुछ देखता है, तुझे उसका प्रतिफल देगा।"

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि ईसामसीह के चमत्कारी व्यक्तित्व एवं दूसरों के हित के लिए अपने प्राणोत्सर्ग तथा व्यापक सामाजिक चिन्तन ने ईसाई धर्म-दर्शन को ऊंचाई भी दी है तो व्यापकता भी दी। तभी तो यह विश्व का सबसे व्यापक धर्म बन सका है।

11.7 जैनदर्शन धर्म

जैनदर्शन अध्यात्मवादी दर्शन है। भारतीय दर्शनों में जैनदर्शन का अपना एक विशिष्ट स्थान है। आचार में अहिंसा, विचार में अनेकांत, वाणी में स्याद्वाद और समाज में अपरिग्रह ये महान स्तम्भ हैं जिन पर जैनदर्शन का महाप्रासाद खड़ा है। जैनदर्शन जीवन दर्शन है। वह केवल कमनीय कल्पनाओं के अनन्त आकाश में विचरण नहीं करता वरन् उन विमल विचारों को जीवन के प्रत्येक व्यवहार में प्रतिफलित करता है।

जैन का उद्भव 'जिन्' से है जो अपने को अर्थात् अपनी इन्द्रियों को जीतता है वह 'जिन्' है। जिन कोई ईश्वरीय अवतार नहीं है। जिसने काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ, मोह-माया आदि को सम्पूर्ण रूप से जीत लिया, वही सच्चा विजेता है, जिन है। जहां तक धर्म का सम्बन्ध है, उसका अर्थ धारण करना है। जिस प्रकार बिना नींव के किसी भवन की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार बिना धर्म के मानव जीवन की सार्थकता नहीं हो सकती। इसीलिए जैन तत्त्व चिन्तकों ने वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है। वैसे जगत् में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिसके स्वभाव में धर्म न हो परन्तु आचार-स्वरूप धर्म केवल जीवात्मा में पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि धर्म का सम्बन्ध आत्मा से है। जीव के विशुद्ध आचार को धर्म कहा गया है। वही आत्मा का स्वभाव है। जैनधर्म और दर्शन विश्व को निवृत्तिमूलक जीवन शैली प्रदान करता है। संतुलित जीवन जीने की कला जैनधर्म की प्रमुख देन है। वैयक्तिक साधना जैनधर्म का आदर्श है। साधना की सामाजिकता भी जैनधर्म का व्यवहार पक्ष है। जैनाचार अहिंसा की मूल भित्ति पर अवस्थित है। अनेकान्त और सापेक्षतावादी दृष्टिकोण जैनदर्शन का प्राणतत्त्व है जो अन्यत्र अनुपलब्ध है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैन साधना में त्याग और तप का महत्त्वपूर्ण स्थान है फिर भी इनके ज्ञानमूलक होने की अनिवार्यता है। ज्ञानरहित त्याग और तप निरर्थक है। इस दृष्टि से तप का मुख्य लक्ष्य इस तथ्य को अनुभूत करना है कि शरीर, शरीर है, आत्मा, आत्मा है। दोनों के अस्तित्व अलग-अलग हैं। शरीर जड़ है तथा आत्मा चेतना शरीर नाशवान् है तथा आत्मा शाश्वत है। शरीर और आत्मा एवं का भेद समझने पर ही जैन साधना की शुरुआत होती है, यही भेद विज्ञान या सम्यक् दर्शन कहलाता है। भेद-विज्ञान की पृष्ठभूमि में ही तप सार्थक हो पाता है। इसे जैन साधना का प्रथम सोपान कहा गया है। परमानन्द की प्राप्ति तप का चरम लक्ष्य है।

जैनदर्शन में लोक व्यवस्था शाश्वत है किन्तु विकास की संभावनाएं सदा बनी रहती हैं। यह किसी ईश्वर द्वारा निर्मित एवं सृजित न होकर शाश्वत है। यहां जीव और अजीव के योग को संसार कहा गया है। आस्रव और बंध संसार के कारण हैं। संवर और निर्जरा मोक्ष के साधन हैं। मोक्ष जीव की स्वाभाविक अवस्था है। इन सात तत्त्वों के अतिरिक्त जैनदर्शन में पाप-पुण्य को लेकर नौ तत्त्व भी स्वीकार किये गये हैं।

यह दर्शन अत्यन्त विशाल, सर्वग्राही एवं उदार दर्शन है जो विभिन्न मान्यताओं के बीच समन्वय करने एवं सबको उचित स्थान देने को तत्पर है। जैनाचार्य स्वयं कहते हैं—

"न मे पक्षपातो वीरे, न द्वेषः कपिलादिसु।
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यं परिग्रहः॥"

अर्थात् न मेरा कोई महावीर से पक्षपात है और न ही कपिल आदि से कोई द्वेष है अपितु जिनके विचार ठीक होंगे वही स्वीकार है। सचमुच समन्वय के लिए सर्वप्रथम स्व-प्रकर्षता का त्याग करना पड़ता है जो यहां दृष्टिगोचर होता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जैनधर्म-दर्शन तत्त्व, ज्ञान, आचार आदि की दृष्टि से तार्किक एवं उपयोगी हैं।

11.8 जैन और ईसाई में तुलना

11.8.1 प्राचीनता की दृष्टि से

जैनधर्म को परम्परा एवं मान्यता से अत्यन्त प्राचीन माना जाता है। चौबीस तीर्थंकरों की लम्बी परम्परा में आदि तीर्थंकर के रूप में ऋषभदेव को जैनधर्म के प्रवर्तक के रूप में स्वीकार करना जैनधर्म की अत्यन्त प्राचीनता का आधार है। ऐतिहासिकता की दृष्टि से 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता से लें तो भी जैनदर्शन की लगभग 3000 वर्षों की ऐतिहासिकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी जैनदर्शन ईसाई दर्शन की अपेक्षा प्राचीन है क्योंकि ईसाई धर्म-दर्शन के प्रवर्तक ईसामसीह को 600 ई.पू. का माना जाता है। इसे मानने पर भी ईसाई दर्शन लगभग 2600 वर्ष पुराना ही है जिसे ऐतिहासिक आधार को मानते हुए भी जैनधर्म से 300 वर्ष बाद का और परम्परा के आधार पर मानने से तो प्राचीनता की दृष्टि से दोनों में कोई तुलना संभव ही नहीं है।

11.8.2 आधार ग्रन्थ की दृष्टि से

ईसाई धर्म-दर्शन का आधार ग्रन्थ बाइबिल है। यहां बाइबिल को पवित्र ग्रन्थ के रूप में माना जाता है। बाइबिल के भी दो भाग मिलते हैं, एक भाग ओल्ड टेस्टामेंट के रूप में जिसे यहूदी और ईसाई दोनों मानते हैं परन्तु न्यू टेस्टामेंट को केवल ईसाई ही मानते हैं। जैनधर्म दर्शन के आधारभूत ग्रन्थ के रूप में आगमों को स्वीकार किया गया है। भगवान् महावीर की वाणी के रूप में जैनधर्म के आगमों का अत्यन्त महत्त्व है। जैनागम अनेक हैं जबकि बाइबिल एक है। दोनों के ही आधार ग्रन्थ पवित्र एवं प्रामाणिक माने गये हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

11.8.3 जगत् कर्तृत्व ईश्वर की दृष्टि से

ईसाई दर्शन में ईश्वर को सर्वेसर्वा माना गया है। यहां कुछ भी अनादि और अनन्त नहीं माना गया है सिवाय ईश्वर के। ईश्वर ही शाश्वत एवं नित्य है जो जगत् से परे स्वर्ग में है और जगत् में भी व्याप्त है। जगत् का कर्त्ता भी वह ही है। जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण दोनों ही वह है। जगत् का निर्माण वह किसी आवश्यकता के लिए नहीं करता अपितु प्रेम की सार्थकता के लिए करता है। ईश्वर के बिना एक पत्ता भी जगत् में नहीं हिलता है। वह एक है और जगत् का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता सब कुछ है। याकूब मसीह ने 'A comparative study of Religion' में उल्लेख किया है कि "God is one and only God. He is the creator, substainer and the final judge of all things."

आगे यह भी कहा है कि ईश्वर मनुष्यों से दूर नहीं है। जो उसे खोजते हैं, उसमें समर्पण रखते हैं अर्थात् जो ईश्वरास्था रखते हैं, ईश्वर उनके निकट भी है। उद्धृत है—"God is found by men who seek him and the gate of heavens is opened if they knock at it."

किन्तु ईसाई दर्शन के विपरीत जैनदर्शन का जगत् सम्बन्धी विचार है। जैनदर्शन में जगत् को 'लोक' कहा गया है और 'षड् द्रव्यात्मको लोकः' कहकर यहां धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीव, पुद्गल एवं काल को ही जगत् (लोक) माना गया है। यह लोक अनादि और अनंत है क्योंकि ये लोक के तत्त्व भी अनादि और अनन्त हैं। चूंकि यहां जगत् नित्य और शाश्वत है। इसकी रचना नहीं हुई है अतः यहां किसी कर्त्ता की अपेक्षा भी नहीं है। इसीलिए यहां जगत् के कर्त्ता के रूप में ईश्वर को अस्वीकार किया गया है। ईश्वर यहां परमात्मा रूप है। द्रव्य संग्रह टीका (14/47/7) में कहा गया है—"केवलज्ञानादि गुणैश्वर्य युक्तस्य सतो देवेन्द्रादयोऽपि तत्पदाभिलाषिणः सन्तो यस्याज्ञां कुर्वन्ति स ईश्वराभिधानो भवति।" अर्थात् केवलज्ञानादि गुणरूप ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण जिसके पद की अभिलाषा करते हुए देवेन्द्र आदि भी जिसकी आज्ञा का पालन करते हैं, अतः वह परमात्मा ईश्वर होता है। ईश्वर कर्तृत्व रूप जगत् का आप्त परीक्षा में खण्डन करते हुए कहा गया है कि "तनुकरण भुवनादौ निमित्तकारणत्वा दीश्वरस्य। न चैतद् सिद्धम्।" प्रश्न हुआ कि क्या ईश्वर शरीर, इन्द्रिय व जगत् का निमित्त कारण है तो उत्तर दिया गया कि नहीं। अतः जैनदर्शन में ईसाई दर्शन की तरह न तो एकेश्वरवाद की मान्यता है और न ही जगत् कर्तृत्व ईश्वर की ही।

11.8.4 अशुभ की दृष्टि से

जैनदर्शन और ईसाई दर्शन दोनों में ही अशुभ को स्वीकार किया गया है। ईसाई दर्शन में अशुभ के संदर्भ में दो प्रकार के विचार मिलते हैं प्रथम तो यह है कि ईश्वर ने सर्वोत्तम सृष्टि का निर्माण कर इसे मानव केन्द्रित बना दिया। जगत् में अपने गुणों के वैशिष्ट्य के कारण मनुष्य प्रभावी हो गया और जब मनुष्य अपने प्रभाव का, अपनी क्षमता का और अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करने लगा तो अशुभ और बुराई आदि की उत्पत्ति हुई। इस प्रथम विचार के अनुसार ईश्वर ने अशुभ नहीं बनाया। अशुभ मानव की कमजोरी का परिणाम है। दूसरा यह है कि ईश्वर पूर्ण एवं सर्वशक्तिमान है। सब कुछ ईश्वर उद्भूत है। ईश्वर से परे कुछ है ही नहीं। अतः उस ईश्वर ने जगत् का निर्माण करते समय यह समझा कि यदि जगत् में विरोध, संघर्ष, अन्याय, अनीति, अन्धकार, अशुभ नहीं होंगे तो विकास अवरुद्ध हो जायेगा। अतः अशुभ को जगत् के विकास के कारण के रूप में स्वीकार किया है।

जहां तक जैनदर्शन का प्रश्न है जैनदर्शन ईसाई दर्शन के अशुभ से सम्बन्धित दोनों व्याख्याओं (विचारों) से सहमत नहीं है। ईश्वर से प्राप्त स्वतंत्रता का मानव ने दुरुपयोग किया इसलिए अशुभ आया और ईश्वर ने अशुभ को आवश्यकता समझकर उत्पन्न किया इन दोनों विचारों में ईश्वर सम्बन्धित अशुभ है अतः जैनदर्शन ईश्वर द्वारा सर्जित अशुभ को स्वीकार नहीं करता। जैनदर्शन के अनुसार अशुभ, अन्धकार, बुराई आदि कर्म व्यवस्था के परिणाम हैं। कर्मों के द्वारा आत्मा जितनी बंधती है, उसी के अनुसार अशुभ उपजता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है, बन्ध होता है। पूज्यपाद और अकलंक आदि आचार्यों ने कहा है कि कर्म-प्रदेशों और आत्म-प्रदेशों का परस्पर में दूध और पानी की तरह मिल जाना बन्ध है। तत्त्वार्थवार्तिक में भी कहा गया है कि जब आत्मा के प्रदेशों से पुद्गल द्रव्य के कर्मयोग्य परमाणु मिल जाते हैं तो आत्मा का अपना स्वरूप एवं शक्ति विकृत हो जाती है। अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करने में वह स्वतंत्र नहीं रहता। उसके ये बन्धयुक्त कार्य ही अशुभ को उत्पन्न करते हैं। यहां अशुभ न ही मानव के कारण है और न ही ईश्वर के कारण अपितु मानव के अपने द्वारा किये गये कर्मों के कारण है। अगर व्यक्ति बुरे कार्य करता है तो अशुभ स्वाभाविक है और यदि अच्छे कार्य करता है तो शुभ स्वाभाविक है। ईसाई दर्शन अशुभ का निवारण ईश्वर में श्रद्धा एवं समर्पण से माना गया है जबकि जैनदर्शन में अशुभ का निवारण स्वयं के पुरुषार्थ से संभव है।

11.8.5 मुक्तिमार्ग की दृष्टि से

ईसाई दर्शन के सन्दर्भ में मुक्तिमार्ग की व्याख्या करते हुए देखा गया था कि ईश्वर में समर्पण, ईसा के प्रति आस्था, अन्तःकरण शुद्धि ही मोक्षमार्ग है जबकि जैनदर्शन में किसी व्यक्ति के प्रति आस्था को अस्वीकार किया गया है। यहां भी समर्पण एवं आस्था को महत्त्व दिया गया है परन्तु यह आस्था एवं समर्पण अपनी आत्मा के प्रति होना चाहिए। यहां उपासक और उपास्य अलग-अलग नहीं है। समाधिशतक (31) में स्पष्ट कहा गया है—

"यः परमात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥"

अर्थात् जो परमात्मा है, वही मैं हूं तथा जो मैं हूं, वही परमात्मा है। इसलिए मैं ही मेरे द्वारा उपासना किया जाने योग्य है, दूसरा कोई उपास्य नहीं है। अतः जैनदर्शन में ईश्वरास्था नहीं आत्मास्था आवश्यक है। वैसे यहां श्रद्धा, आस्था या भक्ति ही को मोक्षमार्ग नहीं माना गया है। तत्त्वार्थसूत्र में स्पष्ट है 'सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र तीनों की समष्टि को यहां मोक्षमार्ग बतलाया गया है। आचार्यों का कथन है कि केवल मोक्ष के विषय में श्रद्धा रखने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि श्रद्धा तो मात्र रुचि की परिचायिका है। यदि श्रद्धा मात्र से मोक्ष की प्राप्ति मानी जाए तो भूख लगने पर उसके प्रति श्रद्धा मात्र से भोजन पक जाना चाहिए। चूंकि केवल श्रद्धा मात्र से ही भोजन नहीं पकता। अतः कोरी श्रद्धा मोक्ष का कारण नहीं है अपितु श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की समष्टि ही मोक्ष का कारण है, अन्यान्य कारण इन्हीं में ही समाहित है।

11.8.6 नीतिशास्त्र की दृष्टि से

नैतिकता की दृष्टि से दोनों ही दर्शनों में अनेक प्रकार की समानताएं हैं जो इस प्रकार हैं—

1. दोनों ही दर्शनों में क्षमा को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है। ईसामसीह ने शूली पर लटकते हुए ईश्वर से जो प्रार्थना की, 'हे ईश्वर पिता, तू इन्हें क्षमा कर क्योंकि अज्ञानवश वे यह सब काण्ड मेरे विरुद्ध रच रहे हैं (लूक 23:34) इससे यह स्पष्ट होता है कि ईसाई दर्शन में क्षमा पर बल दिया गया है। जैन इतिहास में भी महावीर पर जिन उपसर्गों का उल्लेख मिलता है उसमें चण्डकौशिक एवं संगमदेव का उपसर्ग प्रमुख है। चण्डकौशिक सर्प भगवान् महावीर को डस रहा था और उनके शान्त चेहरे से यह स्पष्ट हो रहा था कि 'यह अज्ञानी है और इसे पता नहीं कि यह क्या कर रहा है।' जैनदर्शन में तो 'क्षमावीरस्य भूषणं' की उक्ति प्रसिद्ध है। यहां पर्युषण पर्व के अन्त में 'क्षमापना दिवस' भी मनाया जाता है जिस दिन लोग वर्षभर की भूलों के लिए क्षमा मांगते हैं और एक-दूसरे को क्षमा प्रदान करते हैं। जैनदर्शन के दस धर्मों में क्षमा क्रोध के अभाव को कहा गया है।
2. क्षमा के साथ-साथ दोनों दर्शनों में प्रायश्चित का भी महत्त्व है। बाइबिल में दो डाकुओं की कथा का उल्लेख है। डाका डालकर और सफल होकर दोनों डाकू ईसामसीह के पास आते हैं। एक अपनी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सफलता पर गर्व करता है ओर दूसरा इसे अपनी भूल मानकर प्रायश्चित करता है और भविष्य में डाका न डालने का संकल्प करता है तो दूसरे के लिए ईसा ने कहा कि तू स्वर्ग में होगा। जैनदर्शन में भी दो भाइयों की कथा का उल्लेख मिलता है। एक भाई मंदिर में जाकर दु:खी होता है और सोचता है कि मेरा भाई कोठे पर कामसुख का मजा ले रहा होगा और दूसरा भाई कोठे पर जाकर प्रायश्चित्त करता है कि मैं कहां नरक में आ गया और मेरा भाई मंदिर में भगवान् की भक्ति में निमज्जित होकर अपने जीवन का निर्माण कर रहा होगा, मुझे भी वहीं चलना चाहिए। जैनदर्शन में इस प्रकार के प्रायश्चित्त को महत्त्व दिया गया है। यहां प्रतिक्रमण को महत्त्व दिया गया है जो प्रायश्चित्त ही है।

3. दोनों ही दर्शनों में 'क्रियमाणकृत' को स्वीकृति मिली है। ईसाई दर्शन में कहा गया है कि जो किसी स्त्री पर व्यभिचार के लिए कुदृष्टि डालता है तो व्यभिचार न करने पर व्यभिचारी ही कहा जायेगा। वैसे ही जैनदर्शन में भी स्पष्ट है कि मन में बुरे कार्य का भाव आना ही बुरे कार्य करने के बराबर है। अत: दोनों ही दर्शनों में बुरे कार्य करना ही नहीं बुरे भाव भी नहीं आने चाहिए।
4. दोनों ही दर्शनों में शत्रु के साथ मित्रवत् व्यवहार करने की बात कही गयी है। ईसा कहते हैं कि जो हमारा शत्रु है, दुश्मन है, वैरी है, विरोधी है, जो हमें सताता है, मारता है, गाली देता, जो हमसे घृणा करता है, हमारी निन्दा करता है, हमारे खिलाफ षड्यन्त्र रचता है, उससे प्रेम करना एवं उसके कसूर माफ कर देना चाहिए। उसके लिए हृदय को उदार बनाना पड़ेगा। चित्त को बहुत शान्त करना पड़ेगा। इसी प्रकार जैनदर्शन में भी 'मित्ति मे सव्वभूयेसु' अर्थात् प्राणी मात्र से मैत्री करो, की बात कहकर समस्त प्राणियों से मित्रता के व्यवहार को परम स्वीकृति मिली है। महावीर ने ईसा से भी गहरी एवं सूक्ष्म बात कही है, उनका कहना है कि किसी को शत्रु मानो ही मत, सबके साथ मित्रवत् व्यवहार करो।
5. दोनों ही दर्शनों में किसी को मारना ही नहीं अपितु कठोर वचन बोलने पर भी पाबन्दी लगायी गयी है। ईसा कहते हैं कि किसी को 'अरे मूर्ख' भी कहना नरक का अधिकारी होना है और स्वर्ग के राज्य को खोना है। जैनदर्शन में तो कठोर वचन को वाचिक हिंसा का कारण माना गया है। यहां यह कहा गया है कि यदि किसी के वचन से किसी को पीड़ा या आघात होता है तो बोलने वाला वाचिक हिंसा का अधिकारी होगा।
6. जैनदर्शन में अपरिग्रह को परमधर्म माना जाता है। 'अपरिग्रहो परमोधर्म:' कहकर जैनाचार्य आचार्य महाप्रज्ञ ने अपरिग्रह में सभी व्रतों को समाहित कर दिया है। उनके अनुसार मन, वचन, काय से यदि इस व्रत का पालन हो जाये तो सभी व्रतों का पालन स्वत: हो जायेगा। अपरिग्रह का मतलब केवल संग्रह का अभाव ही नहीं अपितु मूर्च्छा का अभाव भी है, ममत्व का भी अभाव है। ईसाई दर्शन भी धन संग्रह का निषेध करता है। यहां तो यह भी कहा गया है कि सूई के छिद्र से ऊंट निकल सकता है परन्तु धनवान स्वर्ग नहीं जा सकता अर्थात् धनवान नरकगामी ही होगा।
7. मूर्ति पूजा के संदर्भ में दोनों ही धर्मों में दो प्रकार की अवधारणाएं हैं। जैनधर्म की मंदिर मार्गी आदि परम्पराएं मूर्तिपूजा को स्वीकार करती है किन्तु स्थानकवासी एवं तेरापंथी परम्पराएं मूर्तिपूजा की सख्त विरोधी हैं उसी प्रकार ईसाई धर्म की कैथोलिक परम्परा मूर्तिपूजा को मानती है किन्तु प्रोटेस्टेण्ट परम्परा मूर्तिपूजा को अस्वीकार करती है।
8. जैनधर्म में संसार विरक्ति को उच्च साध्य के लिए आवश्यक माना गया है। यहां संसारासक्ति को उच्च साध्य मोक्ष के लिए बाधक माना गया है। ईसाई दर्शन में भी संसार विरक्ति को महत्त्व देते हुए स्वयं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ईसा ने कहा कि 'अपने माता-पिता को छोड़कर मेरे पीछे हो लें।' अतः संसार विरक्ति दोनों ही दर्शनों में महत्त्वपूर्ण है।

11.9 सारांश

उपर्युक्त समानताओं के परिदृश्य में यह कहा जा सकता है कि नैतिकता की दृष्टि से दोनों ही दर्शनों में अनेक समानताएं हैं। किन्तु आचार की दृष्टि से मुनियों के लिए श्रमणाचार एवं गृहस्थों के लिए श्रावकाचार का जो अलग-अलग विधान जैनदर्शन में है वह ईसाई दर्शन में देखने में नहीं आता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह कही जा सकती है कि जैसे जैन आचार का मूल अहिंसा और संयम है तथा समता भी आवश्यक है या यों कहें कि जैनदर्शन अहिंसा, संयम और समता पर बहुत बल देता है। 'समत्तदंसी ण करेइ पावं' अर्थात् समदर्शी कभी पाप नहीं कर सकता कहकर समता के वैशिष्ट्य को स्वीकार किया है वहीं ईसाई दर्शन में प्रेम, क्षमा एवं सेवा पर बल दिया गया है। मत्ती (22:34) में कहा गया है 'तू अपने ईश्वर को अपने सम्पूर्ण मन, हृदय तथा आत्मा से प्रेम कर और अपने पड़ोसी को अपने ही समान प्रेम कर।' अतः मानव प्रेम ईसाई आचार का सार है। इस तरह यह कहा जा सकता है कि दोनों ही दर्शनों में नैतिकता का अत्यन्त उपयोगी विवेचन है।

11.10 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैनदर्शन एवं ईसाई दर्शन के अनुसार ईश्वर, जगत् एवं नीतिशास्त्र के सन्दर्भ में तुलनात्मक विवेचना कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. ईसाई दर्शन के नीतिशास्त्र का विवेचन कीजिए।
2. ईसाई दर्शन के ईश्वर विचार का उल्लेख कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. ईसाई दर्शन का आधारभूत ग्रन्थ क्या है?
2. जैनदर्शन के आधारभूत मूल ग्रन्थों को किस संज्ञा से अभिहित किया गया है?
3. जैनधर्म की कौन-सी परम्परा मूर्तिपूजा को स्वीकार करती है?
4. ईसाई धर्म की कौन-सी परम्परा मूर्तिपूजा को स्वीकार करती है?
5. ईसाई दर्शन में मुख्य मुक्तिमार्ग किसे माना गया है?
6. जैनदर्शन में मोक्षमार्ग क्या है?
7. ईसाई दर्शन में कितने प्रकार का अशुभ माना गया है?
8. जैनाचार का प्राणतत्त्व क्या है?
9. ईसाई नीतिशास्त्र का प्राणतत्त्व क्या है?
10. ईसाई दर्शन में सृष्टि को अनादि माना गया है या उद्भूत?

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. बाइबिल	2. आगम ग्रन्थ
3. मंदिर मार्गी	4. कैथोलिक
5. ईश्वरास्था	6. सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र
7. पांच	8. अहिंसा
9. प्रेम	10. उद्भूत।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–12 जैनधर्म और इस्लाम धर्म
(ईश्वर, धार्मिक आधार, आचार–विचार)

संरचना

12.0 प्रस्तावना
12.1 उद्देश्य
12.2 इस्लाम धर्म
12.3 ईश्वर विचार
12.4 इस्लाम धार्मिक कर्त्तव्य
12.5 नैतिक विचार
12.6 जैन धर्म और इस्लाम धर्म की तुलना
12.7 सारांश
12.8 अभ्यास प्रश्नावली

12.0 प्रस्तावना

लगभग छठी शताब्दी ई. में उद्भूत धर्म इस्लाम धर्म को ऐतिहासिक धर्मों में नवीन धर्म माना जाता है। विश्व धर्मों में इस धर्म से नवीन भारत का सिक्खधर्म ही दृष्टिगोचर होता है, जिसके प्रवर्तक गुरुनानक थे। अरब प्रदेश में यह धर्म आज लगभग उन सभी देशों में फैल चुका है जहां मुसलमान रहते हैं। राबर्ट ई. ह्यूम ने 'The Worlds Living Religions' पुस्तक में इसके अनुयायियों की संख्या 40 करोड़ से अधिक आंकी है।

12.1 उद्देश्य

इस पाठ में हमारा उद्देश्य इस्लाम धर्म की प्रमुख अवधारणाओं का जैन धर्म की उन्हीं अवधारणाओं से तुलनात्मक विवेचन करना है।

12.2 इस्लाम का अर्थ

इस्लाम शब्द अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है—शरण लेना अर्थात् ईश्वर में अपने आपको समर्पित कर देना। इससे यह विदित होता है कि यह धर्म आत्मसमर्पण की शिक्षा देता है। समर्पण भी यहां तक कि 'राजी हैं हम उसी में, जिसमें तेरी रजा हो।' अर्थात् ईश्वर के प्रत्येक कर्तृत्व में समर्पण। याकूब मसीह ने 'A Comparative Study of Religions' में इस्लाम के इसी अर्थ को व्यक्त करते हुए कहा है—

"Islam means surrendering one's will to the will of God through out one's life. It means complete obedience to the laws of God as they have been revealed in Quoran. As such Islam includes faith, action and the realization of the devine end for man." अर्थात् इस्लाम से उस धर्म का अभिप्राय है जिसमें व्यक्ति अपने को ईश्वर की इच्छा पर अर्पित कर दे तथा ईश्वरीय आदेश जो कुरान में अभिव्यक्त है, वे मनुष्य के लिए पूर्ण आदेश बनें।

इस्लाम का एक दूसरा अर्थ शांति भी किया जाता है। 'अस्सलामो अलेकुम' अर्थात् आपको शांति मिले कथन इस अर्थ का प्रमाण है। अत: इस्लाम का अर्थ ईश्वर की शरण लेना या ईश्वर में समर्पित कर देना तथा शांति प्राप्त करना है। इस्लाम के ये अर्थ ही इस्लाम धर्म के परम लक्ष्य बनते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

12.2.1 इस्लाम धर्म के अभ्युदय की परिस्थिति

कहा जाता है कि इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मुहम्मद साहब के जन्म के समय अरब की स्थिति बहुत खराब थी। उस समय अनेक प्रकार की बुराइयां समाज में व्याप्त हो चुकी थी। नरबलि, व्यभिचार, मद्यपान आदि का अरब लोगों में अधिक प्रचार था। पिता की अनेक स्त्रियां पुत्रों में बांट दी जाती थी, जिन्हें वे अपनी स्त्री भी बना लेते थे। सोये हुए पर आक्रमण करना प्रशंसनीय समझा जाता था। जलती हुई अग्नि में जीवित मनुष्यों का डाल देना अनुचित नहीं समझा जाता था। कोमल शिशुओं को लक्ष्य बनाकर तीर चलाना और मृतक शत्रु के नाक-कान काट लेना सुकर्म समझा जाता था। इस प्रकार अरब लोगों के सामने नैतिक और आध्यात्मिक आदर्श विद्यमान नहीं थे। इस्लाम धर्म के अनुसार ऐसी ही विकट एवं विषम परिस्थिति में मुहम्मद साहब को अरब की बुराइयों को दूर करने के लिए खुदा (ईश्वर) की ओर से पैगम्बर अथवा देवदूत बनाकर धरती पर भेजा गया था। इस प्रकार ईसामसीह के संदेशों पर आधारित जैसे ईसाई दर्शन है उसी प्रकार मुहम्मद साहब के उपदेशों पर आधारित इस्लाम धर्म है। इस्लाम का इतिहास इस बात का साक्षी है कि धर्म किस प्रकार मानव के चरित्र को पूर्णत: प्रभावित करने में सफल हो सकता है।

12.2.2 इस्लाम के प्रवर्तक मुहम्मद साहब का जीवन-चरित्र

इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मुहम्मद साहब का इस धरती पर आगमन अरब के मुख्य नगर मक्का में 570 ई. में हुआ था। इनके पिता का नाम 'अब्दुल्ला' और माता का नाम 'आमना' था। मुहम्मद के जन्म के पूर्व ही इनके पिता का स्वर्गवास हो गया और छ: वर्ष की अवस्था में माता की भी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार वे बचपन से ही मातृ-स्नेह से वंचित हो गये। पिता-माता की मृत्यु के बाद इनका पालन-पोषण पितामह अब्दुल्मतल्लब ने किया किन्तु आठ वर्ष की अवस्था में वे भी संसार छोड़कर चले गये तो मुहम्मद की देखभाल की पूरी जिम्मेदारी उनके चाचा अबूतालिब के कन्धे पर आ गयी।

बचपन से ही मुहम्मद साहब की प्रतिभा विलक्षण थी। पढ़े-लिखे न होने के बावजूद भी जो कुछ भी देखते-सुनते उसे वैसा स्मरण रखते थे। चूंकि बचपन में ही प्रियजनों का साया उनके ऊपर से उठ गया था इसलिए बचपन से वे संवेदनशील हो गये थे। उनके मन में अभावग्रस्त एवं दु:खी लोगों के लिए विशेष स्थान था। सात्विक प्रवृत्ति, कर्त्तव्यनिष्ठा एवं ईमानदारी की पूंजी भी उनके पास प्रारम्भ से ही थी। चाचा अबूतालिब के प्रयास से कुरैस वंश की एक धनी विधवा खदीजा के फैले हुए व्यापार में वे लग गये। जब वे 25 वर्ष के थे तो एक बार व्यापार के एक विशेष कार्य से इन्हें सीरिया भेजा गया। इस कार्य को उन्होंने अत्यन्त कुशलता के साथ सम्पन्न किया जिसका खदीजा पर इतना प्रभाव पड़ा कि उसने मुहम्मद साहब से शादी करने का प्रस्ताव रखा। 40 वर्ष की खदीजा के सद्गुणों से प्रभावित होकर 25 वर्षीय मुहम्मद साहब ने उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। उनका वैवाहिक जीवन अत्यन्त सफल रहा। खदीजा से विवाह के बन्धन में बंध जाने के बाद इनका नाम मक्का के बड़े-बड़े रइसों में लिया जाने लगा।

12.2.3 ईश्वरीय संदेश का अनुभव

मुहम्मद साहब प्रारम्भ से ही एकान्तप्रिय थे। 'The World's Living Religions' में J. Bahm ने लिखा है—"After marriage to a rich widow, he found time to pursue his thoughts in earnest, in a cave on Mount 'Hera' outside the city of Mecca. Here the archangel Gabriel, a messenger from God, appeared to him to recite." डॉ. हरेन्द्र प्रसाद जिन्होंने 'धर्म-दर्शन की रूपरेखा' में लिखा है—"मुहम्मद साहब गम्भीर एवं चिन्तनशील व्यक्ति थे। वे बहुधा धर्म और दर्शन की समस्याओं के प्रति जागरूक रहने में अपना समय व्यतीत किया करते थे। वे अक्सर 'हीरा' की गुफा में एकान्तवास और ईश्वर-आराधना में निमग्न पाये जाते थे। चालीस वर्ष की आयु में हीरा की गुफा में मुहम्मद ने ईश्वरीय संदेश का अनुभव किया। 'Recite thou, in the name of the Lord who created.' यही ईश्वरीय आदेश था। यह आदेश देवदूत 'जिब्राइल' द्वारा हजरत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मुहम्मद के हृदय में उतारा गया। जब उन्होंने इस अनुभव को खदीजा को सुनाया तो उन्होंने उस व्यक्ति को देवदूत कहा जो यह वाक्य लेकर मुहम्मद साहब के पास आया था। मुहम्मद साहब की पैगम्बरी यहीं से आरम्भ हो जाती है। सर्वप्रथम खदीजा और अली ओमर अबूबकर ने इस नये धर्म को कबूल किया। ईश्वर के दिव्य आदेशों को पाकर उन्होंने जनता को कुरान का उपदेश सुनाना आरम्भ किया। उन्होंने मक्का के पुजारियों एवं दूर से आये हुए तीर्थयात्रियों के समूह को अनेक देवताओं की उपासना का खण्डन करने का आदेश दिया तथा एकेश्वर (अल्लाह) की उपासना का उपदेश देना प्रारम्भ किया।"

चूंकि अरब में उस समय अनेक देवताओं की आराधना का प्रचलन था। मूर्तिपूजा पर विशेष जोर था। अत: मुहम्मद साहब का ऐकेश्वरवाद और मूर्तिपूजा का खण्डन अरब की जनता को मान्य नहीं था। कुरैसी लोग मुहम्मद साहब द्वारा प्रवर्तित धर्म को अपने परम्परागत धर्म पर चोट समझकर विरोध करने लगे। मुहम्मद साहब को अपमानित करने एवं उनका प्राणान्त करने के अनेक असफल प्रयास किये गये। उनके अनुयायियों एवं समर्थकों पर कोड़े लगवाये गये, तेज धूप में तप्त बालू पर उन्हें लिटाया गया और तरह-तरह की यातनाएं दी जाने लगी। चाचा अबूतालिब और पत्नी खदीजा की मृत्यु के बाद तो विरोधियों का उत्साह और बढ़ गया। 53 वर्ष की अवस्था में मुहम्मद साहब को जान से मार डालने के उद्देश्य से एक बार उनके विरोधियों ने उनके घर को घेर लिया। वहां से वे किसी प्रकार बचकर मदीना चले गये। जब वे मदीना पहुंचे तब वहां की जनता ने उनसे यह जानना चाहा कि वे किस प्रकार की शिक्षा उन्हें देने आये हैं। इस प्रश्न के उत्तर में मुहम्मद साहब ने उनसे कहा—"मैं आप लोगों को ईश्वर में आस्था रखने की शिक्षा देना चाहता हूं तथा ईश्वरीय संदेशों के प्रति जागरूक करना चाहता हूं। मैं इस बात का विश्वास दिलाना चाहता हूं कि प्रत्येक पैगम्बर ईश्वर के सही संदेशों का वाहक होता है। मैं यह नहीं चाहता कि आप हमें ईश्वर समझें। मैं चाहता हूं कि आप दरिद्र और निर्बल के प्रति प्रेम और दया का भाव व्यक्त करें। मैं चाहता हूं कि आप विचार और चरित्र को पवित्र रखें।"

मुहम्मद साहब के इस पवित्र विचार से मदीना के लोग काफी प्रभावित हुए और अनेक उनके अनुयायी भी बन गये किन्तु कुरैशी जाति के लोगों का घोर विरोध उन्हें यहां भी सहना पड़ा। जब भयंकर विरोध हुआ तो मुहम्मद साहब ने मदीना में एक सेना का गठन किया और इस शक्तिशाली सेना के द्वारा उन्होंने मदीना के अपने विरोधियों पर विजय प्राप्त की और कालान्तर में मक्का के विरोधियों से भी उनका घनघोर युद्ध हुआ। मक्का विजय से इस्लाम धर्म अरब में फैल गया। इस प्रकार अपने उद्देश्यों को सम्पन्न कर 63 वर्ष की अवस्था में मुहम्मद साहब इस दुनिया से चले गये।

12.2.4 इस्लाम का पवित्र ग्रन्थ 'कुरान'

इस्लाम धर्म का आधारभूत पवित्र ग्रन्थ कुरान है। यह पवित्र पुस्तक 'ईश्वरीय आदेश' से संपृक्त है। कुरान में मूलत: ईश्वरीय वचन ही संग्रहीत है जिसे मुहम्मद साहब ने भिन्न-भिन्न समयों में देवदूतों के संदेश से प्राप्त किया। इसीलिए इसे ईश्वरीय वचन (Speech of God) कहा गया है। कहा जाता है कि मुहम्मद साहब के भीतर सम्पूर्ण कुरान एक साथ नहीं उतरा अपितु चालीस वर्ष की आयु से लेकर 63 वर्ष की आयु तक तेइस वर्षों में क्रम से उतरा। डॉ. रामनाथ शर्मा ने अपनी पुस्तक 'Philosophy of Religion' में इस तथ्य को इस रूप में प्रस्तुत किया है—"The Quoran was read out of Mohammad by Gabril at the direction of Allah, and it was left to Mohammad to give it the form it has a present. All that Mohammad pronounced in a state of trance or meditation was written on pieces of leather or bark of trees, a proces that continued for 23 years." अर्थात् 23 वर्षों में कुरान के वाक्य मुहम्मद साहब में उतरे।

कुरान के वाक्य चूंकि ईश्वरीय आदेश हैं, वे भले ही मुहम्मद साहब में उतरे परन्तु मुहम्मद साहब को कुरान का रचयिता नहीं कहा जाता। मुहम्मद साहब की मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी प्रथम खलीफा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अबूबकर ने ईश्वरीय आदेश को इकट्ठाकर 114 अध्यायों में कुरान को संगृहीत किया। 90 अध्याय मक्का में और 24 अध्याय मदीना में संकलित हुए। 114 अध्यायों को यहां सूरा कहा गया है और प्रत्येक सूरे में आयतों की संख्या निश्चित है।

12.2.5 इस्लाम के सम्प्रदाय

चूंकि मुहम्मद साहब के कोई जीवित पुत्र न था और उन्होंने अपने जीवनकाल में किसी को उत्तराधिकारी घोषित नहीं किया था अतः उत्तराधिकार के लिए संघर्ष होना स्वाभाविक था। मुहम्मद साहब के अनुयायियों ने 'अबूबकर' को ही उनका उत्तराधिकारी प्रथम खलीफा घोषित किया। अबूबकर के बाद 'उमर' को खलीफा घोषित किया गया। छठे खलीफा के समय उत्तराधिकार का प्रश्न अत्यन्त जटिल हो गया। अनेक मुसलमानों ने खलीफा के विरुद्ध मुहम्मद के नाती (लड़की के पुत्र) इमाम हुसैन को खलीफा घोषित किया। खलीफा ने इमाम हुसैन को राजधानी बुलवाया। परन्तु मार्ग में बगदाद के निकट 'कर्बला' नामक स्थान पर छल से इमाम हुसैन की हत्या कर दी गयी। उसी समय से उनके बलिदान की यादगार के रूप में शिया मुहर्रम मनाते हैं। यहीं से शिया और सुन्नी का रूप सामने आता है। इमाम हुसैन के अनुयायी 'शिया' कहलाये और खलीफा के अनुयायी 'सुन्नी'। दोनों सम्प्रदाय के लोग कुरान और मुहम्मद साहब को मानते हैं जिसमें सुन्नी को कट्टरपंथी कहा जाता है जो समय के परिवर्तन के साथ धार्मिक विचारों में कोई बदलाव नहीं चाहते जबकि शिया समयानुसार बदलाव स्वीकार करते हैं। J. Bahm ने सुन्नी और शिया के संदर्भ में अन्तर व्यक्त करते हुए 'The World's Living Religions' में कहा है "The sunnites, so named because they accept as authoritative the Sunna or traditions embodied in the Hadith, are regarded as the more orthodox or conservative branch and have the largest numbers of followers. They consider their leaders as mere men who devote themselves perhaps more than others to doing good deeds. The shiites, who claim to be the true legitimists, believed their leaders, or imams, to be divinely inspired, thereby embodying both the authority and wisdom needed to deal with new issues as they arise. Shiites have proved more adaptable and pliable in the face of changing circumstances; hence they commonly act in ways that introduce new precedents."

12.3 इस्लाम में ईश्वर विचार

इस्लाम धर्म का केन्द्र बिन्दु ईश्वर विचार है क्योंकि इस्लाम का अर्थ होता है "ईश्वर के प्रति आत्म समर्पण।" मुहम्मद साहब ने एक ईश्वर को स्वीकार किया। उनके अनुसार अल्लाह (ईश्वर) के अतिरिक्त दूसरा कोई ईश्वर नहीं है। वही स्वर्ग और पृथ्वी का रचयिता है। वह शाश्वत, असीम ईश्वर है। इसी ईश्वर की सत्यता पर कुरान में बल दिया गया है। कुरान का यह वाक्य 'ईश्वर सत्य है' इस कथन की पुष्टि करता है। ए. आर. महापात्र ने अपनी पुस्तक 'Philosophy of Religion' में उपर्युक्त कथ्य का चित्रण इस प्रकार किया है—

"Islam means surrender of the soul to God. Mohammed preached the unity and majesty of one God (Allah). There is no other God but the Lord Allah. He is the creator of heaven and earth. He is the absolute, eternal, infinite God."

कुरान में ईश्वर के एकत्व एवं सर्वशक्तित्व के संदर्भ में न जाने कितनी आयतें भरी पड़ी हैं, जो ईश्वर के विभिन्न स्वरूपों को अभिव्यक्त करती हैं। इनमें कुछ इस प्रकार हैं—"ईश्वर तेरी स्तुति हो, जो सभी वस्तुओं का रचयिता और पालक है, जो ऐश्वर्यपूर्ण सिंहासन का स्वामी है, जो अपने सच्चे बन्दों को सही मार्ग पर चलाता है, जिसने अपने रसूल को चुना। उसको आशीष और शान्ति दी।"

"वह ईश्वर एक है और अकेला है और उसका कोई साथी नहीं, कोई उसके बराबर नहीं और जो अनन्त है। उसका न कोई आदि है। वह शाश्वत और नित्य है।"

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

"जो अशरीरी है और जिसे न किसी द्रव्य और न किसी गुणों के द्वारा सीमित किया जा सकता है।"

"ईश्वर सभी सत्ताओं से ऊपर और अतीत है। वह सभी घटनाओं का द्रष्टा है और प्रत्येक जीव के उसके सभी अंगों की अपेक्षा निकटतम है। वह सभी सृष्ट जीवों से भिन्न और परे है तो भी परलोक में वह अपने सभी विश्वासियों को निस्सन्देह दिखाई देगा।"

"ईश्वर सर्वशक्तिमान है और वह सदा जागता रहता है। अपनी इच्छा के अनुसार उसी ने मानव की रचना की, उसका वह निर्वाह करता है और आयु प्रदान करता है।"

" 'अल्लाह' उसके सिवाय कोई 'इलाह' (पूज्य) नहीं। वह सजीव और चिरस्थायी है। उसे न ऊंघ लगती है और न नींद आती है। जो कुछ आकाशों में है और जो कुछ धरती में है, सब उसी का है। कौन है जो उसके सामने बिना उसकी अनुज्ञा के सिफारिश कर सके? वह जानता है जो कुछ उन (लोगों) के आगे है और जो कुछ उनके पीछे है और वे उसके मान में से किसी चीज पर हावी नहीं हो सकते। सिवाय उसके जितना वह चाहे। उसका प्रभुत्व आकाश और धरती पर छाया हुआ है और उनकी रक्षा उसके लिए तनिक भी दुष्कर नहीं और वह उच्च और महान है।"

"अल्लाह उन लोगों का संरक्षक मित्र है जो 'ईमान' लाये। वह उन्हें अंधेरे से निकालकर प्रकाश की ओर लाता है और जिन लोगों ने कुफ्र किया, उनके संरक्षक मित्र 'तागूत' हैं। वे उन्हें प्रकाश से निकालकर अंधेरों की ओर ले जाते हैं।"

कुरान में ईश्वर सम्बन्धी आयतों के अनुरूप डॉ. अब्दुल हक अंसारी ने ईश्वर के वैशिष्ट्य को उजागर करते हुए कहा है कि 'अल्लाह' का अर्थ पूजा, प्रेम, समर्पण और आज्ञा-पालन है। वह सारे विश्व पर राज्य करता है, प्रार्थना का उत्तर देता है, बुराइयों से बचाता है, जरूरतें पूरी करता है। अल्लाह ने ही जन्नत और जहान को बनाया। वह अकेला, स्वाश्रित, स्वयंभू है। इस्लाम के अनुसार स्रष्टा और सृष्टि में अंतर है। कोई भी निर्मित वस्तु निर्माता का स्थान नहीं ले सकती। जो कुछ यहां निर्मित है, वह उसी एक अल्लाह पर अवलम्बित है। सबका अस्तित्व उसी के कारण है, चाहे स्थावर हो या जंगम। उस एक निर्माता के अलावा और कोई निर्माता नहीं है। वही सबका बनाने वाला और वही सबका नियंता है।

कुरान के अनुसार, "ईश्वर के अनेक नाम हैं जिसमें अल्-वदूद (प्रेम करने वाला), अल्-रदूफ (दयालु), अल्-तव्वाब (कृपालु), अल्-हादी (मार्गदर्शक), अल्-मोमिन (संरक्षक), अल्-मुहैमिन (आश्रयदाता), अल्-सलाम (शांतिदाता) आदि नाम प्रसिद्ध हैं। ईश्वर अल्-रहमान और अल्-रहीम दोनों है। वह पुण्यात्माओं और भक्तों को इनाम देता है, पापियों को दंडित करता है। कुरान में ईश्वर को अल्-कबीर (महान्), अल्-जलील (परम कांतिमान), अल्-मजीद (ऐश्वर्य युक्त), अल्-जब्बार (पहुंच से परे), अल्-अली (उदात्त), अल्-कुदूस (परम-पवित्र), अल्-अजीम (दिव्य) भी कहा गया है।"

इस्लाम के अनुसार ईश्वर मनुष्य या अन्य किसी वस्तु, जड़ या जीवित के रूप में व्यक्त नहीं होता। यहां ईश्वर को कोई सीमाबद्ध अवतार नहीं माना गया है। जो स्रष्टा है वह कभी सृष्टि नहीं बन सकता। ईश्वर का साक्षात्कार उसकी वाणी के रूप में, उसके शब्दों के रूप में मनुष्य को मिलता रहता है। या तो देवदूतों के द्वारा या दैवी ध्वनि से या सीधे मनुष्य के हृदय पर अंकित होता है। कुरान में साफ लिखा गया है कि कोई व्यक्ति ईश्वर की आवाज सीधे नहीं सुन सकता। वह तो अपने चुने हुए प्रेषित या पैगम्बर के मारफत ही अपनी बात आदमी तक पहुंचाता है। मुहम्मद के अनुसार अल्लाह एक है। यहां ईसाइयों के 'त्रितत्त्व' (ईश्वर, ईश्वर-पुत्र और पवित्रात्मा) में विश्वास नहीं किया गया है। ईश्वर के अतिरिक्त दूसरा कोई तत्त्व नहीं है।

कुरान में ईश्वर के सात गुणों की चर्चा है जो इस प्रकार है—

1. हयात (जीवन) 2. इल्म (ज्ञान) 3. कद्र (शक्ति)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. इरादा (इच्छा) 5. सम (श्रुति) 6. बशर (दृष्टि)
7. कलाम (वाणी)

जीवन

ईश्वर में कोई विरोधी तत्त्व हो नहीं सकता। 'जीवन' उसका लक्षण है तो मृत्यु उसमें हो ही नहीं सकती। इसीलिए उसमें शाश्वत जीवन माना गया है। उसका जीवन किसी शरीर में या स्थान में रहने वाला केवल एक संयोग या चमत्कार नहीं है।

ज्ञान

ईश्वर वर्तमान, भूत और भविष्यत् का ज्ञाता है। कुरान में कहा गया है "वह अल्लाह है, वह जिसके सिवाय कोई 'इलाह' नहीं, परोक्ष और प्रत्यक्ष का ज्ञाता है। वह अत्यन्त कृपाशील (रहमान) और दयावान है (59:22)। अखिल ब्रह्माण्ड में स्वर्ग से पाताल तक सब कुछ वह जानता है। वह सबके हृदय की बात भी जानता है। उसके लिए कोई भी बात गुह्य या अगम्य नहीं है।"

शक्ति

ईश्वर सर्वशक्तिमान है। वह मृतकों को जीवित कर सकता है। वह हर असम्भव को संभव करने का सामर्थ्य रखता है। उसके सामर्थ्य से परे कुछ भी नहीं है। कुरान में स्पष्ट उल्लेख है, "जिस दिन कि अल्लाह उन सबको (मृत्यु के पश्चात्) उठ खड़ा करेगा फिर जो कुछ उन्होंने किया है उससे उन्हें सूचित कर देगा। अल्लाह ने उसे गिन रखा है और अल्लाह की निगाह में हर चीज है (58:6)।"

इच्छा

ईश्वर की इच्छा या संकल्प शक्ति चिरन्तन है, बलीयसी है। ईश्वर अपनी मर्जी से सब कुछ करता है। ईश्वर जिसे चाहे गुमराह करे और जिसे चाहे रास्ता बताये। वह अपनी किसी कमी को पूरी करने के लिए इच्छा नहीं करता है क्योंकि उसमें कोई कमी नहीं है। वह पूर्ण है, इसीलिए उसकी इच्छा बलीयसी है।

श्रुति

ईश्वर के कान नहीं है फिर भी सब ध्वनियां सुन सकता है क्योंकि उसके गुण आदमियों की तरह नहीं है। वह सचमुच में सब कुछ सुनता है और सब कुछ जानता है। ऐसी कोई सूक्ष्मतम ध्वनि नहीं है जो उसके परिज्ञान से परे हो।

दृष्टि

ईश्वर सर्व द्रष्टा है, वह त्रिकालदर्शी है। यद्यपि मनुष्य की तरह उसके आंख नहीं है फिर भी स्थूल से स्थूल एवं सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुओं को वह देखता है। कोई भी दृष्टि उसे देख नहीं सकती, पर वह सब दृष्टियों को जानता है।

वाक्

ईश्वर के पास मनुष्य की मुंह या जुबान नहीं है फिर भी वह बोलता है। 'कलाम' ईश्वर की पवित्र वाणी है। उसकी कई शैलियां हैं—आज्ञा, निषेध, आश्वासन, धमकी। कुछ सेवकों से वह सीधे बात करता है, जैसे मूसा से वह पर्वत पर बोला था तथा मुहम्मद साहब से स्वर्गारोहण की रात्रि को। अन्यों से वह जिब्राइल के माध्यम से बोलता है। इस तरह वह पैगम्बरों से बोलता है। कुरान ईश्वर की वाणी (कलाम) है, इसलिए वह शाश्वत है।

जे. पी. सूद ने 'Religion in India' में ईश्वर के इन्हीं गुणों का उल्लेख करते हुए कहा है कि "Allah is the source of life (Haiyat), Knowledge (Ilm), Power (Qudrat), Will (Iradah), Hearing (Samma), Seeing (Basar) and Speaking (Kalam). As life, He is the source of everything living in the

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

world and eternal. As knowledge, He is omniscient or knower of everything, as power. He is the creator of everything in the world, including heaven and earth, as will. He determines everything takes place in the world; as samma, he hears everything without having eyes. As Kalam, He speaks though he has no tongue. He has several offer attributes also (p. 336)."

इमाम गजाली ने ईश्वर के स्वरूप को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"हमने देखा कि जो भी वस्तुएं हैं, उन्हें चाहने वाला वही है। वही वस्तुएं जैसे घटित होती है, उन्हें वैसे संचालित करने वाला है। इस दुनिया में कुछ भी दृश्य या अदृश्य, छोटा या बड़ा, कम या अधिक, अच्छा या बुरा, लाभ या हानि, विश्वास या अविश्वास, ज्ञान या अज्ञान, सफलता या असफलता, वृद्धि या संकोच, आज्ञापालन या अवज्ञा का विषय है, वह उसकी इच्छा के बिना नहीं। अल्लाह की मर्जी से ही सब कुछ है अन्यथा नहीं है। देखने वाले की एक भी नजर या सोचने वाले की एक भी गलती उसकी मर्जी के बगैर नहीं है। वही सबका सहायक और वही सर्वकरुणावान है। सारी कायनात, सब इन्सान, जिन्न, देवदूत और शैतान मिलकर एक दाना भी हटाना चाहें या उसकी मर्जी के खिलाफ फिर बैठाना चाहें, तो वे इस काम में अपने आपको कमजोर पायेंगे।"

12.3.1 ईश्वर, विश्व और मानव

ईश्वर विश्व का स्रष्टा है और विश्व ईश्वर की सृष्टि। ईश्वर विश्व को अपनी इच्छा के अनुरूप जैसा चाहा वैसा बनाया। चूंकि ईश्वर की सृष्टि विश्व है अत: ईश्वर के अच्छे होने से सृष्टि भी अच्छी है। कहा गया है—"Allah is the creator, maintainer and dissolver of the world. He is omnipotent, omniscient, absolute. He is eternal and yet dynamic. He is unchangeable and yet compassionate and merciful. Being the cause of causes, he is immanent as well as transcendent."

ईसाई दर्शन की तरह इस्लाम में ईश्वर को पिता और मानव को पुत्र नहीं माना गया है। यहां ईश्वर और मानव में पिता और पुत्र का सम्बन्ध नहीं है। यहां मानव ईश्वर का दास है तथा ईश्वर मानव का अभिभावक है। दास और स्वामी के बीच जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध मानव और ईश्वर के बीच है। ईश्वर मानव के प्रति प्रेम और करुणा का भाव रखता है। उसका मानव के प्रति प्रेम मातृत्व-प्रेम से बढ़कर है। मानव ईश्वर को प्रेम और आत्मसमर्पण के द्वारा अपना सकता है। मानव को ईश्वर प्राप्ति के लिए अपने व्यक्तित्व का त्याग करना अनिवार्य है तथा उसे ईश्वर के सम्मुख अपने को तुच्छ समझना नितान्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त मानव 'नमाज' अर्थात् प्रार्थना के माध्यम से ईश्वर तक पहुंच सकता है। इस प्रकार आत्मसमर्पण और नमाज ईश्वर प्राप्ति के दो साधन कहे जा सकते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस्लाम में ईश्वर सर्वशक्तिमान है और बिना उसकी अनुमति के कोई पत्ता तक नहीं हिल सकता। ईश्वर सम्बन्धी अन्य निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

1. ईश्वर एक है और मुहम्मद साहब उसके पैगम्बर हैं। (There is but one God and Mohammed his Prophet.)
2. ईश्वर जगत् का कर्त्ता और स्वर्ग-नरक का रचयिता है।
3. ईश्वर ने असत् से सत् (जगत्) की उत्पत्ति की अर्थात् उसने शून्य से जगत् का निर्माण किया। जगत् के निर्माण के लिए उसे किसी अन्य उपादान कारण की जरूरत नहीं हुई क्योंकि वह सर्वशक्तिमान है।
4. ईश्वर संसार का कर्त्ता ही नहीं, पालनकर्त्ता और संहारक भी है।
5. ईश्वर न्यायी है। कयामत के दिन (Day of judgement) सबके कर्मों के अनुसार फल प्रदान करता है। इस्लाम की मान्यता है कि न्याय दिवस के दिन ईश्वर के सिंहासन के सामने सभी लोगों का न्याय होता है। ईमानदारों को स्वर्ग मिलता है जहां उनकी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और जिनके बुरे कार्य होते हैं तथा जो अल्लाह और उसके पैगम्बर पर विश्वास नहीं करता, उन्हें नरक की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यातनाएं मिलती हैं। इस्लाम में मरने के बाद कब्र में दफनाया जाता है। जहां मृत्यु का फरिश्ता मीकाईल आत्मा को शरीर से अलग कर बरजख में रखता है और कयामत के दिन उसका निर्णय होता है।

6. वह दयालु है, अनुरागी है उनके लिए जो दूसरों का उपकार करते हैं, नैतिककर्म करते हैं। कथ्य भी हैं—"He is the gracious, the merciful. He is the sovereign, holy one, the source of peace, the bestower of security, the protector, the mighty, the subduer the exalted. He is Allah, the creator, the maker, the fashioner and having, so many attributes."

12.4 इस्लाम के धार्मिक कर्त्तव्य (Religions Duties of Islam)

इस्लाम केवल सिद्धान्तों पर बल नहीं देता अपितु कुछ करणीय आवश्यक कार्यों को करने पर बल देता है। यहां स्पष्ट मान्यता है कि कोई केवल कुरान के कोरे ज्ञान प्राप्त करने से अपने को मुसलमान नहीं कह सकता, पर जो अपने मन और हृदय से इस्लाम में ईमान रखे, वचनों के द्वारा उसको अंगीकार करे और इस्लाम में बताए गये कर्मों का अनुसरण करे, वही वास्तव में सच्चा मुसलमान होगा, इसीलिए इस्लाम में धार्मिक कर्त्तव्य को बहुत महत्त्व दिया गया है। ये धार्मिक कर्त्तव्य मूलतः पांच हैं, जो धर्म के आधार हैं। इसीलिए इन पांच धार्मिक कर्त्तव्यों को इस्लाम के पांच आधार (Five Pillars of Islam) कहा गया है। आर्थर एन्टोनी मैक्डोनल ने अपनी पुस्तक 'Comparative Religion' में इसे इन शब्दों में व्यक्त किया है—"Man's relations with Allah have five aspects in Islam: the recital of the creed; the observance of the five daily prayers; the fast of the month Ramadan; the giving of the legal alms; and the pilgrimage of Mecca. The creed of Islam is, as you probably all know, the expression of the belief that: there is no God but Allah, Mohammad is the Apostle of Allah."

अर्थात् इस्लाम के पांच आधार इस प्रकार हैं—

1. मत का उच्चारण (Recitation of creed)
2. नमाज (Prayer)
3. जकात (Alms giving)
4. रमजान के महीने में उपवास (Fasting during Ramaden)
5. हज करना (Pilgrimage to Mecca)

12.4.1 मत का उच्चारण

प्रत्येक धर्म की अपनी कुछ मूल प्रतिज्ञाएं होती हैं जिसका नियमित उच्चारण उस धर्म के अनुयायियों के लिए आवश्यक होता है। इस्लाम की मूल प्रतिशा एक ही वाक्य में अभिव्यक्त है "ला इलाह इल्लल्लाह मुहम्मदन् रसूलल्लाही" अर्थात् अल्लाह के सिवाय कोई दूसरा ईश्वर नहीं है और मुहम्मद साहब इसके दूत हैं। प्रत्येक मुसलमान को कम से कम दिन में एक बार शुद्ध मन से इस वाक्य का उच्चारण अवश्य करना चाहिए। इस वाक्य का दिन में एक बार उच्चारण आवश्यक है किन्तु अधिक बार करने को अच्छा माना गया है। शुद्ध मन से और शुद्ध उच्चारण के साथ इस वाक्य का कथन होना चाहिए जो ईश्वर और उसके देवदूत के प्रति आस्था व्यक्त करता है।

12.4.2 नमाज

प्रत्येक मुसलमान के लिए नमाज पढ़ना नित्यकर्म माना गया है, ऐसा न करने से वह पाप का भागी होता है। इस्लाम में साधारण स्थिति में पांच बार नमाज पढ़ने का प्रचलन है। विशेष स्थिति में इसे कम किया जा सकता है। सूर्योदय के पूर्व उषाकाल में, दोपहर में, दोपहर के बाद, सूर्य के डूबने के बाद तथा रात्रि में सोने के पहले, इस प्रकार पांच बार नमाज पढ़ना चाहिए। नजाम पढ़ने के पूर्व शरीर को शुद्ध कर लेना चाहिए, इसे इस्लाम में 'बजू' क्रिया कहा गया है। बजू का क्रम निम्न है—

1. दोनों कलाई धोना
2. जल से मुख धोना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. पानी से नाक का भीतरी भाग धोना 4. चेहरा धोना

5. हाथ को कोहनी तक धोना।

यदि जल उपलब्ध न हो और बीमार के लिए पानी के उपयोग की मनाही हो तो सूखी मिट्टी हाथ में लगाकर सिर तथा मुख में लगाना चाहिए, इसे 'तयम्मुख' की क्रिया कहते हैं। यदि कोई व्यक्ति नशे में हो या अशुद्ध हो तो, उसे नमाज में भाग नहीं लेना चाहिए। अकेले पढ़ी जाने वाली नमाज को 'फर्द' तथा सामूहिक नमाज को 'सुन्नत' कहते हैं। नमाज मस्जिद या बाहर कहीं भी पढ़ा जा सकता है। शुक्रवार के दिन आस-पास के मस्जिद में इकट्ठे होकर मुसलमान प्रायः सामूहिक नमाज पढ़ते हैं। इस प्रकार की नमाज से व्यक्ति में संगठन का भाव वृद्धिंगत होता है। नमाज में कुरान की विभिन्न आयतों से अल्लाह की प्रार्थना की जाती है।

नमाज के महत्त्व के बारे में कहा गया है कि जो व्यक्ति पांचों समय नमाज पढ़ेगा, उसे ईश्वर जन्नत (स्वर्ग) देगा। नमाज से पाप दूर होते हैं। डॉ. इकबाल ने लिखा है कि नमाज के द्वारा मानव का संकीर्ण जीवन अपरिमित ईश्वर के सम्पर्क में आकर नयी बोधि प्राप्त करता है। जिससे उसकी संकीर्णता दूर होती है और उसको अपनी गहरायी का अनुभव होता है। सामूहिक नमाज से सामूहिक चेतना का विकास भी होता है। नमाज के महत्त्व के संदर्भ में डॉ. इकबाल के इस कथन का उल्लेख याकूब मसीह ने "A Comparative Study of Religions" में इस प्रकार किया है—"According to Dr. Iqbal, through prayer's a worshipper enters into a wider and higher dimension of life by leaving aside the narrower concern of this mundane world. He enters into the higher existence of spiritual life by shunning the life of material pursuits. This is fact of life that by participating in group mind in a congregation, the mental and spiritual powers of each participant are hightened. So the creative powers of the worshipper get additional impetus in the pursuit of a virtuous life. "

अतः आध्यात्मिक विकास और सामाजिक चेतना के विकास के लिए वैयक्तिक एवं सामूहिक नमाज का महत्त्व है।

12.4.3 जकात (खैरात)

इस्लाम में जकात देना उतना ही आवश्यक माना गया है जितना की नमाज पढ़ना। प्रत्येक मुसलमान का कर्त्तव्य है कि वह अपनी आय का ढ़ाई प्रतिशत अंश गरीबों के उत्थान एवं उपकार के लिए दान दें। इसे दरिद्र सेवा टैक्स भी कहा जा सकता है। कहते हैं कि जकात देना धनी का जितना कर्त्तव्य है उतना ही जकात लेना गरीब का अधिकार भी माना जाता है। इस्लाम में जकात प्रथा के प्रारम्भ के संदर्भ में उल्लेख मिलता है कि जब इस्लाम धर्म के प्रचार का भार नवयुवकों को दिया गया तब अनेक नवयुवकों ने धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अपनी कुर्बानी दी। उनकी कुर्बानी से उनके अनाथ हुए परिवार के भरण-पोषण के लिए जकात की प्रथा शुरू हुई जो कालान्तर में धार्मिक कर्त्तव्य बन गया। कुरान में जकात (दान) की महत्ता को दर्शाते हुए कहा गया है—"ऊपर का हाथ अच्छा है नीचे के हाथ से क्योंकि ऊपर का हाथ देता है और नीचे का हाथ लेता है अर्थात् भिक्षा मांगता है।" (The upper hand is better than the lower hand; the upper hand bestows, the lower begs.)

"जब तक अपनी प्रिय वस्तु में से खर्च नहीं करोगे तक तक पुण्य को नहीं पा सकते।"

इस प्रकार इस्लाम में दान (जकात) को आर्थिक विषमता को दूर करने एवं गरीबों, असहायों एवं अभावग्रस्तों के उत्थान के लिए आवश्यक माना गया है।

12.4.4 उपवास

रमजान के महीने में रोजा (उपवास) रखना प्रत्येक मुसलमान के लिए आवश्यक माना गया है। किन्तु रोगी, अति वृद्ध तथा गर्भवती स्त्री को उपवास के बदले एक गरीब को भोजन देना पर्याप्त माना गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रमजान के महीने में रोजा रखने का नियम इस कारण से है क्योंकि मानव शिक्षक कुरान इसी महीने में मुहम्मद साहब में उतारा गया था। उपवास रखने के तीन प्रमुख कारण इस्लाम में बतलाये गये हैं—

1. पेट तथा शरीर को अपनी लालसा की संतुष्टि से रोकना।
2. आंख, कान, जीभ, हाथ, पैर तथा शरीर के अन्य अवयवों को अपने अधीन रखना तथा उन्हें पाप कृत्य से रोकना।
3. मन को सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त रखना तथा सभी विचारों को ईश्वर पर केन्द्रीभूत करना।

रमजान में उपवास रखने के कारण अनेक लाभ होते हैं। सहिष्णुता, सहानुभूति, त्याग और आत्मानुशासन का पाठ इससे सीखा जाता है। भूख को सहन करना, भूख का अनुभव करके भूखों के प्रति सहानुभूति रखना, दिनभर अन्न-जल का त्याग करके त्याग की प्रवृत्ति को वृद्धिंगत करना तथा अपने आप पर नियंत्रण रखना ही उपवास के लाभ हैं।

याकूब मसीह ने उपवास के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"Ramadan reminds the Muslims that their lives have to be tempered and disciplined by sacrifice and self-control. Ultimately a Muslim has to surrender his will to the divine will, so that in the end not he but God lives in him." अर्थात् रमजान का महीना याद दिलाता है कि ईमान रखने के लिए त्याग की आवश्यकता पड़ती है, अपनी इच्छाओं का दमन करना पड़ता है क्योंकि सच्चे मुसलमान को अपनी इच्छा के अनुसार नहीं, वरन् ईश्वर की इच्छा पर अपनी इच्छा को अर्पित करना होता है। अपने को ईश्वर में पूर्णतया अर्पित करने के लिए रमजान का रोजा रखना एक मुख्य साधन है।

12.4.5 हज करना

यद्यपि इस्लाम में मूर्तिपूजा का निषेध किया गया है फिर भी तीर्थयात्रा को धर्म का आवश्यक अंग माना गया है। साधारण अवस्था में प्रत्येक मुसलमान को एक बार हज करना जरूरी माना गया है। चूंकि इस धर्म का प्रारम्भ मक्का में हुआ था और यहीं काबा का वह प्राचीन मंदिर है जिसकी मूर्ति को मुहम्मद ने तोड़ डाला था, आज भी वह पत्थर वहां स्थित है जिसका चुम्बन लेना प्रत्येक तीर्थयात्री का धार्मिक कर्त्तव्य बन गया है। मुसलमान अपने पूर्वकृत पापों का प्रायश्चित्त कर, कर्ज चुकताकर नमाज एवं कुरान की आयतों को पढ़कर अपनी हज यात्रा का प्रारम्भ करते हैं। मक्का पहुंचकर स्नान के द्वारा शरीर को स्वच्छ कर नये वस्त्र पहनकर ईश्वर का नाम लेते हुए सात बार काबा की परिक्रमा कर मुख्य पत्थर का चुम्बन लेते हैं। हज की प्रमुख क्रिया यही है।

चूंकि विश्व के सभी देशों के मुसलमान मक्का में इकट्ठे होते हैं, अतः ऊंच-नीच, अमीर-गरीब आदि का भेद मिटाने की प्रेरणा यहां स्वतः मिलती है। कहा भी गया है—"Hajja is a call to all Muslims of the world. By the performance of Hajja Mecca, the universal brotherhood of the Muslims is most palpable demonstrated. This also exemplifies Islamic equality of the rich and poor of the black and white, irrespective of any race. Hence, there can be no caste in Islam."

ऐसा कुरान में भी उल्लेख है कि 'परमेश्वर के लिए हज करो और किसी भी प्रकार की बाधा का मुकाबला करो।'

12.5 नैतिक विचार

इस्लाम के अनुसार कुरान में जो कुछ आदिष्ट है, वह नैतिक है और जो निषिद्ध है, वह अनैतिक है। प्रो. खगेन्द्रनाथमित्र ने भी इस्लाम के दुर्गुण-सद्गुण, पाप-पुण्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—"कुरान में वर्णित नियमों का निषेध पाप है और उसकी स्वीकृति पुण्य है, सद्गुण है।" कुरान चूंकि ईश्वरीय आदेश है अतः कुरान नैतिकता का चरम मापदण्ड है। कुरान में मानवता की भलाई के लिए अनेक गुण सुझाये गये हैं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जिसकी सूची डॉ. हरेन्द्र सिन्हा ने अपने धर्म-दर्शन की रूपरेखा पुस्तक में इस प्रकार संकलित किया है। करणीय सद्गुण है शुद्धता (Purity), शुचिता (Chastity), ईमानदारी (Honesty), मित्रता (Friendship), स्वच्छता (Cleanliness), क्षमा (Forgiveness), सहानुभूति (Sympathy), न्याय (Justice), प्रेम (Love), करुणा (Mercy), दान (Charity), नम्रता (Humility), सच्चाई (Truth), मर्यादा (Modesty), कृतज्ञता (Gratitude), साहस (Courage), धैर्य (Patience), अच्छाई (Goodness) इसके अतिरिक्त अकरणीय दुर्गुण हैं—रिश्वत (Bribery), अभिमान (Proud), आत्महत्या (Suicide), कृपणता (Miserliness), क्रोध (Anger), गाली (Abuse), प्रवंचना (Dishonesty), ईर्ष्या (Envy) इसके अतिरिक्त ब्याज का पैसा खाना, जुआ खेलना तथा शराब पीना आदि भी पाप ही हैं।

इस्लाम धर्म में व्यवहार शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है। सबके प्रति मानवतापूर्ण व्यवहार की अभिशंसा यहां हुई है। यहां तक कि दासों के प्रति भी मानवीय व्यवहार का उल्लेख कुरान में हुआ है। एन. स्मार्ट ने 'The Religions Experience of Mankind' में कुरान के नैतिक विचारों की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि "The ethical principles of Islam are very much connected with the behaviour, conduct and the religions activities of a Muslim. The Quoran states that slaves be treated humanely. It was a good deed for a master to free a slave. Three other Quoranic regulations deserve mention viz. Prohibition of gambling, wine and pork. The Qoran said that in gambling and wine there was sin and park was regarded as unclean." इस प्रकार कुरान में शराब पीना और जुआ खेलने को पाप कहा गया है।

एक बार की बात है कि मुहम्मद साहब ने अपने शिष्यों से पूछा कि तुम लोग किसे शक्तिशाली समझते हो। शिष्यों ने उत्तर दिया कि शक्तिशाली वह है जो दूसरों को पराजित करता है। मुहम्मद साहब ने इसका खण्डन करते हुए कहा कि शक्तिशाली वह है जो अपनी बुराइयों को जीतता है, अपने क्रोध पर नियंत्रण रखता है। इस वार्तालाप से यह स्पष्ट होता है कि इस्लाम में क्रोध, ईर्ष्या आदि बुराई हैं जिससे बचने का प्रयास सबको करना चाहिए।

इस्लाम में भाईचारा, मैत्री और सज्जनता पर विशेष बल दिया गया है। यहां गरीबों एवं असहायों की सेवा को भी महत्त्व दिया गया है। यहां मनुष्य की सेवा को ईश्वर की सेवा कहा गया है। सत्य, दान, विनम्रता को यहां बढ़ावा दिया गया है। ए. आर. महापात्र के शब्दों में "A Muslim must treat every other as a brother with friendliness and generosity. It is a religion which gives high prominence to service. The good of humanity and service of man is the service of God. It is a religion of peace, tranquality and resignation to the will of God. What is required from a Muslim is a kind heart, sincere repontance, and sincere effort to practise truth, charity, renunciation and service and to avoid evil and sin."

इस्लामी नीति-विचार में सामाजिक आचार पर भी पर्याप्त ध्यान दिया गया है। स्त्रियों को पुरुषों के समान जायदाद में हिस्सेदार माना गया। इस्लाम के अनुसार माता-पिता जो कुछ छोड़कर जाते हैं उसमें भाई-बहन दोनों की हिस्सेदारी होती है। इस्लाम में बहु-विवाह की प्रथा को मान्यता है। एक पुरुष की चार शादी को जायज माना गया है। यहां यथेष्ठ विवाह को स्वीकृति मिली है परन्तु यह भी कहा गया है कि यदि प्रत्येक विवाहिता के प्रति उचित व्यवहार नहीं कर सकते हो तो एक ही विवाह से संतोष करो। बहु विवाह की स्वीकृति के पीछे इस्लाम में जो कारण मिलता है वह यह है कि विधवाओं और उनके सम्बन्धियों का कष्ट दूर हो सके।

कुरान में कठोर दण्ड को स्वीकृति मिली है। चोरी के अपराध में हाथ काट डालने का आदेश है। प्राणों के बदले प्राण और आंख के बदले आंख इत्यादि के कठोर दण्ड का प्रावधान भी बनाया गया है। व्यभिचार के लिए सौ कोड़ों का विधान है। यहां दण्ड के निवर्तनवादी सिद्धान्त अर्थात् सबक सिखाने के लिए दण्ड को स्वीकार किया गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

परोपकार को भी यहां पूरा स्थान मिला है। यद्यपि इस्लाम में नमाज को धार्मिक कर्त्तव्य माना गया है और नमाज के पूर्व जल से शरीर के अंगों की शुद्धि को भी स्वीकार किया गया है किन्तु यह भी उल्लेख मिलता है कि यदि कोई प्यास के लिए मर रहा हो और आपके (नमाज हेतु शरीर शुद्धि के) जल से उसके प्राण की रक्षा हो सकती है तो नमाज की अपेक्षा उसके प्राण बचाने पर जोर दिया गया है।

इस्लाम के सूफी मत में तो आत्मविकास को उच्च स्थान प्राप्त है। इसमें बहुत ऊंचे आन्तरिक आचार की बात कही गयी है। वासनाओं का उन्मूलन, संन्यास, शारीरिक यातना तथा तप की व्यवस्था बताई गयी है। यहां कहा भी गया है कि सच्चा जेहाद तो अपनी शारीरिक तृष्णाओं तथा वासनाओं के विरुद्ध करना चाहिए।

चूंकि इस्लाम ईश्वर प्रधान धर्म है अत: यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नैतिकता यहां निरपेक्ष नहीं है। शायद इस्लाम के अनुसार बुरा-भला, उचित-अनुचित वही है जिसे ईश्वर ने रचा है। इसलिए संभवत: इस्लाम में नैतिक स्वायत्तता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया गया है।

12.6 जैनधर्म और इस्लाम धर्म

भारत के प्राचीनतम धर्मों में जैनधर्म का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिस तरह विष्णु को मानने वाले वैष्णव, शिव को मानने वाले शैव और बुद्ध को मानने वाले बौद्ध कहलाये उसी प्रकार 'जिन' को मानने वाले जैन कहलाये। 'जिन' का अर्थ जितेन्द्रिय होता है अर्थात् जिसने राग, द्वेष को जीत लिया। वीतरागी जो संसार से मुक्त हो गये, वे तीर्थंकर कहलाये। जैनधर्म के संस्थापन और विकास के सिलसिले में चौबीस तीर्थंकरों की एक लम्बी परम्परा का उल्लेख है। ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे और महावीर अंतिम तीर्थंकर थे। पार्श्वनाथ तेइसवें तीर्थंकर थे। अन्य तीर्थंकरों के संदर्भ में इतिहास मौन है। जैनों के आदर्श तीर्थंकर उसी प्रकार कहलाये जिस प्रकार ईसाई धर्म के आदर्श ईसा मसीह और इस्लाम के आदर्श पैगम्बर मुहम्मद साहब। परन्तु दोनों में अन्तर यह है कि जहां ईसाई धर्म में दूसरा ईसा मसीह नहीं हो सकता, इस्लाम में दूसरा मुहम्मद साहब नहीं हो सकता वहां जैनधर्म में ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं है। यहां हर कोई अपने पुरुषार्थ से तीर्थंकर बन सकता है।

जैनधर्म आत्मिक विकास का धर्म है। आत्मा के उत्थान एवं विकास का यहां खूब चिन्तन हुआ है। तीर्थंकरों से लेकर आचार्यों तक ने आत्मोन्नति के मार्ग सुझाए। 'गुणस्थान' के रूप में आत्मविकास का जैसा यहां चिन्तन हुआ है, वैसा अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता है। जैन तत्वमीमांसा में 'जीव' विचार प्रमुख विचार है। पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों की अवधारणा का अनूठा चित्रण यहां द्रष्टव्य है। जैन प्रमाण मीमांसा और ज्ञान मीमांसा का चित्रण भी 'आत्मा' के परिप्रेक्ष्य में ही है। 'आत्मसापेक्षं प्रत्यक्षम्' परिभाषा भी आत्मा की प्रधानता पर बल देती है। अंतिम ज्ञान केवलज्ञान सर्वज्ञान के साथ-साथ पूर्ण आत्मज्ञान ही है। जैन आचार मीमांसा तो आत्म-केन्द्रित है ही। आचार के सारे साधन आत्मविकास के साधन हैं। जैनयोग भी आत्मा की प्रेक्षा पर बल देता है। अत: यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि जैनधर्म की कहानी आत्म विकास की कहानी है। यहां प्रारम्भ आत्मा और लक्ष्य भी आत्मा ही है। इसीलिए यह आध्यात्मिक धर्मदर्शन है। तीर्थंकरों की साधना, गणधरों की साधना, श्रुतकेवलियों की साधना एवं आचार्यों की साधना ने इस धर्मदर्शन को अवरुद्ध होने नहीं दिया। इस धर्म का समृद्ध इतिहास है तो वर्तमान भी समृद्ध है और भविष्य की समृद्धता की आशा के पर्याप्त कारण भी हैं।

एक तरफ भारत का यह प्राचीन धर्म जैनधर्म तो दूसरी तरफ विश्व का सबसे नवीनतम धर्म इस्लाम है। यहां दोनों की तुलना प्रसंगत: अपेक्षित है। इस्लाम धर्म का अभ्युदय छठी शताब्दी ई. है अर्थात् लगभग 1400 वर्ष पुराना जबकि जैनधर्म अति प्राचीन है। भगवान् महावीर से भी जैनधर्म को ले तो भी जैनधर्म इस्लाम धर्म से लगभग 1200 वर्ष पुराना है जबकि महावीर के पूर्व भी जैनधर्म के 23 तीर्थंकरों की परम्परा और मिलती है। अत: यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि जैनधर्म, इस्लामधर्म की अपेक्षा अति प्राचीन है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस्लाम धर्म का आधारभूत ग्रन्थ एकमात्र कुरान है। कुरान में 114 सूरा (अध्याय) एवं लगभग 10 हजार आयतें (सूत्र) हैं। इस्लाम के अनुसार कुरान ईश्वरीय आदेश है। कहते हैं कि जिब्राइल के माध्यम से पूरा कुरान पैगम्बर मुहम्मद साहब में उतारा गया और कालान्तर में मुहम्मद साहब के प्रथम उत्तराधिकारी खलीफा अबूबकर ने इसे लिपिबद्ध कराया। इसी प्रकार जैनधर्म का आधारभूत ग्रन्थ आगम है किन्तु कुरान की तरह ये एक नहीं हैं। भगवान् की वाणी ही कालान्तर में आगम के रूप में सामने आई। वैसे जैन साहित्य में आगम साहित्य प्रणेता की दृष्टि से दो भागों में विभक्त हुआ दृष्टिगोचर होता है—अंग प्रविष्ट और अनंग प्रविष्ट। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों ने जो साहित्य रचा, वह अंग प्रविष्ट कहलाता है। अंग आगम बारह हैं। स्थविरों ने जो साहित्य रचा, वह अनंग प्रविष्ट कहलाता है। बारह अंगों के अतिरिक्त सारा आगम साहित्य अनंग प्रविष्ट है। इस प्रकार साहित्य की दृष्टि से भी जैनधर्म इस्लामधर्म की अपेक्षा समृद्ध है।

12.6.1 ईश्वर की दृष्टि से

इस्लाम धर्म का सर्वाधिक प्रमुख विचार ईश्वर (अल्लाह) विचार है। यहां अल्लाह ही एकमात्र ईश्वर है। वह एक और सर्वाधार है। उसकी शक्ति अनन्त है। इस्लाम का मतलब ही है कि ईश्वर सब कुछ है अत: अपना सब कुछ ईश्वर को समर्पित होना चाहिए। (Islam means surrender of the soul to God.)

अन्तर की दृष्टि से कह सकते हैं कि इस्लाम धर्म एकेश्वरवादी धर्म है तो जैनधर्म अनेकान्तवादी धर्म है। जहां इस्लाम में एक ईश्वर को सर्वेसर्वा माना गया है वहीं जैनधर्म सभी आत्माओं में अनन्त क्षमता मानता है। हर कोई सब कुछ बन सकता है अर्थात् जैन की हर आत्मा इस्लाम का ईश्वर बन सकता है जबकि इस्लाम में अल्लाह के अतिरिक्त दूसरा कोई ईश्वर हो ही नहीं सकता।

इस्लाम में ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता, धर्ता और संहारक स्वीकार किया गया है और यह माना गया है कि ईश्वर के बिना सृष्टि का एक पत्ता भी नहीं हिल सकता जबकि जैनदर्शन में सृष्टि को अनादि काल से माना गया है। 'षड्द्रव्यात्मको लोक:' अर्थात् लोक में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय एवं काल ये छ: नित्य द्रव्य हैं। अत: सृष्टि नित्य है। इसलिए जैनदर्शन की नित्य सृष्टि (लोक) के लिए किसी रचयिता की जरूरत ही नहीं है। चूंकि ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता है तो सृष्टि में होने वाले अन्याय, अनीति, अशुभ एवं अन्धकार का कारण भी ईश्वर ही होगा। चूंकि इस्लाम में सृष्टि के कर्तृत्व में ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व है ही नहीं अत: इस्लाम अशुभ कर्त्ता से अपने ईश्वर की सुरक्षा कर नहीं सकता। जबकि जैनधर्म में शुभ-अशुभ का कर्त्ता कोई ईश्वर नहीं अपितु व्यक्ति के अपने कर्म हैं। कर्मबंध और संसार परिभ्रमण को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने पंचास्तिकाय (गाथा 128-30) में कहा है कि—

"जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दुहोदि परिणामो
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदि सु गदि
गदि मधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते
तेहिं दुविसयग्राहणं तत्तो दु रागो व दोसो वा
जायदि जीवस्सेवं भावं संसार चक्क वालम्मि
इदि जिणवरेहिं अणादि जिहाणो सणिहणो वा॥"

अर्थात् संसार में जितने भी जीव हैं, उनमें राग-द्वेष परिणाम होते हैं। उन परिणामों से कर्म बंधते हैं। कर्मों से चार गतियों में जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेने से शरीर मिलता है तथा शरीर में इन्द्रियां होती हैं, इनसे विषयों का ग्रहण होता है तथा विषयों के ग्रहण से राग-द्वेष होते हैं। इस प्रकार संसाररूपी चक्र में भ्रमण करते हुए जीव के भावों से कर्मों का बंध तथा कर्मबंध से जीव के भाव संतति की अपेक्षा अनादिकाल से चला आ रहा है। अर्थात् कर्म ही शुभ, अशुभ एवं संसार के कारण है न कि कोई ईश्वर।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यदि ईश्वर ही एकमात्र कारण है तो इस्लाम में मानव स्वतंत्रता के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। याकूब मसीह ने इस्लाम के संदर्भ में लिखा है—"Islam accepts that God reveals all that is moral or immoral. Hence, for a Muslim an action is good or bad, as God wills it. In other words, morality depends on the will of God and His declaration. A thing is good because God wills it, and bad if He disapproves of it."

इस्लाम के उपर्युक्त कथन से यही स्पष्ट है कि शुभ-अशुभ सबका कर्त्ता ईश्वर है। यदि यह मान लिया जाय कि सभी कर्म ईश्वर द्वारा पूर्व निर्धारित हैं तो मानव की कर्म प्रेरणा का ही अन्त हो जायेगा और मनुष्य भाग्यवादी या नियतिवादी बनकर हाथ पर हाथ धरे बैठा रह जायेगा। यदि सचमुच मनुष्य के कर्म पूर्व निर्धारित हैं तो वह अपने किसी कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं रह जायेगा। जबकि जैनदर्शन में मनुष्य को अपने भाग्य का निर्माता कहकर उसे पूरी स्वतंत्रता दी गयी है। अत: ईश्वर की दृष्टि से दोनों धर्मों में निम्न अन्तर परिलक्षित होते हैं—

1. इस्लाम ईश्वर में समर्पित होता है तो जैन 'जिन' में।
2. इस्लाम में व्यक्ति की पूजा है चाहे वह परम व्यक्ति ईश्वर ही क्यों न हो जबकि जैन में व्यक्ति की नहीं गुणों की पूजा होती है।
3. जैन में सृष्टि का कर्त्ता, संहारक और पालक कोई ईश्वर नहीं है जबकि इस्लाम में ईश्वर को स्वीकार किया गया है। (Allah is the creator, maintainer and dissolver of the world.) जबकि जैन में लोक (सृष्टि) को अनादि और अनंत माना गया है। परिवर्तन से सृष्टि की वस्तुओं का विकास होता रहता है।
4. इस्लाम में ईश्वर के सात गुणों जीवन, ज्ञान, शक्ति, इच्छा, श्रुति, दृष्टि, वाणी का उल्लेख है जबकि जैनधर्म में परमात्मा के अनन्तचतुष्टय में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त आनन्द को स्वीकार किया गया है।
5. ईश्वर ही शुभ-अशुभ का कर्त्ता है—ऐसा इस्लाम में माना गया है जबकि जैनदर्शन के अनुसार शुभ-अशुभ व्यक्ति के कर्मों का परिणाम है।
6. इस्लाम के अनुसार ईश्वर कयामत के दिन फल देने वाला है, जबकि जैन के अनुसार कर्म जिस परिमाण में बद्ध होते हैं उसी के अनुरूप स्वत: परिणाम देते हैं।
7. इस्लाम में भाग्यवाद, नियतिवाद को स्वीकार किया गया है। अर्थात् सबके भाग्य की कहानी लिखने वाला ईश्वर है। अत: यहां मानव-स्वातं=य का प्रश्न ही नहीं उठता जबकि जैन परम्परा में व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। वह नरक में भी जा सकता है, स्वर्ग में भी जा सकता है और सदा-सदा के लिए मुक्त भी हो सकता है अत: यहां पूर्ण मानव-स्वातं=य है।
8. इस्लाम में मानव-स्वातं=य न होने से मनुष्य को अपने बुरे कार्यों के लिए दण्ड और अच्छे कार्यों के लिए पुरस्कार कैसे मिल सकता है? अत: यहां उत्तरदायित्व की व्याख्या संभव नहीं है जबकि जैन में मनुष्य या कोई भी जीव अपने कर्मों को करने के लिए स्वतंत्र है अत: परिणाम के लिए भी वह स्वयं उत्तरदायी है।

अत: यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि इस्लाम के ईश्वरवाद की व्याख्या में अनेक कठिनाई है जबकि जैन आत्मवाद की व्याख्या में कठिनाई दृष्टिगोचर नहीं होती है। परन्तु समर्पण की जहां तक बात है इस्लाम पूर्णतया ईश्वर में समर्पित है तो जैनधर्म आत्मा, परमात्मा में समर्पित है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

12.6.2 धार्मिक कर्त्तव्य की दृष्टि से

पूर्व विवरण से यह स्पष्ट हुआ है कि इस्लाम में मत का उच्चारण, नमाज, रोजा, जकात और हज—ये पांच धार्मिक कर्त्तव्य माने गये हैं, जो प्रत्येक मुसलमान को आवश्यक रूप से करने चाहिए। पांचों धार्मिक कर्त्तव्यों के अपने वैशिष्ट्य भी हैं। 'मत का उच्चारण' से तात्पर्य ईश्वर को सदैव याद करना अर्थात् ईश्वर को कभी मत भुलाना, साथ ही साथ पैगम्बर मुहम्मद को भी न भुलाना। नमाज से तात्पर्य प्रार्थना से है, इसमें व्यक्ति भगवान् के समक्ष झुकता है अर्थात् उसमें विनम्रता का विकास होता है, रोजा से संयम, आत्मानुशासन एवं त्याग का विकास होता है। जकात से भ्रातृभावना का विकास, विषमता का अन्त और त्याग की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है तथा हज से भगवान् के प्रति भक्ति भावना के विकास के साथ विश्व बन्धुत्व का विकास होता है। जैसे हर इस्लाम के लिए लिए पांच कर्त्तव्य निर्धारित हैं वैसे तो जैन श्रावकों के लिए कोई कर्त्तव्य निर्धारित नहीं है परन्तु श्रावकों के लिए यहां बारह व्रतों के पालन की व्यवस्था है। 'यशस्तिलक चम्पू' में बारह व्रतों की चर्चा इस प्रकार है—

"अणुव्रतानि पंचैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम्।
शिक्षा व्रतानि चत्वारि गुणाः स्याद्वादशोत्तरे॥"

अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत को लेकर जिन बारह व्रतों का विधान जैनदर्शन में श्रावकों के लिए हुआ है, वे इस प्रकार हैं—

1. स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत
2. स्थूल मृषावाद विरमण व्रत
3. स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत
4. स्वदार संतोष व्रत
5. स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत
6. दिशा परिमाण व्रत
7. उपभोग—परिभोग परिमाण व्रत
8. अनर्थ दण्ड विरमण व्रत
9. सामायिक व्रत
10. देशावकाशिक व्रत
11. पौषधोपवास व्रत
12. अतिथि संविभाग व्रत।

इसके अतिरिक्त जो घर-द्वार एवं भौतिक जीवन त्यागकर अध्यात्म के पथ पर अग्रसर हो जाते हैं और दीक्षित होकर आत्म साधना में रत होते हैं उन श्रमणों (साधुओं) के लिए पांच महाव्रत, तीन गुप्तियां, पांच समितियां, दस धर्म, पांच चारित्र आदि व्रत जैनधर्म में निर्धारित हैं किन्तु इस्लाम चूंकि गृहस्थों का धर्म है अतः जैन श्रमण व्रतों के लिए न तो यहां अवकाश है और न ही जरूरत है। चूंकि जैनधर्म आत्मसाधना का धर्म है, अतः श्रावक एवं श्रमण व्रतों का निर्धारण उसी की पुष्टि के लिए हुआ है। जहां इस्लाम के पांच आधारभूत कर्त्तव्यों से तुलना की बात है, यह कहा जा सकता है कि जैसे मतों के उच्चारण में कुरान के आर्षवाक्य मुसलमानों को सदैव स्मरण करते रहना चाहिए और एक ईश्वर तथा पैगम्बर मुहम्मद को याद करते रहना चाहिए वैसे जैनधर्म में आगम वाणी, आचार्यों की वाणी स्मरण योग्य है और आत्म साधना आवश्यक है। इस्लाम नमाज, प्रार्थना का ही अंग है। जैनधर्म में भी प्रार्थना का महत्त्व है। नमस्कार महामंत्र की प्रार्थना यहां भी अपेक्षित है। इस्लाम रोजा जैनधर्म का उपवास ही है। जहां जैनधर्म में एक उपवास में 24 घण्टे तक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जल भी नहीं लिया जाता वहां रोजे में दिन के बारह घण्टे बाद रात्रि में डटकर भोजन किया जाता है। इसे जैन एकाशन कह सकते हैं परन्तु जैनधर्म में रात्रि भोजन का त्याग रहता है जबकि इस्लाम में दिन के भोजन का त्याग रहता है। जकात, इस्लाम धर्म का एक धार्मिक कर है जो प्रत्येक मुसलमान को अपनी आय का ढ़ाई प्रतिशत गरीबों की सहायता के लिए देना होता है। जैनधर्म में ऐसे किसी धार्मिक कर का विधान नहीं है किन्तु जैनधर्म में त्याग को बढ़ावा देने के लिए अपरिग्रह व्रत को आवश्यक माना गया है। जैनाचार्य आचार्य तुलसी ने 'अर्जन के साथ विसर्जन' का मूलमंत्र देकर जन सेवार्थ दान के महत्त्व को बढ़ावा दिया किन्तु जकात की तरह यहां बाध्यता, अनिवार्यता नहीं है। 'हज' इस्लाम की एक प्रकार की तीर्थयात्रा है। इसके पीछे भावना यही है कि हर मुसलमान अपनी सुविधानुसार जीवन में एक बार उस स्थान की यात्रा अवश्य करे जहां उसके धर्म का प्रवर्तन हुआ था। इसके साथ यह भी भाव माना जा सकता है कि एक विशेष समय में विश्व के मुसलमान जब एक स्थान पर इकट्ठे होंगे तो उनका संगठन मजबूत होगा, उनकी एकता प्रदर्शित होगी। जैनधर्म में भी तीर्थस्थानों की यात्रा को आवश्यक तो नहीं किन्तु उपयोगी माना गया है। सम्मेद शिखर, महावीरजी, पालीताणा, केसरियाजी, सिरियारी आदि तीर्थस्थानों की यात्रा से भक्ति भावना पुष्ट होती है तथा अपूर्व शांति मिलती है। इस्लाम में जहां मक्का को ही तीर्थस्थान माना गया है और हज के लिए जीवन में एक बार वहां जाना आवश्यक माना गया है वहां जैनधर्म में एक तीर्थस्थान ही नहीं अपितु अनेक तीर्थस्थानों की यात्रा को उपयोगी माना गया है।

12.6.3 नीति विचार की दृष्टि

कुरान में मनुष्य को नैतिक जीवन जीने की पग-पग पर प्रेरणा दी गयी है। कुरान की आयतों में मनुष्य को हर कदम सोच-समझकर उठाने के लिए कहा गया है। जैनधर्म में तो जीवन का मतलब ही आचार की शुद्धता है। शुद्ध और सात्विक जीवन के अभाव में यहां जीवन को जीवन नहीं माना गया है। यहां सद्गुण रहित मनुष्य को मनुष्य नहीं इन्सान के लिबास में हैवान कहा गया है। ईमानदारी, कर्त्तव्यनिष्ठा, त्याग, विनम्रता, संयम, सेवा, आत्मानुशासन, मैत्री, सहिष्णुता को दोनों ही धर्मों में सद्गुण कहा गया है, जिसे सबको जीवन में उतारना चाहिए और इसके विपरीत दोनों ही धर्मों में दुर्गुण कहा गया है और इनसे बचने पर जोर दिया गया है। दोनों ही धर्मों में जुआ खेलना, शराब पीना आदि बुराइयों का निषेध किया गया है। दोनों ही धर्मों में पापकृत्य से बचने और पुण्य कृत्य को जीवन में उतारने के लिए कहा गया है। इतना होने पर भी दोनों धर्मों के मूल में कुछ अन्तर है, जिसका विवेचन इस प्रकार है—

1. जैन आचार के मूल में अहिंसा की उदात्त भावना रही है। अहिंसा के आधार पर जैन आचार विकसित हुआ। आचारांगसूत्र में श्रमण भगवान् महावीर की जो जीवन-गाथा दी गयी है, महावीर ने जो साधनाकाल में भयंकर कष्ट व उपसर्ग सहन किये उन सभी कष्टों के सहन करने में अहिंसा की उदात्त भावना ही निहित रही है। यहां श्रावकों के लिए अहिंसा अणुव्रत और श्रमणों के लिए अहिंसा महाव्रत का विधान है जबकि इस्लाम में अहिंसा को महत्त्व नहीं दिया गया है। कुरान में हिंसा की स्वीकृति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है, यथा—"और उनको जहां कहीं पाओ कत्ल करो, और उन्हें निकालो जहां से उन्होंने तुम्हें निकाला है और फितना कत्ल से भी बढ़कर है। और तुम उनसे मस्जिदे हराम (काबा) के पास न लड़ो जब तक कि वे तुमसे वहां युद्ध न करें तो यदि वे तुमसे युद्ध करें तो उन्हें कत्ल करो, यही काफिरों का बदला है। (2:191) इस्लाम में तो जेहाद (धर्मयुद्ध) भी जायज है जबकि जैनधर्म में जहां तक संभव हो सके हिंसा से बचने पर बल दिया गया है। जबकि इस्लाम में बकरीद के दिन जानवरों की खुलकर हिंसा होती है। अतः यह कहा जा सकता है कि जैनधर्म अहिंसा प्रधान धर्म है, यहां अहिंसक नैतिकता की स्वीकृति है जबकि इस्लाम में ऐसा नहीं है। इस्लाम

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

में तो 'फटे खुरवाले तथा जुगाली करने वाले पशु भक्ष्य हैं।' 'पंखवाले तथा छिलके वाले जलचर भी भक्ष्य हैं।'

2. जैनदर्शन में सात प्रकार के व्यसन के त्याग पर बल देते हुए कहा गया है—

"द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या पापर्द्धि चौर्यं परदारसेवा।
एतानि सप्त व्यसनानि लोके घोरातिघोरं नरकं नयन्ति॥"

अर्थात् जुआ, मांसाहार, मद्यपान, वेश्यागमन, शिकार, चोरी, परस्त्रीगमन का यहां निषेध है। इस्लाम में मांसाहार और शिकार को छोड़कर अन्य व्यसनों के त्यागने का नियम है।

3. जैनधर्म में संयम, समता, सह-अस्तित्व को अधिक महत्त्व दिया गया है जबकि इस्लाम में सेवा, प्रेम एवं मैत्री पर जोर दिया गया है। इस्लाम में मानव सेवा को प्रश्रय दिया गया है। एक मुसलमान को दूसरे मुसलमान के साथ भाईचारे का बर्ताव करना चाहिए तथा प्रेम और करुणा के द्वारा मानव की सेवा करना चाहिए। मानव की सेवा के द्वारा कोई भी व्यक्ति 'अल्लाह' तक पहुंचने का भागी बन सकता है जबकि जैनधर्म में परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त करने के लिए मानव सेवा नहीं 'आत्म-साधना' करनी होगी।
4. इस्लाम में कठोर दण्ड का विधान है। यहां कोड़े मारने, हाथ-पैर काटने से लेकर मृत्यु-दण्ड को भी जायज माना गया है जबकि जैनधर्म में हिंसात्मक दण्ड का पूर्णतया निषेध किया गया है। दण्ड नुकसान पहुंचाने के लिए नहीं अपितु दण्ड सुधार के लिए होना चाहिए, अतः अहिंसात्मक दण्ड का विधान जैनधर्म में है।
5. इस्लाम में बहु-विवाह को नीतिगत माना गया है। यहां प्रत्येक विवाहिता के साथ उचित व्यवहार हो सके तो चार विवाह करने की छूट दी गयी है जबकि जैनधर्म ब्रह्मचर्य व्रत को केन्द्र में रखता है अर्थात् पूर्णतया ब्रह्मचारी का जीवन हो सके तो अच्छा है अन्यथा स्वदार संतोष अणुव्रत का विधान है अर्थात् केवल अपनी एक पत्नी तक सीमित रहना चाहिए। एक पत्नी के साथ भी जितना संयम हो सके उतने संयम का पालन करना चाहिए।
6. इस्लाम में मानव के साथ भ्रातृत्व भाव के विकास की बात कही गयी है जबकि जैनधर्म में मानव के साथ ही नहीं अपितु सूक्ष्म जीवों के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार की बात कही गयी है। हमारी असावधानी से किसी जीव का घात न हो जाये, जैनधर्म में इस प्रकार की अप्रमत्तता को स्वीकार किया गया है।
7. इस्लाम में मूर्तिपूजा का पूर्णतया निषेध है। हज के समय काबा का जो पत्थर चूमा जाता है कहते हैं कि वह मूर्ति का खण्डितरूप ही है। जैनधर्म के कुछ सम्प्रदाय जैसे स्थानकवासी, तेरापंथी आदि भी मूर्तिपूजा को नहीं मानते हैं जबकि अन्य सम्प्रदाय मंदिरों में जाते हैं और द्रव्य चढ़ाकर पूजन करते हैं।

12.7 सारांश

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि जिस इस्लाम धर्म की स्थापना और विस्तार के लिए संघर्ष करना पड़ा, तलवार उठाना पड़ा, उस धर्म का जैनधर्म से अन्तर होना स्वाभाविक है क्योंकि यह अहिंसा प्रधान धर्म है।

12.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. इस्लाम और जैनधर्म का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. सिद्ध कीजिए कि जैन अचार का मूल अहिंसा है।
2. इस्लाम के पांच धार्मिक कर्त्तव्य को स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. इस्लाम शब्द किस भाषा का शब्द है? 2. तेइसवें तीर्थंकर कौन थे?
3. मुहम्मद साहब को किस गुफा में ईश्वरीय संदेश का अनुभव हुआ?
4. जैनदर्शन में कितने प्रकार के व्यसनों का उल्लेख हैं?
5. इस्लाम के ईश्वर में कितने गुण माने गये हैं? 6. श्रावक के कितने व्रत जैनधर्म में स्वीकार हैं?
7. इस्लाम में कितने धार्मिक कर्त्तव्य माने गये हैं? 8. जैन आचार के मूल में क्या है?
9. इस्लाम में हज के लिए कहां जाया जाता है? 10. स्थानकवासी मूर्तिपूजक हैं या नहीं?

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. अरबी भाषा 2. पार्श्वनाथ 3. हीरा 4. सात 5. सात
6. 12 व्रत 7. 5 कर्त्तव्य 8. अहिंसा 9. मक्का 10. नहीं।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसाई–13 जैनधर्म और पारसी धर्म

संरचना

13.0 प्रस्तावना
13.1 उद्देश्य
13.2 पारसी धर्म प्रवर्तक जरथुस्त्र का परिचय
13.3 ईश्वर विचार
13.4 अशुभ की समस्या
13.5 नैतिक विचार
13.6 जैन धर्म से तुलना
13.7 सारांश
13.8 अभ्यास प्रश्नावली

13.0 प्रस्तावना

विश्व के प्रमुख धर्मों में पारसी धर्म का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। धर्म को रूढ़ियों एवं संकीर्ण मान्यताओं के दायरे से निकालकर नैतिकता के प्रांगण में विचरण कराने का बहुत कुछ श्रेय जरथुस्त्र (Zarathustra) को है। इसीलिए इसे धर्म कम 'नैतिकता' या 'नैतिकधर्म' अधिक कहा जता है। इस नैतिक धर्म 'पारसी धर्म' का प्रवर्तन 'जरथुस्त्र' के द्वारा हुआ था। जरथुस्त्र चमत्कारिक व्यक्तित्व के धनी थे। उनके द्वारा स्थापित धर्म 'पारसी धर्म' का आधार 'देवदूत का संदेश' माना जाता है। इसीलिए इसे उद्घाटित धर्म (Revealed Religion) के वर्ग में रखा जाता है। पैगम्बरी धर्मों में पारसी धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे यों कहना अधिक उचित प्रतीत होता है कि पैगम्बरी धर्म के प्रवर्तन का प्रारम्भ इसी धर्म से हुआ था। याकूब मसीह के शब्दों में 'Zoroastrianism is most important in the sense that it gave birth to prophetic religions.'

अर्थात् पारसी धर्म का महत्त्व इसलिए है क्योंकि इसने पैगम्बरी धर्म को प्रारम्भ किया।

13.1 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ में हमारा उद्देश्य पारसी धर्म के सांगतोपांग विवेचन के साथ जैन धर्म से तुलना करना है।

13.2 प्रवर्तक जरथुस्त्र का परिचय

पारसी धर्म के अनुसार जरथुस्त्र देवदूत थे। इनका मूल नाम स्पितमा था। जिस प्रकार वर्धमान ज्ञान प्राप्त करने के बाद महावीर और सिद्धार्थ सिद्धि प्राप्त करने के बाद गौतम बुद्ध बने उसी प्रकार 'स्पितमा' भी प्रसिद्धि प्राप्त करने के बाद जरथुस्त्र बने। इनका समय अधिकांश विद्वानों के अनुसार छठी शताब्दी ईसा पूर्व था। जरथुस्त्र शब्द दो शब्दो से मिलकर बना है। जरत का अर्थ होता है 'सोना' और उस्म का अर्थ होता है 'प्रभामंडित' अर्थात् जरथुस्त्र का अर्थ हुआ सुनहली प्रभा से मंडित व्यक्ति। उनके व्यक्तित्व को देखने से 'यथा नाम तथा गुण' की कहावत चरितार्थ होती है। कहते हैं कि जब वे सात वर्ष के थे तभी वे बुद्धिमान व्यक्तियों से लोहा लेने लगे थे। बीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने घरवार छोड़ दिया और जीवन को शुद्ध बनाने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान में भ्रमण करते रहे। कहा जाता है कि दस वर्ष तक वे जंगलों, रेगिस्तानों की यात्रा करते रहे और गुफाओं में रहकर साधना भी करते रहे। उन्होंने इस दौरान अपना बहुत सारा समय और ध्यान धार्मिक तैयारी में लगाया। ए.आर. महापात्र के अनुसार, "At the age of seven Zoroaster showed his great wisdom in argument with the wise men. After taking the religions vows at the age of twenty, he left his parents, house and wandered from place to place, living the life of purity and righteousness. For ten years he travelled in the forests and deserts and lived alone in caves doing

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

various austerities and penance. He spent most of his time in religious preparation, reflection and meditation."

कहा जाता है कि दस वर्ष की कठोर अध्यात्म साधना के पश्चात् जरथुस्त्र को 30 वर्ष की आयु में सिद्धि प्राप्त हुई। पारसी धर्म के अनुसार जब जरथुस्त्र 30 वर्ष के थे तो वोहु मनाह (Vohu Manah) उनके समक्ष प्रकट हुए और ईश्वरीय संदेश उनके अन्दर उतारा। कालान्तर में ऐसा ही जिब्राइल ने अल्लाह के संदेश को मुहम्मद साहब के भीतर उतारा था जिसे इस्लाम धर्म में 'इलहाम' कहा गया। ईश्वर अहुरमज्दा के संदेश को पाकर जरथुस्त्र ईश्वर के विश्व प्रसिद्ध दूत बन गये। अहुरमज्दा के आदेश का पालन करते हुए जिस महान् धर्म का संदेश जनता तक पहुंचाना शुरू किया, उसे ही पारसी धर्म के नाम से जाना जाता है। ए.आर. महापात्र के शब्दों में "After spending ten long years in preparing himself for spiritual realization, the prophet received in his thirtieth year Divine Light of Revelation, and became the world renowned messenger of Ahur Mazda. Obeying the supreme commands of Ahur Mazda he began to preach that great religion which was afterwards known as Zorastrianism."

जरथुस्त्र ने अपने संदेश देते हुए अनेक लम्बी यात्राएं की। इस दौरान उन्हें अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अनेक लोगों ने उनका बहुत विरोध किया। सर्वप्रथम उनके भतीजे ने उनका धर्म स्वीकार किया। प्रचलित धर्म के विरुद्ध प्रचार करने के कारण शासक वर्ग तथा पुरोहित वर्ग इनके कट्टर शत्रु बन गये। कुछ समय के बाद वैक्ट्रिया के राजा ने इस धर्म को स्वीकार कर इस धर्म के अनुयायी हो गये। बाद में चलकर ईरान के राजा ने भी इस धर्म को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार समयानुसार समस्त ईरान में पारसी धर्म फैल गया।

जिस प्रकार ईसाई धर्म का आधार उसका पवित्र ग्रन्थ बाइबिल है और इस्लाम धर्म का कुरान है उसी प्रकार पारसी धर्म का पवित्र ग्रन्थ 'अवेस्ता' है। इस ग्रन्थ की भाषा 'जेन्द' है, जो संस्कृत के समरूप है। अवेस्ता का शाब्दिक अर्थ ज्ञान होता है, जैसे हिन्दू धर्म के प्राचीन ग्रन्थ 'वेद' का अर्थ ज्ञान होता है। अवेस्ता ग्रन्थ पांच भागों में विभक्त है—

1. यस्न (The Yasna)

यह अवेस्ता का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसमें यज्ञ, पूजा विधान का समावेश है। इसके अन्दर जरथुस्त्र के वचन तथा तथा उपदेश हैं, जो गाथा अथवा मंत्र कहलाते हैं।

2. वेन्दिदाद (The Vendidad)

इसमें शुद्धि के नियमों की चर्चा है। शत्रुओं के संहार सम्बन्धी विधानों की व्याख्या वेन्दिदाद में निहित है।

3. विस्परेद (The Visperad)

इनमें पारसी कर्मकाण्ड का उल्लेख हुआ है। आराधना के समय इसके विधानों का पालन होता है।

4. यश्त (Yashts)

इनमें मंत्रों का संकलन है। इसमें देवताओं की स्तुतियों का वर्णन है जिसका पालन विशेष अवसर पर होता है।

5. खोर्द अवेस्ता (Khorda Avesta)

यह छोटा अवेस्ता के नाम से भी विख्यात है। इसमें स्तुतियों का वर्णन है जो उपासना के समय उपादेय प्रतीत होता है।

अवेस्ता और ऋग्वैदिक भाषा में बहुत अधिक समानता पायी जाती है। जतीन्द्र मोहन चटर्जी ने अपनी पुस्तक 'The Ethical Conceptions of the Gatha' में यह प्रतिपादित किया है कि ईरानी और भारतीय आर्य, दोनों एक ही आर्य जाति के थे। लगभग 2000–1500 ई. पू. में इन दो आर्य जातियों के दो सम्प्रदायों में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

बहुत संघर्ष हुआ। संभवत: पारसी धर्म के संस्थापक जरथुस्त्र ने नैतिक आचार और एकेश्वरवाद पर बल दिया जबकि वैदिक आर्यों ने कर्मकाण्ड एवं अनेकेश्वरवाद को अपनाया था। इसी संघर्ष के फलस्वरूप वैदिक आर्य संभवत: भारत आये, पर उनमें भी जरथुस्त्र के वचन का प्रभाव देखा जाता है। संभवत: वैदिक वरुण पूजा और पारसी अहुरमज्दा की आराधना में समानता देखी जाती है। दोनों ही धर्मों में 'नैतिक भाव' में समानता देखी जाती है। दोनों धर्मों में अनेक समानताओं के बावजूद अनेक विषमताएं भी हैं जिसके कारण ही दोनों में जमकर संघर्ष हुआ होगा। आर्थर एन्थोनी मैक्डोनल ने अपने ग्रन्थ 'Comparative Religion' में इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है—"The ancient religion of Persia is in origin more closely allied to that of the Vedas than to any other Aryan religion, but the reform Zarathustra fundamentally changed its character. Had that reform not taken place, the old persian would have hardly differed from the old Indian religion. Even as it is, these two have a great many special points in common."

धर्म के इतिहास में पारसी धर्म का अपना वैशिष्ट्य है। पारसी धर्म की विशेषता के रूप में 'नैतिकता' दृष्टिगोचर होती है। यह धर्म शुभ और अशुभ के संघर्ष में शुभ की विजय को प्रतिपादित करता है। जरथुस्त्र की शिक्षा के अनुसार धर्म का उद्देश्य मनुष्य को अन्धकार से मुक्त करना है। कहा भी गया है—'Zoroastrianism is worthy of special note because of its based on the idea of two supernatural kingdoms that of Light, ruled by God, and that of Evil, ruled by Saitan. According to his teaching of purpose of religion is to liberate from the Lord of Darkness through ascetic severity and stern rejection of the material things.'

इस प्रकार नैतिकता इस धर्म का आधार है। किसी लेखक के अनुसार, "In persia the breezes are charged with moral vigour."

13.3 ईश्वर विचार

पारसी धर्म में ईश्वर को 'अहुरमज्दा' कहा गया है। यह अहुर+मज+दा से बना है। जिसमें 'अहुर' का अर्थ स्वामी, 'मज' का अर्थ महान और 'दा' का अर्थ ज्ञान है। अहुरमज्दा सर्वशक्तिमान है। वह अद्वितीय है, वह ऐसा है कि उससे परे उसके बिना या उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। वह सर्वोच्च सत्ता है जिसमें सभी का अस्तित्व निहित है। वह सबसे प्रकाशमान, सबसे ऊंचा और सबसे पुरातन है। वह सर्वश्रेष्ठ है। उससे बड़ा कोई नहीं है। उसके बराबर भी कोई नहीं है। उसकी महत्ता को चुनौती देने वाला भी कोई नहीं है। वह सबसे प्रथम और सर्वोत्तम है। सब चीजों पर उसी का अधिकार है। वह परम कल्याणमय है। वह अपरिवर्तनीय है। वह सदा एक सा रहता है। वह सबको प्रेरित करता है, चलायमान करता है। सब कुछ उसी के द्वारा होता है। वह सर्वस्वामी है। ए.आर. महापात्र के अनुसार "In Zoroastranism, God is Ahur Mazda. 'A hura' means master or Lord, 'Maz' is great and 'Da' is knowledge, thus Ahur Mazda means Omniscient Master. Ahura Mazda is the supreme intelligence, omniscience, the creator and progenitor of the truthful and all that is good. He is omnipotent, under whose command the universe stands. He has prescribed the orbits of the Sun, moon and the starts. All the forces of nature are under his supreme control and guidance."

इस प्रकार अहुरमज्दा सर्वशक्तिमान (omnipotent), सर्वव्यापी (Omnipresent) और सर्वज्ञ (Omniscient) है। इस विवेचन से पारसी धर्म शुद्ध एकेश्वरवादी प्रतीत होता है। अवेस्ता के कुछ उद्धृत कथनों के द्वारा शुद्ध एकेश्वरवाद की पुष्टि की जा सकती है—"वही जिसका नाम अहुरमज्दा है, मै अपने कर्मों के द्वारा केवल उसी की उपासना करता हूं।"

"मै केवल तुझ ही को सर्वश्रेष्ठ समझता हूं और अन्य सभी (अस्तित्वों) को अपने मन से हटा देता हूं।"

"तुझ एक को छोड़कर मै अन्य किसी को भी अपना संरक्षक नहीं मानता हूं।"

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इस प्रकार परम सत्ता ईश्वर एक है। वह न्यायी और दयालु है। जो व्यक्ति उससे मित्रता की आकांक्षा करता है उसके लिए ईश्वर मित्र है। जो उससे पिता का प्यार चाहता है उसके लिए वह पिता है। उसी ने मनुष्य के अच्छे व्यवहार के नियम बनाये हैं। जरथुस्त्र कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को एक दिन अपने कर्मों का हिसाब देना होगा और अहुरमज्दा के बताये मार्ग पर आना होगा। वही सबके सब कर्मों का चिरंतन साक्षी और द्रष्टा है। वह मनुष्यों की नियति को अपने हाथों में रखे हुए है और प्रत्येक मनुष्य को उसके पाप-पुण्य के हिसाब से देता-लेता है। वह अच्छे काम करने वाले को इनाम देता है, पश्चाताप करने वालों पर दया दिखाता है और जो बुरे काम करते हैं, उन्हें दण्डित करता है। अहुरमज्दा में अनेक गुण हैं। जिसमें सात प्रमुख हैं—प्रकाश (Light), भलामानस (Good mind), उचित (Right), प्रभुत्व (Domination), धर्मनिष्ठा (Piety), सम्पूर्णता (Well-being) और अमरता (Immortality)।आर. सिंह ने Glimpes of World Religions में इन्हीं गुणों की चर्चा करते हुए लिखा है—"According to Zoroaster Ahura Mazda has seven qualities: Light, God mind, Right, Domination, Piety, Well-being, Immortality."

अहुरमज्दा संसार का स्रष्टा, पालनकर्त्ता और संहारकर्त्ता है। सृष्टि उसकी अच्छाई की मुक्त क्रिया है।उसने अपनी सम्पूर्णता से आकाश को आलोक से भर दिया। उसने प्रकाश बनाया। विभिन्न धर्मों में ईश्वर की कल्पना पुस्तक में (पृ. 100) कहा गया है—"पृथ्वी और आकाश को गिरने से वही बचाता है। उसने चांद को छोटा-बड़ा बनाया। उसने सूर्य और तारों का मार्ग निर्धारित किया। उसने हवा और बादलों को गति दी। उसने सबेरा, दोपहर और रातें बनाई। उसी ने वनस्पति, पानी-पक्षी बनाये। उसी ने मनुष्य और सारी आत्माएं बनाई, उनके शरीर में प्राण फूंके और उन्होंने संकल्प की स्वतंत्रता दी। उसने पुत्र और पिता में प्रेम पैदा किया। उसने नींद और जागृति का निर्माण किया। अहुरमज्दा बुद्धि का अधिष्ठाता है, उसने बुद्धि द्वारा विश्व बनाया। बुद्धि से ही वह उस पर राज्य करता है। वह सर्वज्ञानी, दूरदर्शी, सर्वदर्शी और त्रिकालदर्शी है। उसकी पैनी दृष्टि अन्तर्यामी है। उसे कोई धोखा नहीं दे सकता।" समस्त प्रकृति ईश्वर के अधीन है। प्रकृति के विभिन्न उपादानों का संचालन उन्हीं के द्वारा होता है। प्रसिद्ध पारसी पुजारी ईदल-दास उसके सृष्टि कर्त्तृत्व के संदर्भ में उल्लेख करते हैं कि सृष्टिकर्त्ता ईश्वर पवित्र और महिमापूर्ण है। उसका अपना कोई रूप नहीं है और न कोई उसके समतुल्य है। उसने सभी सत्ताओं की सृष्टि की है और वह ही उनका आधार है। वह स्वयं तो सर्वदा एक रूप बना रहता है और जगत् की अनेक रूपता का कारण है। याकूब मसीह के अनुसार "Ahura Mazda is the first and the foremost being. He is the creator of the whole universe angels, animals and man. This creator takes place out of the creative and spontaneous free act of God. He created human beings and their spirits, breathed life in their bodies and endowed them with the freedom of will."

ए.आर. महापात्र के अनुसार "Ahura Mazda is the supreme, all pervading, the protector, creator, sustainer and the knower. All that is good and beneficial in the creation flows from him and everything that is opposite to him is the creation of Ahriman. " अर्थात् इस संसार में जितने शुभ हैं उनका निर्माता अहुरमज्दा है और जितने अशुभ हैं, उनका निर्माता अहरिमान है, अहुरमज्दा का विरोधी देवता अहरिमान है। अहरिमान अंधकार और बुराई का देवता है। इसकी तुलना अंधकार से की जाती है। इस प्रकार अहुरमज्दा और अहरिमान (Ahriman) नामक दो विरोधी सत्ताओं को पारसी धर्म में स्वीकार किया गया है। अवेस्ता के अंश 'यस्न' में इनका चित्रण इस प्रकार हुआ है—'At beginning of the things there existed two spirits Ahura Mazda and Ahriman; they represent good and evil. These two divine beings meet to create life and morality and all the world that was to be. The evil one was created for the wicked, for the pure and pious was created Ahura Mazda.'

इस प्रकार पारसी धर्म में प्रकाश का प्रतीक अहुरमज्दा और अन्धकार का प्रतीक अहरिमान है। आर्थर एन्थोनी मैक्डोनल्ड ने भी पारसी धर्म के संदर्भ में कुछ ऐसा ही चित्रण किया है "The World of spirits is

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

divided into good and evil, as well as the world of men; Ahriman being the chief not only of evil spirits, but of human unbelievers as well."

इस प्रकार अहुरमज्दा और अहरिमान के चित्रण से पारसी धर्म में द्वैतवाद का भ्रम होता है। प्रो. के. एन.मित्रा ने 'Dynamics of Faith' में पारसी धर्म को द्वैतवादी और अद्वैतवादी दोनों ही माना है। (So, the religion of Zoroaster may be said to be both dualistic and monotheistic.) भले ही कुछ विद्वान् पारसी धर्म में अहुरमज्दा और अहरिमान के रूप में द्वैतवाद का रूप देखते हों परन्तु वास्तव में पारसी धर्म शुद्ध एकेश्वरवादी है। डॉ. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा के अनुसार "यद्यपि अहरिमान, अहुरमज्दा जैसा प्रतीत होता है किन्तु वह अहुरमज्दा से भिन्न है। अहुरमज्दा शाश्वत है परन्तु अहरिमान शाश्वत नहीं है। एक निश्चित समय में अहरिमान का विनाश हो जाता है। ज्यों ही विश्व पूर्ण होगा त्यों ही इस सत्ता का अंत होगा। अहुरमज्दा के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि वह था, है और भविष्य में भी रहेगा। परन्तु अहरिमान के लिए हम सिर्फ इतना ही कह सकते हैं कि उसकी सत्ता भूत में थी, वर्तमान में है और भविष्य में इस सत्ता का अन्त हो जायेगा। इससे यह स्पष्ट होता है कि अहरिमान का अंत किसी न किसी दिन अवश्य होगा।" इसलिए पारसी धर्म को एकेश्वरवादी कहना अधिक युक्ति संगत होगा। कहा यह जाता है कि जिस समय पारसी धर्म का उद्‌भव हो रहा था उस समय पारसियों में अनेक देवी-देवताओं की पूजा का प्रचलन था। उस समय पृथ्वी, वृक्ष, वायु, सूर्य आदि की पूजा की जाती थी। इन देवताओं के अतिरिक्त पारसी अपने पूर्वजों की भी पूजा किया करते थे। जरथुस्त्र ने अनेकेश्वरवाद का घोर विरोध करते हुए कहा कि विभिन्न देवतागण एक ईश्वर अहुरमज्दा की अनेक अभिव्यक्तियां हैं।

अहुरमज्दा और मनुष्यों के बीच में 'स्पेंतामैन्यु' (Spenta Mainyu) नामक एक और शक्ति पर पारसी धर्म में विश्वास किया जाता है। जरथुस्त्र के अनुसार वह आधि दैविक और आधि भौतिक के बीच की कड़ी है। अहुरमज्दा द्वारा अपने विचारों में जो आदर्श और सम्पूर्ण अस्तित्व कल्पित किया जाता है, वही 'स्पेंतामैन्यु' है। गाथाओं में स्पेंतामैन्यु (Spenta Mainyu) को कहीं अहुरमज्दा का गुण या प्रतिनिधि, सहयोगी या उसी के समान बताया गया है। ईश्वर के सृजनात्मक इच्छा और विचार का क्रियात्मक सिद्धान्त स्पेंतामैन्यु एक पवित्र सत्ता है। वह अहुरमज्दा में ही निवास करता है। यद्यपि वह ईश्वर का अंग है फिर भी वह ईश्वर से भिन्न है। वह कोई व्यक्ति नहीं, बल्कि ईश्वर की सृजनात्मक शक्ति का द्योतक है। वह ईश्वर की सृजनात्मक क्रिया का प्रतीक है जिससे विश्व की सृष्टि होती है। कुछ लोग इसकी तुलना अद्वैत वेदान्त की 'माया' से करते हैं। कुछ लोग इसकी तुलना 'सगुण ब्रह्म' से करते है। याकूब मसीह अहुरमज्दा को 'अद्वैत वेदान्त के निर्गुण ब्रह्म' से और स्पेंतामैन्यु की तुलना 'सगुणब्रह्म' से करते हुए कहते हैं—"Here there is the conception of Spenta Mainyu who is the manifestation and projection of creative will and thought of Ahura Mazda. The two are co-eval and eternal one is the unmanifest and spenta Mainyu is its manifest form. Here one can easily discern the two forms of Brahma, 'nirgxna' and 'sagxna'. In other words, Ahura Mazda corresponds to the nirgxna Brahma of shankara and Spenta Mainyu corresponds to the notion of Ishvara in Shankara Advaita."

यहां इस विश्वातीत और विश्वरूप अहुरमज्दा की उपासना को स्वीकार किया गया है। गाथा के अनुसार अहुरमज्दा को केवल मन की आंखों से देखा जा सकता है। गाथा में यह भी कहा गया है कि उसका घर उच्चतम स्वर्ग में है, सारी पृथ्वी से ऊपर है और पुण्यात्माओं के हृदय में है। वह अत्यन्त दैव गुण युक्त और अपनी प्रजा या प्राणियों से कहीं अधिक महान् है, फिर भी वह इतना दूर नहीं है कि उस तक प्रार्थना न पहुंचे। वह मनुष्य के निकटतम प्रेममय सम्बन्धों से बंधा हुआ है। मनुष्य उसे पिता, बन्धु और मित्र मान सकता है। जो उससे मैत्री करना चाहें, वह उसका मित्र है, जो उससे प्रेम करे, उनसे वह प्रेम करता है। जरथुस्त्र भी अहुरमज्दा को अपना मित्र मानता है। जरथुस्त्र संकट के समय उसे पुकारता है और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वह मित्र की तरह दौड़ा आता है। जो लोग मनसा-वाचा-कर्मणा उसकी प्रार्थना करते हैं उन्हें अमरता, पवित्रता, शक्ति, पूर्णता आदि गुण मिल सकते हैं। मनुष्य पुण्य कार्य से, अपने साथियों से प्रेम करके उसकी कृपा पा सकता है। उसकी उपासना विश्वास, समर्पण, आत्मशुद्धि आदि से की जा सकती है। पारसी धर्म के इस विचार की पुष्टि करते हुए ए.आर. महापात्र लिखते हैं "Zoroastrianism is a religion of absolute faith, implicit confidence and unswerving devotion to Ahura Mazda. It is like the Bhakti Yoga, or the path of devotion in the dualistic phase of the universal religion of vedanta. It inculcates constant prayers, offerings, sacrifices and thanks giving by the devotee to Lord. Whatever a devotee wishes to attain, he must earnestly pray for the Ahura Mozda, who will grant his demands."

अर्थात् अहुरमज्दा में सम्पूर्ण समर्पण से हर कामना की पूर्ति संभव है। गाथा में कहा गया है कि वह सर्वत्र न्यायी है और सर्वथा स्तुत्य और सेवाओं का अधिकारी है। वह सर्वदा एक रूप बना रहता है। 'The Parsi Religion' पुस्तक में जान विल्सन ने लिखा है "मानव उसे अपनी समझ की ज्योति तथा ज्ञान के आधार से खोज सकते हैं। हम उसके प्रभाव का सतत् अनुभव करते हैं और उसके अद्भुत आश्चर्यपूर्ण कर्मों को भी निरीक्षित करते हैं।"

13.4 अशुभ की समस्या (The Problem of Evils)

प्राय: ईश्वरवादी धर्मों में 'अशुभ की समस्या' एक समस्या बनकर सामने आती है। ईश्वरवादियों के अनुसार ईश्वर सर्वशक्तिमान है। उसी ने सम्पूर्ण संसार का निर्माण किया है। सृष्टि के निर्माण के लिए उसे किसी अन्य सत्ता की सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती है। यदि वह किसी की सहायता ले तो उसकी सर्वशक्तिमत्ता पर प्रश्नवाचक चिह्न लग जायेगा। इसलिए ईश्वरवादी एक ईश्वर को ही संसार के कण-कण, अणु-अणु का सर्जक मानते हैं। वही स्रष्टा, भर्त्ता एवं हर्त्ता है। यदि वही सर्वस्व है तो प्रश्न उठता है कि संसार में अशुभ, अन्धकार, अन्याय, दुराचार, भ्रष्टाचार आदि कहां से आये? ईश्वर तो दयालु है, वह क्यों दूसरों के लिए कष्ट, दु:ख, संत्रास आदि का निर्माण करेगा। वह तो अच्छी से अच्छी व्यवस्था ही देना चाहेगा। वह संसार का पिता है। जब सांसारिक जगत् का पिता अपने बच्चों को हर सुख देने की कोशिश करता है तो संसार का पिता ऐसा क्यों नहीं करता? ये अनेक प्रश्न हैं जिससे ईश्वरवादियों में 'अशुभ की समस्या' उभरकर सामने आती है। इन प्रश्नों का विभिन्न धर्मों में अपने-अपने ढंग से समाधान दिया गया है। पारसी धर्म भी ईश्वरवादी धर्म होने के कारण 'अशुभ की समस्या' से संक्रांत है किन्तु यहां अशुभ की समस्या का समुचित समाधान दिया गया है।

पारसी धर्म में अशुभ को 'माया' या काल्पनिक नहीं माना गया है। यहां अशुभ को वास्तविक रूप में स्वीकार किया गया है। यहां शुभ और अशुभ दोनों ही सत्ता को स्वीकार किया गया है और यह माना गया है कि शुभ और अशुभ में सदा संघर्ष चलता रहता है। यह संभव नहीं कि शुभ हो और अशुभ न हो और यह भी संभव नहीं कि शुभ और अशुभ दोनों हो और उनमें संघर्ष न हो।

पारसी धर्म में अशुभ का कारण अहुरमज्दा (ईश्वर) को न मानकर अहरिमान (अंगरामैन्यु) को माना गया है। यह शुभ का शत्रु है। विश्व में जहां भी अन्याय, अनीति, अशुभ, बुराई, दु:ख, दैन्यता, अभाव, अन्धकार है वह सब अहरिमान के कारण है। पारसी धर्म में अहरिमान की सत्ता को स्वीकार कर अशुभ की व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। अहरिमान एक सशक्त कारण है। सशक्त कारण के होने पर अशुभ कार्य का होना यहां स्वाभाविक माना गया है। इस धर्म की मान्यता है "Creation means finitization of the Infinite. Hence, imperfection is the inevitable result of creation. When Spenta-Mainyu tried to creat a good world, its counterpart in the form of Ahriman or Angra Mainyu introduced evil in the world. Drought, famine, pestilence and all sorts of evil in the world are due Ahriman and his associates."

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पारसी धर्म में जहां अशुभ का कारण अहरिमान को स्वीकार किया गया है और उसके कारण अशुभ को वास्तविक माना गया है वहीं अशुभ को अशाश्वत भी माना गया है क्योंकि अहरिमान भी अशाश्वत है। वह अतीत में था, वर्तमान में है पर एक न एक दिन अवश्य समाप्त होगा। उसके समाप्त होने से अशुभ भी समाप्त होगा। चूंकि अहुरमज्दा और अहरिमान का संघर्ष चलता रहता है। पारसी धर्म का यह विश्वास है कि एक न एक दिन अहरिमान का विनाश होगा। अहरिमान के विनाश के साथ अशुभ के विनाश का चित्रण पारसी धर्म में इस प्रकार है—"With the destruction of Ahriman, there will be the final conquest of evil by good. Thus, Ahriman is not eternal, is not omniscient and omnipotent. Evil, as such is secondary and the good Ahurmazda alone is eternal and absolutely real. Thus, the dualism of Parsism finally gives way to strict monotheism. Ultimately man has to triumpth over evil through his Humta (good thought), Hukhta (good word) and Hvarshta (good deeds), which lie enshrined in the heart of reality."

अर्थात् अहरिमान के विनाश के बाद अंतिम विजय अशुभ पर शुभ की होगी। इस प्रकार अहरिमान, शाश्वत, सर्वशक्तिमान नहीं है। बुराई या अशुभ गौण है। मुख्य रूप से अहुरमज्दा और शुभ ही वास्तविक है। अन्ततः शुभ की अशुभ पर विजय होती है। शुभ की विजय का कारण अच्छे विचार, अच्छे शब्द और अच्छे कार्य हैं।

इतना होने पर भी अशुभ की यहां समग्रता से उपेक्षा नहीं की गयी है। जरथुस्त्र के अनुसार जीवन में शुभ और अशुभ दोनों परस्पर विरोधी शक्तियों का महत्त्व है क्योंकि अशुभ की उपस्थिति से ही शुभ का मूल्य आंका जाता है। जीवन में सुख जितना सत्य है उससे कम दुःख नहीं है। एक की उपस्थिति से दूसरे का महत्त्व जाना जाता है। अशुभ शुभ का विरोध करता है तथा उसका अपना महत्त्व निर्धारित करता है। अशुभ के अभाव में शुभ का मूल्यांकन करना कठिन है। अतः पारसी धर्म में अशुभ को शुभ का मापदण्ड बतलाया गया है। याकूब मसीह के अनुसार "Whether the later or earlier view be taken into account, for the Parsi evil is evil and real and should not be explained away as 'Maya' or an appearance only to a finite view in things. Bradley held that every evil is really good if it be perceived from a wider and deeper point of view. For example, cow-dun is bad when it soils the cloth, but is good if it is used for cleaning the house or for fertilizing the land. For a Parsi evil is not only a foil to the good, as Leibnitz held, but has to be fought, against and fully controlled through the wisdom granted to us by Spenta Mainyu."

अतः पारसी धर्म अशुभ से बचने के लिए मानव को प्रेरित करता है। यहां शुभ और अशुभ कर्मों का उत्तरदायी मनुष्य को ही माना गया है। कहा गया है कि मृत्यु के उपरान्त आत्मा मृतक शरीर के चारों ओर तीन दिन तक परिभ्रमण करती रहती है। चौथे दिन आत्मा के कार्य की जांच होती है तब संसार से नाता टूटता है। आत्मा को 'उर्बन' कहा गया है। सत्कर्म और कुकर्म का जिम्मेदार 'उर्बन' है। उर्बन द्वारा किये गये शुभ-अशुभ कर्मों का परिणाम स्वर्ग तथा नरक है। अवेस्ता में कहा गया है—"Man is free in his choice, he can select the good or bad, hence he is responsible for his actions."

स्वर्ग और नरक के बीच अन्तर्वर्त्ती स्थान की भी कल्पना है, यहां वे आत्माएं रहती हैं जिनका निर्णय नहीं हुआ रहता। इस प्रकार शुभ-अशुभ के लिए मानव उत्तरदायी है। अतः उसे अशुभ से संघर्ष कर और ईश्वर में समर्पित होकर कार्य करने से अशुभ पर वह विजय प्राप्त कर सकता है—"Hence, man has to keep himself on his guard and discipline his mind, thought and acts. He has to pray to his God with full devotion so that he may trumph over the evil."

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पारसी धर्म में अशुभ वास्तविक है, इसका कारण अहरिमान है। शुभ की प्रतिष्ठापना के लिए भी अशुभ आवश्यक है। अशुभ की उपस्थिति से शुभ का मूल्य आंका

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जाता है। इतना होने पर भी जीवन का लक्ष्य शुभ के लिए प्रयत्नशील रहना और अशुभ पर विजय प्राप्त करने के लिए ईश्वर में पूर्ण समर्पित होना चाहिए। ऐसा करने से अशुभ से निजात पाया जा सकता है।

अत: ईश्वर और अशुभ के संदर्भ में पारसी धर्म में निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

1. ईश्वर एक, अतीन्द्रिय, अन्तर्यामी, सर्वज्ञ, शुभ एवं सृष्टिकर्त्ता है।
2. ईश्वर यहां अहुरमज्दा (बुद्धि का महान् स्वामी) के नाम से अभिहित है।
3. अहुरमज्दा की सृजनात्मकता 'स्पेंतामैन्यु' में है।
4. अहुरमज्दा सभी व्यक्तियों को संकल्प की स्वतंत्रता प्रदान करता है ताकि सब अपने कर्मों के उत्तरदायी स्वयं हो।
5. अहुरमज्दा बलि नहीं, वरन हृदय की भक्ति चाहता है।
6. अशुभ वास्तविक है।
7. अशुभ का कारण अहरिमान है।
8. शुभ की प्राप्ति के लिए अशुभ से संघर्ष आवश्यक है।
9. पारसी धर्म का दृढ़ विश्वास है कि अन्त में अशुभ की पराजय होगी और शुभ की विजय।
10. शुभ की विजय के लिए ईश्वर में भक्ति, निष्ठा एवं समर्पण भी जरूरी है।

13.5 नैतिक विचार

अवेस्ता में नैतिकता को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। इसलिए नीतिशास्त्र का पारसी धर्म में महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहां मनुष्य के कर्त्तव्य को प्राथमिकता दी गयी है और यह माना गया है कि मनुष्य का प्रमुख कर्त्तव्य बुराई से लड़ना और बुराई को मिटाकर अपने चरित्र को उज्ज्वल बनाना है। जब तक मानव में बुराई का वास है तब तक मानव कभी अच्छा मानव कहला ही नहीं सकता। विशुद्ध मानव के लिए उसके चरित्र की शुद्धता आवश्यक है। आर्थर एन्थोनी मैक्डोनल के अनुसार "Now what is the morality of the Avesta? It is certainly not pure morality in the modern sense. For it involves not only man's action towards his fellow man, but also action concerned with superstition inherited from a more primitive period. The duties of man here largely consist in the immediate fight with the evil spirits, especially in sacrifice and ritual. For the priesthood, the performance of the cult is nothing but a fight against the evil spirits and a system of purifications to expel the evil spirits pervading nature and human life."

पारसी धर्म क्रियाकाण्ड या कर्मकाण्ड प्रधान धर्म नहीं अपितु विश्वास, समर्पण एवं नैतिकता का धर्म है। पवित्र भावना, अच्छी वाणी, पवित्र विचार, अच्छे कार्य, शुद्धता, ईमानदारी, सत्य एवं दया प्रधान धर्म है। ये गुण प्रत्येक मनुष्य में यहां आवश्यक माने गये हैं। दान और परोपकार का भी यहां बहुत महत्त्व है। गरीबों की सहायता करना इस धर्म की एक प्रमुख मान्यता है। परोपकार इस धर्म का सार है। दूसरे के साथ ईमानदारी का व्यवहार करना इस धर्म का मूलमंत्र है। दान इस धर्म का एक आवश्यक सद्गुण है। दान के द्वारा पीड़ितों, अभावग्रस्तों, जरूरतमंदों की मदद की जा सकती है। उन्हें ऊपर उठाया जा सकता है। ए.आर. महापात्र के अनुसार "Zoroastrianism is not a system of Philosophy but a revealed religion of faith, devotion and morality. Ahura Mazda and prophet zoroaster are two main sources of this religion. Holy spirit, good words, good thoughts, good deeds, purity, honesty, truthfulness, kindness etc., are the essential virtues of each person. Charity is made an essential part of religion and the service of the poor is particularly emphasised. Charity is one of the cardinal virtues of this religion."

अवेस्ता में भौतिक समृद्धता के स्थान पर आध्यात्मिक समृद्धता को महत्त्व दिया गया है। यहां यह स्पष्ट कहा गया है कि जो आध्यात्मिक समृद्धता की कुर्बानी देकर भौतिक समृद्धता को स्वीकार करते हैं, वरीयता देते हैं वे अहुरमज्दा और उसके स्वर्ग से दूर हो जाते हैं। अवेस्ता की शिक्षा है "Do not acquire the riches of the material world at the cost of the spiritual world. For he who destroys the spiritual

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

world in order to obtain the riches of the material world shall possess neither the celestial light nor the paradise of Ahura Mazda."

यहां अहिंसा को भी सद्गुण माना गया है, परन्तु अत्यावश्यक होने पर हिंसा भी स्वीकार है। सांप, बाघ एवं अन्य हिंसक जन्तुओं के हिंसा की यहां अनुमति है। इस प्रकार पारसी धर्म पूर्णत: हिंसा के त्याग का आदेश प्रदान नहीं करता है। यहां यह भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि अपने शत्रुओं से डटकर मुकाबला करना चाहिए, शत्रुओं को हानि पहुंचाने में कोई कसर नहीं छोड़नी चाहिए। अवेस्ता की कुछ पंक्तियां इसे पुष्ट करती हैं—

"विरोधियों का हथियार से मुकाबला करो। उनको पराजित करना अधर्म नहीं है।"

"दुश्मनों के साथ दुश्मन जैसा व्यवहार करो और मित्रों के साथ मित्र जैसा व्यवहार करो।"

पारसी धर्म में लालच, अहंकार, निर्दयता, चोरी, असत्य, हिंसा, ईर्ष्या, हत्या, मारपीट आदि बुराइयों की निन्दा की गयी है। धोखा देना, गाली देना, भीख मांगना, फिजूलखर्ची, घमण्ड, कृपणता आदि के त्याग करने पर बल दिया गया है। कर्ज को भी निन्दनीय माना गया है। मनुष्य को कर्ज लेने की यहां अनुमति नहीं दी गयी है क्योंकि कर्ज लेने में और देने में झूठ का प्रश्रय लेना पड़ता है। वैसे किसी भी परिस्थिति में कर्ज नहीं लेना चाहिए किन्तु यदि कर्ज ले लिया है तो उसे हर कीमत पर अदा करना चाहिए।

यहां संन्यास को भी प्रश्रय नहीं मिला है। यहां कर्त्तव्य पर बल दिया गया है। कार्य के आधार पर समाज के वर्णों का विभाजन भी यहां स्वीकार किया गया है। यह विभाजन हिन्दू धर्म की तरह इस प्रकार है—1. होरिस्तान (पुरोहित), 2. नूरिस्तान (योद्धा), 3. रोजिस्तान (कृषि करने वाले), 4. मोरिस्तान (सेवा करने वाले)

विवाह को आवश्यक सामाजिक धर्म माना गया है। अविवाहित जीवन को यहां अच्छा नहीं माना गया है परन्तु बहु-विवाह भी स्वीकार नहीं है।

इस धर्म में परोपकार एवं दान की महत्ता के कारण शव के शरीर को दूसरे जीव-जन्तुओं के उपयोग के लिए समझा जाता है। इसलिए इस धर्म की अन्त्येष्टि क्रिया भिन्न है। पारसी धर्म मानने वाले न तो शव को दफन करते हैं और न ही उसका दाह संस्कार करते हैं अपितु शव को पत्थर के ऊंचे चबूतरे, वृक्ष या पहाड़ की चोटी या घर की छत पर रखे जाते हैं। शव का उपयोग गृद्ध आदि पक्षी एवं जानवर अपने ढंग से करते हैं। इस प्रकार यह जीव-जन्तुओं के उपयोग में आता है। इसके अतिरिक्त एक दूसरी भावना यह है कि पारसी लोग अग्नि, भूमि और जल को पवित्र मानते हैं अत: उन्हें दूषित होने से बचाने के लिए इस प्रकार की अन्त्येष्टि क्रिया अपनाते हैं।

अत: यह कहा जा सकता है कि इस धर्म में नैतिकता मूल है। धर्म का सार सत्य है, नियम का सार गुण है। मानव जीवन के प्रत्येक कार्य में पूर्ण शुद्धता ही नैतिकता है। जीवन को पूर्ण बनाना ही सुख है। अवेस्ता में कहा गया है—"The essence of religion is truth, the essence of law is virtue. It is said righteousness is the best acquisition of man, the world's highest riches. The note of Zoroastrian morality is perfect purity in every action of personal life. Ahura Mazda elevates man to the highest order. It says that the highest aim of man is perfect happiness, which consists firstly, in making his life perfect and secondaly, in enjoyment of the champianship."

'अपना पद और अपना कर्त्तव्य' पारसी धर्म की नैतिकता का मूल है जिसे 'यश्ना' में इन शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है—"Through what classes, the priest, warrior, agriculturist, artisan, through the whole duty pertaining to the righteous man, to think rightly, to speak rightly, to appoint a spiritual guide, (and) to fulfil religious duties, through which works the earthly settlements advance in righteousness."

अस्तु कर्त्तव्य पालन इस धर्म का मूल है। शुद्धता इस धर्म का भूषण है। शुद्धता का स्थान ईश्वर के बाद ही समझा जाता है। अत: पारसी धर्म की नैतिकता जीवन की विशुद्धता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

13.6 जैनधर्म और पारसी धर्म में तुलना

जैनधर्म भारत के उत्कृष्ट धर्मों में से एक है। निरस्सीम शांति की खोज एवं उच्च उपलब्धि का आधार है जैनधर्म। भगवान् ऋषभ द्वारा प्रवर्तित एवं अन्य तेइस तीर्थंकरों द्वारा मर्यादित तथा गणधरों और आचार्यों द्वारा विकसित जैनधर्म अपने निवृत्तिपरक वैशिष्ट्य के कारण विश्व में एक विलक्षण धर्म है। जिसमें वाणी, विचार और आचार सबको परिशुद्ध करने पर बल दिया गया है। आचार की शुद्धि जैनधर्म की मूल मान्यता है। शुद्ध आचार के बिना किसी भी जीव को महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मिल सकता। शुद्ध आचार समाज का शृंगार है। जिस समाज के व्यक्तियों में आचार की शुद्धता नहीं होती वह समाज ज्यादा समय तक जीवित नहीं रह पाता। इसलिए जैनधर्म में आचार पर बहुत बल दिया गया है। पूरा का पूरा आचारांगसूत्र 'आचार' का ही अभिलेख है। श्रमण जीवन की मूल भित्ति ही आचार है। श्रमण जीवन की साधना भी आचार पर निर्भर है और संघीय व्यवस्था भी आचार पर ही अवलम्बित है। आचारांग की चूर्णि में तो यहां तक कहा गया है "अतीत, वर्तमान और भविष्य में जितने भी तीर्थंकर हुए हैं और होंगे, उन सभी ने सर्वप्रथम आचार का ही उपदेश दिया है, देते हैं और देंगे। जैनधर्म यह भी मानता है कि जैसा आचार होगा वैसा ही विचार भी प्रस्फुटित होगा। यदि जीवन में अहिंसा, अपरिग्रह, समता, सहिष्णुता, विनम्रता, सहृदयता आदि गुण मूर्तित हैं तो विचार शुद्ध, सात्विक एवं अनेकान्तिक अवश्य होगा। जिनका आचार शुद्ध नहीं होता प्रायः वही पूर्वाग्रही एवं एकान्तिक दृष्टिकोण रखने वाले होते हैं। यदि विचार शुद्ध होगा, चिन्तन शुद्ध होगा, संकल्प शुद्ध होगा तो वही वाणी में भी प्रस्फुटित होगा। विचार के अनुरूप वाणी को बनाने के लिए जैनदर्शन में स्याद्वाद को प्रतिष्ठित किया गया है। आत्मसाक्षात्कार इस धर्मदर्शन का मुख्य उद्देश्य है। जैनधर्म की सम्पूर्ण साधना को आत्मसाधना कहना कोई असंगतपूर्ण कथन नहीं होगा। आत्मशुद्धि मूलक पवित्र जीवन के लिए अहिंसा, समता, अप्रमाद, अनासक्ति, निस्पृहता, निस्संगता, सहिष्णुता, उत्कृष्ट संयम साधना, तप की आराधना एवं मानसिक पवित्रता को आवश्यक माना गया है। आत्म साधना का अंतिम निकष यहां मोक्ष (निर्वाण) को माना गया है। आचारांग निर्युक्ति में स्पष्ट विवेचन है, "अंग सूत्रों का सार आचार है, आचार का सार अनुयोगार्थ है, अनुयोगार्थ का सार प्ररूपणा है, प्ररूपणा का सार सम्यक् चारित्र है, सम्यक् चारित्र का सार निर्वाण है और निर्वाण का सार अव्याबाध सुख है।"

एक तरफ आत्म साधक, आत्म आराधक, आत्म सम्बर्द्धक भारतीय मूल का धर्म जैनधर्म है। तो दूसरी तरफ ईश्वर साधक, ईश्वर आराधक ईरानी मूल का धर्म पारसी धर्म है। दोनों धर्मों की अपनी-अपनी विशेषताएं हैं और अपनी-अपनी मान्यताएं हैं। यहां दोनों धर्मों की मूल मान्यताओं में तुलना अपेक्षित है। यद्यपि दोनों धर्मों के मूल आधार एवं उद्देश्य में अन्तर होते हुए भी दोनों धर्मों में कुछ समानताएं परिलक्षित होती हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. दोनों ही धर्म अध्यात्मवादी हैं। पारसी धर्म आध्यात्मिक ईश्वर को मानता है तो जैनधर्म आध्यात्मिक आत्मा को।
2. दोनों ही धर्म आशावादी है। स्थायी निराशावाद के लिए दोनों धर्मों में कोई स्थान नहीं है।
3. दोनों ही धर्मों में वाणी, विचार एवं क्रिया शुद्धि पर बल दिया गया है।
4. दोनों ही यह मानते हैं कि शुभ कर्म द्वारा अशुभ कर्म की निवृत्ति की जा सकती है।
5. दोनों ही धर्मों में पशुबलि के लिए कोई स्थान नहीं है।
6. दोनों ही धर्म स्वर्ग और नरक में विश्वास करते हैं।
7. दोनों ही धर्मों में नैतिकता पर विशेष बल दिया गया है।

उपर्युक्त समानता के पश्चात् विवेच्य विषयों में अन्तर स्पष्ट कर लेना यहां प्रासंगिक है।

13.6.1 ईश्वर की दृष्टि से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पारसी धर्म शुद्ध एकेश्वरवादी धर्म है। यहां एक ही ईश्वर 'अहुरमज्दा' को स्वीकार किया गया है। यह परमेश्वर एक है, महान और पवित्र है। यह सर्वथा नैतिक शुभ का अभिलाषी है। यह कभी पशुबलि से प्रसन्न नहीं होता, यह शुद्ध विचारों एवं कार्यों से प्रसन्न होता है। वही सृष्टि का कर्त्ता, पालक एवं संहारक भी है। वह था, है और सदा रहेगा। कहा भी गया है—'He was, He is and He will be the same transcendent being, moving all and yet moved by none. He is immanent also.'

पारसी धर्म का शुद्ध एकेश्वरवाद जैनधर्म में अनेकान्तवाद के रूप में दिखाई पड़ता है। उसका शुद्ध ईश्वर यहां शुद्ध परमात्मारूप माना जा सकता है। पारसी ईश्वर की आराधना करते हैं, जिसे 'अहुरमज्दा' कहा है जबकि जैन आत्मा की आराधना करते हैं, जिसे किसी वैयक्तिक संज्ञा से अभिहित नहीं किया गया है। श्री नगीन जे. शाह ने अपनी पुस्तक 'Jain Philosophy & Religion' में ईश्वर और आत्मा का चित्रण करते हुए कहा है—"God is that soul who has completely removed all the Karmas. Thus He is not in any way different from the liberated soul. To attain liberation is to attain Goodhood. The meaning of the term 'Isvara' is powerful. So the term 'Isvara' can very well aply to the soul that has become powerful by attaining its perfectly pure nature constituted of four characteristics viz. Infinite knowledge, infinite vision, infinite power and infinite bliss."

अर्थात् कर्म रहित आत्मा ही ईश्वर है। इस प्रकार मुक्त आत्मा किसी भी रूप में ईश्वर से पृथक् नहीं है। मोक्ष प्राप्ति ही ईश्वर प्राप्ति है। अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य एवं अनंत आनंद प्राप्त आत्मा ही ईश्वर है। इतना होने पर भी पारसी धर्म में ईश्वर का सृष्टि कर्तृत्व रूप जैनधर्म में किसी भी रूप में दृष्टिगोचर नहीं होता है। यहां ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता या संहारकर्त्ता, पालनकर्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। नगीन जे. शाह के अनुसार "In short, according to the Jainas, God is not the creator of the world. For them He is a perfected soul. He is absolutely pure. He is destroyed all passions and removed all impurities. As a result of this, he manifests infinite knowledge, infinite vision infinite bliss and infinite power. That is the reason why he regarded as God."

अर्थात् जैनधर्म के अनुसार ईश्वर सृष्टिकर्त्ता नहीं है वह तो शुद्ध आत्मा है। वह पूर्णतया शुद्ध है। उसकी सारी भावनाएं एवं इच्छाएं दूर हो चुकी हैं। उसने अनंत चतुष्टय को प्राप्त कर लिया है।

चूंकि जैनदर्शन सृष्टि को अनादि मानता है, अतः उसे सृष्टिकर्त्ता के लिए किसी ईश्वर को मानने की आवश्यकता ही नहीं है। जब सृष्टि की उत्पत्ति ही नहीं तो सृष्टिकर्त्ता को ढूंढने का औचित्य ही क्या? यहां तो सृष्टि छः द्रव्यों का समवाय है। सुख और दुःख भी पौद्गलिक कर्मों की देन है, इनके लिए भी किसी ईश्वर को स्वीकार करने की अपेक्षा नहीं है। जैनधर्म में कहा गया है—"The entire world constituted of the sentient and insentient substance is governed by the laws of nature. Pleasures and pains experienced by a living being depend on the material traces (karmas) left by the acts performed by it. Absolutely pure and attachment free God is not pleased with some, nor is He displeased with others. This is because He is supreme soul with no taint or defilement what so ever and absolutely free from attachment."

इस प्रकार पारसी धर्म के ईश्वर का जगत् कर्तृत्व जैनधर्म को मान्य नहीं है।

13.6.2 अशुभ की दृष्टि से

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो चुका है कि पारसी धर्म में अशुभ को स्वीकार किया गया है किन्तु इस अशुभ का कारण अहरिमान है। यहां शुभ का कारण स्पेंतामैन्यु को माना गया है। कहा गया है 'When Spenta Mainyu tried to create a good world, its counterpart in the form of Ahriman or Angra Mainyu introduced evil in the world.' अर्थात् जब स्पेंतामैन्यु संसार में शुभ उत्पन्न करने का प्रयास करता है तो विरोधस्वरूप अहरिमान (एंग्रामैन्यु) संसार में अशुभ को उत्पन्न करता है। किन्तु अहरिमान द्वारा उद्भूत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अशुभ को यहां शाश्वत नहीं माना गया है। अन्ततः अशुभ का विनाश और शुभ की विजय होगी, ऐसा पारसी धर्म का विश्वास है।

जैनधर्म में शुभ, अशुभ का कारण कर्म को माना गया है। पौद्गलिक कर्म की विभिन्न प्रकृतियां शुभ, अशुभ के विभिन्न स्वरूपों का कारण है जैसे सातावेदनीय सुख का और असातावेदनीय दुःख का कारण है। शुभनाम कर्म के उदय से जीव शारीरिक और वाचिक उत्कर्ष पाता है तथा अशुभ नाम कर्म के उदय से जीव शारीरिक और वाचिक अपकर्ष पाता है। उच्च शुभकर्म से जीव विशिष्ट बनता है उससे जाति विशिष्टता, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ एवं ऐश्वर्य विशिष्टता प्राप्त होती है और नीच गोत्र कर्म के उदय होने से उपर्युक्त हीनता प्राप्त होती है। क्रिया जब शुभ होती है तो शुभकर्म परमाणु और वह जब अशुभ होती है तो अशुभ कर्म परमाणु आत्मा से आ चिपकते हैं और वही पुण्य, पाप के रूप में सामने आते हैं। शुभ-अशुभ कर्म एवं पुण्य-पाप दोनों को यहां मोक्ष में बाधक माना गया है। योगीन्दु ने परमात्म प्रकाश में पुण्य काम्य नहीं है का उल्लेख करते हुए कहते हैं—**"पुण्णेण होई विहवो, विहवेण मओ मएण मइमोहो।**
मइमोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होऊ॥"

अर्थात् पुण्य से वैभव, वैभव से अहंकार, अहंकार से बुद्धिनाश और बुद्धि नाश से पाप होता है। इसलिए हमें वह नहीं चाहिए।

आचार्य भिक्षु ने भी कहा है—पुण्य की इच्छा करने से पाप का बन्ध होता है। दसवेआलियं में भी कहा गया है कि इहलोक, परलोक, पूजाश्लाघा आदि के लिए धर्म मत करो, केवल आत्मशुद्धि के लिए धर्म करो। भगवान् महावीर ने कहा है कि पुण्य और पाप—इन दोनों के क्षय से मुक्ति मिलती है। जीव शुभ और अशुभ कर्मों के द्वारा संसार में परिभ्रमण करता है।

इस प्रकार जैनधर्म में अशुभ, अन्धकार, पाप, अन्याय, अनीति का कारण कोई अहरिमान नहीं, अपितु व्यक्ति के अपने कर्म हैं। व्यक्ति का कोई नियन्ता नहीं अपितु व्यक्ति का अपना नियन्ता उसका अपना कर्म है। अतः जैनधर्म का मानना है कि हर व्यक्ति को कर्म को बंधने से रोकना चाहिए और बंधे हुए कर्मों को क्षीण कर मुक्ति की दिशा में अग्रसर होना चाहिए।

13.6.3 नीतिशास्त्र की दृष्टि से

जैन नीतिशास्त्र के अन्तर्गत व्रतों का अत्यधिक महत्त्व है। व्रत से साधक अपनी शक्ति को केन्द्रित करके अपने महान उद्देश्य की प्राप्ति में लग जाता है। व्रतों का मूल उद्देश्य कर्मों की निर्जरा है। आत्मशुद्धि, परमात्मभाव की प्राप्ति और वीतरागता की उपलब्धि भी व्रतों का उद्देश्य है। कोई भी भौतिक, सांसारिक लिप्सा, स्वार्थ, भय, प्रलोभन व्रतों का उद्देश्य नहीं है। भगवान् महावीर की वाणी को आचार्य शय्यम्भव ने उद्घोषित करते हुए कहा है—"न इस लोक के प्रयोजन के लिए धर्म का आचरण करें और न पारलौकिक प्रयोजन के लिए ही, न कीर्ति, प्रशंसा, प्रशस्ति की इच्छा से धर्माचरण करें अपितु केवल कर्मों की निर्जरा हेतु ही धर्माचरण किया जाय ताकि आत्मशुद्धि संभव हो।" व्रतों में जैनधर्म में अणुव्रत और महाव्रत को श्रेष्ठव्रत माना गया है। गृहस्थों के लिए अणुव्रत और साधुओं के लिए यहां महाव्रत का विधान है। ये व्रत आत्मशुद्धि के लिए आवश्यक है। जबकि पारसी धर्म में कर्त्तव्य को स्वीकृति मिली है और कहा गया है कि हर व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। यहां व्रत या कर्त्तव्य आत्मा की शुद्धि के लिए नहीं अपितु सामाजिक व्यवहार को समुचित बनाने के लिए स्वीकार किया गया है। कहा गया है—"If we analyse their moral system in detail, we find that from the personal point of view the duties held in greatest regard were self-control and temperance."

जैनधर्म में अहिंसा को मूलमंत्र माना गया है। यहां सर्वतो भावेन अहिंसा के पालन पर जोर दिया गया है। आचारांगसूत्र में कहा गया है—"सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेतव्वा,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ण परिधेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे णितिए सासए समेच्च लोयं खेतण्णेहिं पवेदिते।" अर्थात् कोई भी प्राणी, कोई भी जन्तु, कोई भी जीव, कोई भी प्राणवान मारा नहीं जाना चाहिए, शासित नहीं किया जाना चाहिए, गुलाम नहीं बनाया जाना चाहिए, सताया नहीं जाना चाहिए। यह अहिंसा धर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है। यद्यपि पारसी धर्म में भी अहिंसा को सद्गुण के रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु आवश्यकता पड़ने पर हिंसा भी यहां स्वीकार है। चूंकि यहां शत्रुओं के साथ शत्रुता के व्यवहार को मान्यता मिली है। अतः पारसी धर्म पूर्णतः हिंसा के त्याग का आदेश नहीं देता है। यहां हिंसक जीव-जन्तुओं की हिंसा को स्वीकृति मिली है। पारसी धर्म में शुद्धता पर बल दिया गया है। यह शुद्धता आत्मिक शुद्धता नहीं अपितु विचारों एवं कार्यों की शुद्धता से है जबकि जैनधर्म में समता पर बल दिया गया है। यहां समता को ही धर्म माना गया है। आचारांग का कथन है "समियाए धम्मे आरिएहिं पवेदिते।" अर्थात् तीर्थंकरों द्वारा समता में धर्म कहा गया है। अन्यत्र भी कहा गया है—

"समयं तत्थु वेहाए अप्पाणं विप्पसावए।
अणाण्ण परमं णाणी णो पमावे कयाइ वि॥"

अर्थात् जो समता को धारण करता है वह कभी प्रमाद नहीं करता और सदा प्रसन्न रहता है। वह हर परिस्थिति में तटस्थ रहने का अभ्यासी होता है।

जैनधर्म संन्यासवाद, वैराग्यवाद प्रधान धर्म है। यहां संसार की आसक्ति को छोड़कर आत्म साधना के लिए वैराग्य के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। यहां यह माना गया है कि गार्हस्थ्य जीवन की कुछ सीमाएं हैं जिसके कारण पूर्ण आत्मिक साधना संभव नहीं है जबकि पारसी धर्म संन्यासवाद और वैराग्यवाद से अछूता है। यहां गार्हस्थ्य जीवन को महत्त्व दिया गया है और विवाहित जीवन को मर्यादित जीवन माना गया है तथा अविवाहित रहने वालों की निंदा की गयी है। इस संदर्भ में जैनधर्म का एक पत्नीव्रत (ब्रह्मचर्य अणुव्रत) यहां स्वीकार है, ब्रह्मचर्य महाव्रत अस्वीकार है। जैनधर्म की कठोर साधना, उपवास, तप आदि को भी यहां स्वीकार नहीं किया गया है। मैक्डोनल कहते हैं कि "This is a clear indication how strongly the religon of Zoroaster was opposed to every form of asceticism. It is one of the very few religions in which this aspect of religion is absent."

अर्थात् पारसी धर्म में संन्यासवाद के किसी भी रूप का विरोध किया गया है। कुछ ही धर्मों में यह एक धर्म है जहां संन्यास स्वीकार नहीं है।

पारसी धर्म में कहा गया है कि जिससे हम यह समझते हैं कि वह हमारा नुकसान कर सकता है, हमें चोट पहुंचा सकता है, हमारा विरोध कर सकता है, उसे कभी माफ न करे। उसे सदैव पराजित करने का प्रयास करें जबकि जैनधर्म में यह कहा गया है कि बाहर आपका कोई विरोधी नहीं है। आपके सारे विरोधी आपके अन्दर हैं। ईर्ष्या, द्वेष, राग, मोह, क्रोध, मान, माया आदि अन्दर के विरोधियों को पराजित करो। भगवान् महावीर ने भी कहा कि यदि तू अपने शत्रुओं का हनन करना चाहता है तो अपने अन्दर के शत्रु क्रोध, मान, माया और लोभ का हनन करो। इस प्रकार जैनधर्म में भीतर के शत्रुओं को जीतने पर बल दिया गया है जबकि पारसी धर्म में बाहर के शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने को कहा गया है।

पारसी धर्म में वर्ण व्यवस्था मान्य है। इस धर्म में चार वर्ण 1. होरिस्तान (पुरोहित) 2. नूरिस्तान (योद्धा) 3. रोजिस्तान (कृषक) 4. मोरिस्तान (सेवक) मान्य हैं तो जैनधर्म में कर्म व्यवस्था मान्य है। यहां यह कहा गया है कि कर्म से व्यक्ति ब्राह्मण होता है और कर्म से क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है। द्रष्टव्य है—

"कम्मुणा बंभणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा॥"

पारसी धर्म में 'अग्नि' को पवित्र मानकर अग्निपूजा की महत्ता पर बल दिया गया है। यहां अग्निपूजा को धर्माचरण का आवश्यक अंग माना गया है जबकि जैनधर्म में अग्नि के साथ-साथ पृथ्वी, जल, वायु एवं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वनस्पति में जीव मानकर इन्हें एकेन्द्रिय जीवों के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। यहां इनकी पूजा जैसा कोई कर्मकाण्ड नहीं है।

पारसी धर्म में 'सामूहिक मुक्ति' की अवधारणा है। यहां यह कहा गया है कि एक व्यक्ति को केवल अपनी ही मुक्ति की कामना नहीं करनी चाहिए अपितु समस्त मानव की मुक्ति के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। जो व्यक्ति ऐसा नहीं करता वह अपने कर्त्तव्यों से विचलित हो जाता है। स्वयं अच्छा बनना किन्तु दूसरों को अच्छा न बनाना यहां एक स्वार्थपूर्ण कार्य माना गया है। व्यक्ति का उद्देश्य निजी मुक्ति को अपनाना नहीं अपितु दूसरों की मुक्ति के लिए प्रयास करना है जबकि जैनधर्म का मानना है कि कोई किसी को मुक्त नहीं कर सकता अत: सबको अपनी मुक्ति के लिए प्रयास करना चाहिए। अपने कर्मों को अपने ही प्रयासों से काटा जा सकता है अत: यहां वैयक्तिक मुक्ति ही मान्य है।

इस प्रकार दोनों धर्मों के अन्तर को निम्न चार्ट से भलीभांति समझा जा सकता है—

	पारसी धर्म		**जैनधर्म**
1.	प्राचीन किन्तु जैनधर्म की अपेक्षा नवीन है।	1.	जैनधर्म प्राचीन धर्म है।
2.	आधारभूत पवित्र ग्रन्थ जेन्दा अवेस्ता है।	2.	आधारभूत पवित्र ग्रन्थ आगम है।
3.	प्रवर्तक जरथुस्त्र हैं।	3.	प्रवर्तक ऋषभदेव हैं।
4.	ईश्वरवादी धर्म है।	4.	आत्मवादी धर्म है।
5.	शुद्ध एकेश्वर की मान्यता है।	5.	शुद्ध अनेकात्मा की मान्यता है।
6.	जगत् उद्भूत है।	6.	जगत् शाश्वत है।
7.	जगत् का कर्त्ता ईश्वर है।	7.	जगत् छ: द्रव्यों से युक्त है। इसका कोई कर्त्ता नहीं है।
8.	ईश्वर सर्वशक्तिमान एवं सर्वत्र है।	8.	परमात्मा सर्वशक्तिमान एवं सर्वत्र है।
9.	ईश्वर का नाम अहुरमज्दा है।	9.	परमात्मा अनाम है।
10.	शुभ का कारण स्पेंतामैन्यु और अशुभ का कारण अहरिमान है।	10.	शुभ एवं अशुभ का कोई दूसरा कारण नहीं अपितु अपने कर्म ही कारण हैं।
11.	अहिंसा के साथ-साथ हिंसा की छूट है।	11.	महाव्रत में हिंसा की कथमपि छूट नहीं मानी है।
12.	वर्ण व्यवस्था मान्य है।	12.	कर्म व्यवस्था मान्य है।
13.	संन्यास अस्वीकार है, गार्हस्थ्य जीवन को अच्छा माना गया है।	13.	संन्यास पर बल दिया गया है। गार्हस्थ्य जीवन की सीमा के कारण साधना की दृष्टि से अच्छा नहीं माना गया है।
14.	सामूहिक मुक्ति को महत्त्व दिया गया है।	14.	वैयक्तिक मुक्ति को महत्त्व दिया गया है।
15.	अहित करने वाला विरोधी है, अत: उसे पराजित करने पर बल दिया गया है।	15.	अहित करने वाला बाहर नहीं अन्दर है। अत: उसे पराजित करने पर बल दिया गया है।
16.	विचार एवं कार्य की शुद्धता पर बल	16.	समता, संयम पर बल
17.	स्वर्ग ही साध्य है।	17.	मोक्ष साध्य है।

13.7 सारांश

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पारसी धर्म नैतिकता प्रधान धर्म है जहां मनुष्य को 'अच्छा मानव' बनने पर बल दिया गया है जबकि जैनधर्म आत्मवादी धर्म है जहां मनुष्य को 'अच्छा मानव' की अपेक्षा 'मुक्त मानव' बनने पर बल दिया गया है। यही दोनों धर्मों का मूल अन्तर है।

13.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैनधर्म एवं पारसी धर्म की तुलना कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. पारसी धर्म के अनुसार ईश्वर के स्वरूप का विवेचन कीजिए।
2. पारसी धर्म के नैतिक सिद्धान्तों को स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. पारसी धर्म के प्रवर्तक कौन हैं?
2. जैनधर्म के आधारभूत ग्रन्थ क्या हैं?
3. पारसी धर्म में अशुभ का कारण किसे माना गया है?
4. पारसी धर्म के पवित्र ग्रन्थ का क्या नाम है?
5. पारसी धर्म में किसकी पूजा स्वीकार है?
6. पारसी धर्म में मोरिस्तान क्या है?
7. 'अहित करने वाला बाहर नहीं, अन्दर है' यह किस धर्म का कथन है?
8. सामूहिक मुक्ति किस धर्म में मान्य है?
9. आचारांग में समता को क्या माना गया है?
10. पारसी धर्म में शुभ का कारण क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. जरथुस्त्र
2. आगम
3. अहरिमान
4. अवेस्ता
5. अग्नि की पूजा
6. वर्ण व्यवस्था का एक अंग
7. जैनधर्म
8. पारसी धर्म में
9. धर्म
10. स्पेंतामैन्यु।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–14 जैनधर्म और कन्फ्यूशियस धर्म
(ईश्वर, मानव, नैतिक विचार)

संरचना

14.0 प्रस्तावना
14.1 उद्देश्य
14.2 कन्फ्यूशियस का परिचय
14.3 ईश्वर विचार
14.4 मानव विचार
14.5 नैतिक विचार
14.6 अन्य नैतिक उपदेश
14.7 जैन और कन्फ्यूशियस धर्म में तुलना
14.8 सारांश
14.9 अभ्यास प्रश्नावली

14.0 प्रस्तावना

छठी शताब्दी का काल धर्म के इतिहास में स्वर्णिम युग के नाम से जाना जाता है क्योंकि इस काल में विश्व के विभिन्न प्रदेशों में पारसी धर्म, बौद्ध धर्म, ताओ धर्म, कन्फ्यूशियस धर्म और जैनधर्म का विकास हुआ। चीन में कन्फ्यूशियस धर्म का उद्भव एवं विकास छठी शताब्दी ई.पू. में हुआ। लगभग इससे थोड़ा ही पहले चीन में ताओ धर्म का उद्भव हो चुका था। ताओधर्म का संस्थापक लाओत्से था जिसने अपने धर्म को आदर्शवाद की आधारशिला पर प्रतिष्ठित किया। इन्होंने अपने प्रस्थापित धर्म का नामकरण अपने नाम पर न करके अपने धर्म के मूल सिद्धान्त ताओ के नाम पर किया जबकि कन्फ्यूशियस धर्म का नामकरण इसके संस्थापक कन्फ्यूशियस के नाम पर ही हुआ।

कहते हैं कि एक ही देश में लगभग समकालीन जिन दो धर्मों का प्रवर्तन हुआ उनमें कुछ मूलभूत अन्तर थे। ताओधर्म का विकास विशिष्ट पुरुषों के लिए हुआ था जबकि कन्फ्यूशियस धर्म का विकास जनसाधारण के लिए संभव हुआ था। यही कारण है कि ताओ में दर्शन की महत्ता है जबकि कन्फ्यूशियस धर्म में नीतिशास्त्र की प्रधानता है। कन्फ्यूशियस धर्म का उद्देश्य उत्तम मानवता की प्राप्ति है जबकि ताओधर्म का मूल उद्देश्य चरमतत्त्व के स्वरूप का विश्लेषण प्रतीत होता है। इन धर्मों के अतिरिक्त चीन में बौद्धधर्म भी प्रचलित है। ये धर्म आपस में इतने घुलमिल गये हैं कि इन्हें अलग करना बहुत कठिन है। राधाकृष्णन् ने Eastern Religions and Western Thought में इसी तथ्य को प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि "चीन में ताओवाद, कन्फ्यूशियसवाद और बौद्धधर्म—ये तीनों इस खूबी से परस्पर घुलमिल गये हैं कि इन्हें एक-दूसरे से अलग करना बहुत कठिन है।"

कन्फ्यूशियस धर्म, कन्फ्यूशियस जैसे विराट् व्यक्तित्व के उपदेशों पर आधारित है। वे मूलतः एक धर्म प्रचारक थे। उन्होंने चीन की सभ्यता को प्रतिष्ठित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इसी संदर्भ को चित्रित करते हुए हस्टन स्मिथ ने अपने ग्रन्थ Religions of Man में लिखा है "यदि किसी एक व्यक्ति ने चीन की संस्कृति को प्रभावित किया है तो वह कन्फ्यूशियस है।"

14.1 उद्देश्य

यहां हमारा मूल उद्देश्य कन्फ्यूशियत धर्म के मूल विचारों को प्रस्तुत कर जैन धर्म से तुलना करना है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

14.2 कन्फ्यूशियस का जीवन–परिचय

कन्फ्यूशियस का वास्तविक नाम कुङ्ग फुत्जे था। ऐसा माना जाता है कि यूरोपीय विद्वानों ने इस नाम को उच्चारित करने में कठिनाई का अनुभव किया। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने इस नाम को लैटिन नाम में रूपान्तरित कर कन्फ्यूशियस की संज्ञा दी। यही कारण है कि यह धर्म कन्फ्यूशियस धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। ए.ए. मैक्डोनल ने अपने ग्रन्थ Comprative Religion में इसी तथ्य को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि Though confucius has given his name to a school, he did not claim to have founded one. He said of himself that he was a transmitter, not a creator, believing in and loving the ancients. His name is know to us in the Latinized form of the chinese kung futze, the philosopher king. His system is known in china as the school of learned or of scholars.

कन्फ्यूशियस का जन्म 551 ई. पू. में आधुनिक शुंगयुंग प्रान्त के लू नामक स्थान में हुआ था। इनके पिता का नाम शुलियांग था, जो एक सम्माननीय व्यक्ति थे। परन्तु जब वे तीन वर्ष के थे तो उनके पिता का देहान्त हो गया। उनकी माँ बहुत गरीब थी। इसलिए इनका बचपन बहुत सादगी एवं गरीबी में बीता। कन्फ्यूशियस ने स्वयं उल्लेख किया है कि जब मैं छोटा था तब मेरा कोई स्थान नहीं था और हमारी हालत बहुत नाजुक थी। अपने बचपन की याद में शिकार करना, मछली पकड़ना, धनुष चलाना आदि बातों का वे उल्लेख करते हैं जिससे पता चलता है कि वे किताबी कीड़े नहीं थे। 17 वर्ष की आयु तक कन्फ्यूशियस ने कविता, दर्शन, इतिहास, आध्यात्मिक विद्या आदि में दक्षता प्राप्तकर अपना अध्ययन सम्पन्न किया। चीन की जनता ने उन्हें 'प्रथम शिक्षक' (First teacher) कहकर सम्मानित किया किन्तु इससे यह आशय निकालना उचित नहीं होगा कि कन्फ्यूशियस के पूर्व चीन में कोई शिक्षक नहीं था। किन्तु उन्हें प्रथम शिक्षक इसलिए कहा जाता है क्योंकि इनकी शिक्षण प्रणाली अद्भुत थी। उन्होंने सुकरात की तरह वाद–विवाद एवं प्रश्न शैली को अपनाकर चीन में शिक्षा का प्रसार किया। उनकी शिक्षण पद्धति का जादू चीन में प्रचलित हो गया और शिष्यों की भीड़ उनकी ओर आकर्षित होने लगी। ए. आर. महापात्र के अनुसार—"The man was later recognized as one of the greatest teacher in history and gained rapid fame for his practical wisdom and attracted disciples. He spent much time collecting and editing available literature about ancient customs and beliefs."

कन्फ्यूशियस के राजनैतिक जीवन का उल्लेख भी उसके जीवनी लेखक करते हैं। जिसके अनुसार वे अपने लु प्रान्त के लोक निर्माण में भी न्यायमंत्री और कालान्तर में मुख्यमंत्री भी बने और उस समय लु प्रान्त सबसे आदर्श राज्य बन गया था। इनके शासनकाल में लोगों ने घरों में ताला लगाना बंद कर दिया था। चोरी, डकैती जैसे अपराध बंद हो गये थे। इस प्रकार सम्पूर्ण देश में शांति का वातावरण बन गया था। किन्तु लोभी, अत्याचारी एवं स्वार्थी तत्त्वों के षड्यंत्र के फलस्वरूप उन्हें उच्चपद से मुक्त होना पड़ा। इसी बीच इनकी पत्नी का देहावसान हो गया जिसे उन्होंने धैर्यपूर्वक सहन किया। जीवन के अंतिम पांच वर्ष वे प्राचीन ग्रन्थों का संपादन करते रहे। ई. पू. 479 में 73 वर्ष की आयु में उनका देहावसान हुआ। इनकी समाधि पर तीन वर्षों तक शोक मनाया गया तथा बाद में इनके उपदेशों को प्रचारित किया गया। मरने के बाद उनकी कीर्ति बढ़ी। उन्हें गुरु और स्वामी माना गया। दो हजार वर्षों में ही हर चीनी घर में उनकी प्रतिमा या चित्र स्थापित हुए जिसे प्राय: हर चीनी बच्चा दोनों होथ जोड़कर सुबह प्रणाम करता है। उनके वचन खेतों, खलिहानों एवं प्रशासन तक पहुंच गये। हानवंश (206 ई. पू. से 220 ई.) में कन्फ्यूशियस का धर्म चीन का राज्य धर्म था। 59 ई. में कहते हैं कि सब नगरों के स्कूलों में कन्फ्यूशियस के लिए बलि और चढ़ावे दिये गये। सातवीं, आठवीं शती तक उनके मंदिर बन गये। बारहवीं शती में उनके 'एनेसेक्सट्स' ग्रन्थ को धर्मग्रन्थ मान लिया गया। सुंग वंश में उसे एक अनिवार्य पाठ्य पुस्तक बना दिया गया। सन् 1934 ई. से उनका जन्मदिन राष्ट्रीय अवकाश का दिन माना जाने लगा। माओत्से तुंग ने एक बार यह कहा था कि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मार्क्स और लेनिन के साथ-साथ हर कम्युनिस्ट को कन्फ्यूशियस को भी पढ़ना चाहिए। हस्टन स्मिथ ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि नेहरू से अधिक काल तक गांधी याद किये जायेंगे और माओत्से तुंग से अधिक काल तक कन्फ्यूशियस को लोग याद रखेंगे।

कन्फ्यूशियस ने अपने जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन सुन्दर ढंग से किया है, जो इस प्रकार है—"पन्द्रह वर्ष की आयु में हमारा मन पठन-पाठन में लीन था। तीस वर्ष की आयु में मैं अडिग था। चालीस वर्ष की आयु में संशय और भ्रम से शून्य था। पचास वर्ष की आयु में हमारे कान सत्य के प्रति जागरूक थे। सत्तर वर्ष की आयु में मैं हृदय के आदेशों को बिना उचित की सीमा का उल्लंघन किये सुन पाता था। उन्होंने अपनी सादगी के बारे में एक स्थान पर लिखा है कि मेरे लिए मोटा खाना, पीने को पानी और सोने को अपनी ही मुड़ी हुई बांह का तकिया काफी है। मैं इसी में सुखी हूँ। गलत कामों से पैसा और सम्मान कमाया भी तो, वह मेरी दृष्टि में उड़ते बादलों से अधिक मायने नहीं रखता।"

14.3 ईश्वर सम्बन्धी विचार

कन्फ्यूशियस धर्म को ईश्वरवादी धर्म के स्थान पर मानवतावादी धर्म कहा जाना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। क्योंकि उसके धर्म में मानव के उत्थान पर बल दिया गया है। उन्होंने हृदय में पवित्रता और चरित्र में सौन्दर्य पर बल दिया है। मानव के प्रामाणिक जीवन को ही वास्तविक जीवन माना है। मानव के सादगीपूर्ण जीवन की भी वकालत की है। इस प्रकार कन्फ्यूशियस ने मनुष्य को केन्द्र में रखा न कि ईश्वर को। स्वर्गलोक के स्थान पर इहलोक पर बल दिया। उनका मानना था कि इहलोक को ही स्वर्गलोक जैसा बनाना चाहिए। उनके धर्म में ईश्वर केन्द्र में न होने से ईश्वर की स्पष्ट चर्चा नहीं मिलती है। एक बार उनके एक शिष्य चीलू ने उनसे पूछा "मैं ईश्वर की सेवा किस प्रकार कर सकता हूं? कन्फ्यूशियस ने इस प्रश्न के उत्तर में कहा, जब तक इहलोक में रहने वाले मनुष्य की सेवा के बारे में तुम्हें ज्ञान नहीं है तब तक तुम परलोकवासी ईश्वर की सेवा के बारे में कैसे पूछ सकते हो?" इसी प्रकार एक बार एक शिष्य ने उनसे पूछा, "ईश्वर कैसा है और कहां रहता है? इस प्रश्न के उत्तर में भी उन्होंने यही कहा कि जो कुछ तुम्हारे सामने है उसी को देखो, उसी के बारे में सोचो। मनुष्य सामने है, उसके बारे में सोचो, उसमें निहित मानवता के बारे में सोचो। अमानवी कृत्य से बचो।"

उपर्युक्त इन कथनों से यह स्पष्ट होता है कि जब भी ईश्वर के बारे में उनके शिष्य उनसे कुछ पूछते थे तो वे इसी प्रकार उन्हें अनुत्साहित करते थे। परन्तु इससे यह कभी भ्रम नहीं पालना होगा कि कन्फ्यूशियस के विचारों में ईश्वर सम्बन्धी कोई मान्यता ही नहीं है अर्थात् वह निरीश्वरवादी है या उसने जानबूझकर ईश्वर का खण्डन किया है।

कन्फ्यूशियस ने कभी ईश्वर का खण्डन नहीं किया। ईश्वर में उसकी अटूट आस्था दृष्टिगोचर होती है। कुछ ऐसे ठोस प्रमाण मिलते हैं जिसके आधार पर यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि कन्फ्यूशियस ईश्वरवादी है। अन्य धर्मों की तरह उसका भी ईश्वरवाद प्रमाणित है। एक स्थान पर उसने स्पष्टरूप से कहा है "मनुष्य की नैतिकता ईश्वर के कारण है। यदि ईश्वर न होता तो संभवतः नैतिकता भी न होती। मानवी नैतिकता ईश्वर की देन है। ईश्वर ने ही मनुष्य में सद्गुणों का समावेश किया है।" सत्य के बारे में भी उसका कथन है कि यह ईश्वर का नियम है जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने आपका अनुभव करता है। सत्य शाश्वत और अनन्त है। ए. आर. महापात्र के अनुसार, "Truth he says is the law of God. Truth means the realisation of one's being. Absolute truth is indestructible, eternal, self-existent and infinite."

ऊपर के कथन से यही स्पष्ट होता है कि ईश्वर है और सत्य का प्रदाता है। कन्फ्यूशियस का ईश्वर में अकाट्य विश्वास था। उन्होंने एक स्थान पर अपने विचारों की अभिव्यक्ति देते हुए कहा है—"If my doctrines are to prevail it is so ordered of God, if they are to fail it is so ordered of God."

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अर्थात् जहां तक मेरे सिद्धान्त स्वीकरणीय और सफल है तो यह ईश्वर का आदेश है और जहां तक वे असफल हैं यह भी ईश्वर का आदेश है। अर्थात् होना, न होना, अस्तित्व-नास्तित्व सब ईश्वर की इच्छा से है।

कन्फ्यूशियस धर्म के विभिन्न धर्म ग्रन्थ ईश्वर की अनन्त भक्ति का उल्लेख करते हैं। ईश्वर को तीन नामों से यहां उल्लेखित किया गया है। शन्ग टी (Shang ti) ईश्वर का एक नाम है जिसका अर्थ महान् शासक (Supreme Ruler) होता है। उसका दूसरा नाम टायेन (Tien) है जिसका अर्थ 'स्वर्ग' होता है। यह सम्बोधन ईश्वर के महान् नैतिक नियम का प्रतिनिधित्व करता है। ईश्वर का तीसरा नाम 'मिन्ग' (Ming) है जो भाग्य तथा नियति का पर्याय है। मैक्डोनल ने Comparative Religion में कन्फ्यूशियस के स्वर्ग (Heaven) को मुख्य ईश्वर कहा है। उसके अनुसार "Heaven is the chief God, who controls all spirits and their actions. No spirits can harm men without the authorization of Heaven's agents or its tacit consent. They are acordingly Heaven's agents for punishing the bad. Heaven is the highest God that exists." एक बार उन्होंने कहा था कि हर व्यक्ति को 'स्वर्ग की इच्छा' से डरना चाहिए। एक बार क्वांग गांव में उन पर हमला हुआ तो कन्फ्यूशियस ने अपने अनुयायियों से कहा, "मुझे स्वर्ग से एक विशेष संदेश देने के लिए भेजा गया है और जब तक यह पूरा नहीं हो जाता तब तक कोई मुझे कैसे मार सकता है? कहीं जब उनकी उपेक्षा होती तो वह कह उठते कि स्वर्ग ऊपर है, वह मुझे जानता है और वे यह भी कहते कि जो ईश्वर को नाराज करता है, वह किसके आगे प्रार्थना कर सकेगा।"

कन्फ्यूशियस धर्म में अनेक देवी-देवताओं की उपासना का संकेत मिलता है। ऐसे देवताओं में पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, पर्वत, हवा, बादल, नदी आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कहा भी गया है—"The Gods are the deities that animate heaven, the sun and moon, the stars, wind, rain, clouds, the earth, mountains, rivers and so forth."

ईश्वर में अपूर्व आस्था एवं विश्वास रखते हुए भी यह कहा जा सकता है कि कन्फ्यूशियस ने मनुष्य की नैतिकता एवं सामाजिकता पर अधिक बल दिया। इसीलिए 'ईश्वरवादी धार्मिक' के स्थान पर उसे 'नैतिक शिक्षक और प्रथम शिक्षक' के रूप में ख्याति मिली। उसने मनुष्य के सामाजिक दायित्वों को उभारने की तुलना में ईश्वर के स्वरूप को उभारने में कम बल दिया। कहा भी गया है—"Confucianism is mainly concerned with morality and socio-political aspects of man. He is usually regarded as a teacher of morals. He followed less of God and more of man and his duty towards society."

कन्फ्यूशियस धर्म के ईश्वर संदर्भित विभिन्न तथ्यों को ध्यान में रखते हुए प्रभाकर माचवे ने अपनी पुस्तक विभिन्न धर्मों में ईश्वर कल्पना (पृष्ठ 169) में लिखा है कि कन्फ्यूशियस का धर्म आधुनिक बुद्धिवादी, मानवतावादी की तरह था, जो यह मानता है कि इस दृश्य भौतिक सत्ता के पीछे कोई अदृश्य शक्ति है, जो उससे परे है और बड़ी है। पीपिंग में कन्फ्यूशियस मंदिर है, जहां एक दर्शक ने लिखा है—"यहां स्वर्ग, पृथ्वी और मैं एकाकार हो जाते हैं। प्रकृति और मानव एकाकार हैं और कन्फ्यूशियस इसका प्रधान निमित्त था।"

14.4 मानव विचार

कन्फ्यूशियस अपने धर्म सम्बन्धी विचार में काल्पनिक उड़ान भरने की अपेक्षा धरातल पर टिके रहना अधिक उपयुक्त समझता है इसीलिए उसने अपने धर्म के अन्तर्गत मानव को विशेष स्थान दिया है। उसके अनुसार मनुष्य ही पूर्णतः शुभ है। वह सभ्य समाज की आधारशिला रखने में पूर्ण सक्षम है। मनुष्य स्वभावतः अच्छा है, जन्म से अच्छा है किन्तु वह आजीवन अच्छा नहीं रह पाता है। मानवीय दुर्बलताएं उसे भटका देती हैं। उसके इस विचार को ए. आर. महापात्र ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—"Confucius asserts that all men are divinely good. He said that all men are good at birth, but many do not remain good upto the

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

end, confucius was devotedly attached to the improvement, well being and welfare of society. The social ideal of confucius is peace and harmony."

कन्फ्यूशियस के मानवतावादी विचार में मनुष्य के ये कर्त्तव्य बतलाये गये हैं जो उसे हर हालत में करना चाहिए। ये कर्त्तव्य इस प्रकार हैं—

1. किसी तथ्य को ध्यान से देखना अर्थात् बंद आंखों से न देखना। खुली आंखों से देखने से ही पर्दा उठता है।
2. जो सुनते हैं उन्हें अच्छी तरह से समझना। आज की भाषा में कान का कच्चा न होना।
3. ढंग से रहना, नियमों का अच्छी तरह से पालन करना।
4. सहिष्णुता रखना। जल्दी आगबबूला न होना। विपरीत परिस्थितियों में सम रहना।
5. बोलते समय ईमानदारी बरतना, जागरूक होकर बोलना अर्थात् बोलने में संयम न खोना।
6. अपने कार्य में तल्लीन रहना। पुरुषार्थ को महत्त्व देना। कार्य को कभी नजरंदाज न करना।
7. संदेह होने पर निराकरण हेतु पूछ लेना, गलतफहमी न पालना। अनावश्यक शक करके किसी से सम्बन्ध न तोड़ना।
8. क्रोध में कठिनाइयों के बारे में सोचना। क्रोध के समय विवेक को नहीं खोना।
9. प्राप्ति के समय भी सच्चाई को याद करना, उस पर अडिग रहना अर्थात् प्राप्ति में विचलित न होना।

कन्फ्यूशियस के 'मानव-कर्त्तव्य' सम्बन्धी इस विचार का उल्लेख जान काग्ले (John Cogley) ने अपनी पुस्तक Religion in a Secular Age (p. 47) में इस प्रकार अंकित किया है—"A superior man has nine aims to see cearly, to understand what he hears, to be warm in manner, dignified in bearing, faithfull in speech, painstaking at work, to ask when in doubt, in anger to think of difficulties, in sight of gain to remember right."

कन्फ्यूशियस के अनुसार जो इन कर्त्तव्यों का पालन करता है वह नैतिक मनुष्य है और जो पालन नहीं करता है वह अनैतिक है। उसके अनुसार नैतिक मनुष्य का जीवन सामान्य व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता है क्योंकि वह नैतिकता के अनुकूल कार्य करता है। इसके विरुद्ध अनैतिक मनुष्य सामान्य व्यवस्था का अतिक्रमण करता है जिस कारण से उसमें नैतिकता के प्रति कभी श्रद्धाभाव अंकुरित नहीं हो पाता। कन्फ्यूशियस ने नैतिक मनुष्य को ईश्वरीय गुणों से विभूषित बतलाया है। उसके अनुसार नैतिक मनुष्य अपने परिवार, सगे-सम्बन्धियों एवं दूर के लोगों अर्थात् सबसे प्रेम व्यवहार रखता है। वह सबको अपना समझता है। वह भगवान् से, बड़े व्यक्तियों से तथा संत पुरुषों से भय रखता है। इसीलिए वह बुराई की ओर देखने से बच जाता है क्योंकि उसका विश्वास होता है कि यदि बुराई की ओर आकर्षण होगा तो इनके कोप का भाजन बनना पड़ेगा। इस संदर्भ में कहा गया है—"A virtuous man, according to confucius had three awes: (I) awe of Heaven's decree (ii) awe of great men (iii) awe of saints."

उसके अनुसार मनुष्य को हर परिस्थिति में सम और जागरूक रहना चाहिए जो हर क्षण जागरूक रहता है वह किसी भी परिस्थिति का मुकाबला करने में सक्षम रहता है। किन्तु जो प्रमाद में रहता है, आलस्य करता है वह छोटी से छोटी परिस्थितियों का शिकार हो जाता है। कन्फ्यूशियस का मानना है कि नैतिक व्यक्ति परिस्थितियों का मुकाबला धैर्यपूर्वक करता है। वह मुश्किल से मुश्किल परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने में सफल होता है। प्रेम, दया, क्षमा, परोपकार आदि सद्गुण उसके भूषण होते हैं। इनके कारण उसका जीवन सदा पवित्र रहता है।

कन्फ्यूशियस के ये मानव सम्बन्धी विचार उसे मानवतावादी की उपाधि से विभूषित करते हैं। उसके मानवतावाद का आधार प्रेम है। प्रेम मानव को मानव से जोड़ता है। घृणा मनुष्य से मनुष्य को नफरत का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पाठ सिखाती है। इसलिए कन्फ्यूशियस ने प्रेम को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है। एक बार एक शिष्य ने उनसे पूछा "भगवन्! सामाजिक गुण क्या है?" प्रत्युत्तर की भाषा में उन्होंने कहा था—"दूसरों से प्रेम करना।" प्रेम दो बिछुड़े हृदयों को मिलाता है। उसका यह 'प्रेम' केवल मानव स्तर पर ही नहीं है। चूंकि उसके अनुसार आत्मा केवल मनुष्य स्तर पर ही नहीं अपितु नदी, पर्वत, वायु, अग्नि आदि में भी निवास करती है। अत: ये सभी आत्माएं पूजा के पात्र हैं। अत: प्रेम को यहां व्यापक स्वरूप में देखा जाना चाहिए। प्रकृति के तत्त्वों के साथ भी प्रेम और मैत्री का व्यवहार होना चाहिए।

कन्फ्यूशियस के पांच सिद्धान्तों में एक जेन (Jen) है जिसे 'मानवतावाद' का दूसरा नाम समझा जा सकता है। जेन मनुष्य-मनुष्य में प्रेम सम्बन्ध स्थापित करता है। इस जेन (Jen) की व्याख्या करते हुए हस्टन स्मिथ ने Religions of man (p. 205) में कहा है—"Variously translated as goodness, man to manness, benevolence and love, it is perhaps best rendered as human heartedness .... Jen involves simultaneously a feeling of humanity towards others and respect for oneself, an indivisible sense of the dignity of human life wherever it appears."

अर्थात् मानव-सेवा प्रत्येक में जन्मजात है। यह प्रकृति का वरदान है जिसे मनुष्य ने जीवन-यापन के उद्देश्य से ग्रहण किया है। मानवतावाद सभी मनुष्यों के प्रति प्रेम की भावना का प्रकाशन करता है।

उसके अनुसार यदि मनुष्य के हृदय में शुद्धता या प्रेम है तो उसके चरित्र में सुन्दरता होगी। यदि चरित्र में सुन्दरता है तो घर में सामञ्जस्य होगा। यदि घर में सामञ्जस्य होगा तो राष्ट्र में व्यवस्था होगी और राष्ट्र में व्यवस्था होगी तो विश्व में शांति होगी अत: विश्व की शांति का मूल मानव की शुद्धता और प्रेम भावना है। The Great Learning (p. 160) में हस्टन स्मिथ ने कन्फ्यूशियस के इन्हीं भावों को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"If there is righteousness in the heart, there will be beauty in the character. If there be beauty in the character, there will be harmony in the home. If there is harmony in the home, there will be order in the nation. If there be order in the nation, there will be peace in the world."

इस प्रकार कन्फ्यूशियस के 'मानवतावादी' दृष्टिकोण के निम्न फलितार्थ दृष्टिगोचर होते हैं।

1. मनुष्य स्वभावत: अच्छा होता है। बाद में उसकी दुर्बलताएं ही उसे बुरा बनाती है।
2. मनुष्य को हर स्थिति में नैतिक होना चाहिए। उसका जीवन सरल और आडम्बरहीन होना चाहिए।
3. मानव मानव से प्रेम करे। एक-दूसरे के प्रति अच्छा व्यवहार करे, यही मानव की प्रथम प्राथमिकता है।
4. दूसरों से प्रेम करना ही प्रमुख सामाजिक गुण है।
5. जेन (Jen) सिद्धान्त के अन्तर्गत उसने मानव सेवा पर बल दिया है।
6. मनुष्य का सम्बन्ध चूंकि 'इहलोक' से है अत: 'परलोक' की अपेक्षा 'इहलोक' को सुधारने पर बल देना चाहिए।
7. समाज के विभिन्न व्यक्तियों के बीच अवयव-अवयवी का सम्बन्ध होना चाहिए। उसने पांच प्रकार के सम्बन्धों का उल्लेख किया है—(1) पति-पत्नी (2) माता-पिता और बच्चों का (3) राजा और प्रजा का (4) बड़े और छोटे का (5) मित्र और शत्रु का।
8. मनुष्य के गुणों की पहचान आपत्ति के समय होती है अत: उसे विपत्ति में धैर्य धारण करना चाहिए।
9. राजा भी मनुष्य ही है। अत: उसे धर्मात्मा एवं न्यायी होना चाहिए। उसे प्रजा के प्रति पुत्रवत् व्यवहार करना चाहिए।
10. मानव का आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक जीवन नीति पर आधारित होना चाहिए।
11. प्रेम के बिना जीवन मौत के तुल्य है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि कन्फ्यूशियस ने केन्द्र में मनुष्य को रखकर अपने जो उपयोगी चिन्तन दिये हैं, उसके कारण उसके मानवतावादी दृष्टिकोण का चीन में सर्वत्र आदर हुआ और इसलिए चीन में इस धर्म को प्रमुख स्थान मिला।

14.5 नैतिक विचार

कन्फ्यूशियस ने व्यक्ति और समाज दोनों के लिए नैतिक मूल्यों की आवश्यकता पर बल दिया। उसके बारे में यह स्पष्ट रूप से कहा जाता है कि उसने संसार को कोई नया धर्म नहीं दिया। उसने तो केवल मानवी-नैतिकता एवं नैतिक मूल्यों को परिपुष्ट किया। नैतिक मूल्यों पर आवश्यकता से अधिक बल देने के कारण यहां तक कहा जाता है कि उसने किसी नये धर्म की स्थापना नहीं की अपितु युग को नैतिक सिद्धान्त दिये। उसने किसी नये धर्म को जनता के सामने उपस्थित नहीं किया अपितु उन्होंने नैतिकता के मूलभूत सिद्धान्तों का जोरदार भाषा में समर्थन किया। नैतिकता कन्फ्यूशियस धर्म की आत्मा है। इस धर्म में आचारशास्त्र, नैतिक दर्शन का प्रतिपादन हुआ है जिससे मानव समुदाय को निरन्तर प्रेरणा मिलती है। कन्फ्यूशियस धर्म में नैतिकता की प्रबलता के कारण इसे नैतिक धर्म (Ethical Religion) कहा जाता है। कहा भी गया है—"Confucianism is not a religion in the customary sense. It is not a monastic or priestly order. Confucius did not give a new religion, but he gave to the world forceful principles of human morality and ethics."

उसके अनुसार सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं आर्थिक आदर्श नैतिक गुणों से सम्पन्न होने चाहिए। सद्‌गुण जीवन का आधार है। जीवन की परिपक्वता सद्‌गुणों से ही है। जिस जीवन में सद्‌गुण नहीं है वह जीवन कभी टिक नहीं सकता। प्रेम जीवन का रक्त है। जैसे रक्त के बिना शरीर की कल्पना नहीं की जा सकती वैसे ही प्रेम के बिना जीवन की कल्पना संभव नहीं है। प्रेमरहित जीवन मौत के समान है। जीवन का विकास सद्‌गुणों के विकास पर ही निर्भर है। 'Philosophy of Religion' में कन्फ्यूशियस के इन विचारों को इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है—"According to confucius the social, economic, political and religions ideals are centred in ethics. The virtue is the backbone of life and love is the blood of life. Without virtue life can not stand, and without love life is death. The development of life depends upon the development of virtue."

कन्फ्यूशियस द्वारा बतलाये गये नैतिक मूल्य पांच हैं—जेन (Jen), चि (Chi), लि (Li), यि (Yi), ते (Te)।

1. जैन (Jen) मानवतावादी दृष्टिकोण है। अच्छाई, मनुष्य-मनुष्य में प्रेम-सम्बन्ध, दया, सहृदयता आदि इसके कई अर्थ हैं। कन्फ्यूशियस की दृष्टि में यह सर्वोत्तम गुण था। सद्‌गुणी व्यक्ति के लिए यह गुण जीवन से भी अधिक मूल्यवान है। इसी गुण से मनुष्य पशु से भिन्न और श्रेष्ठतर है। ऐसा व्यक्ति सदा सहानुभूति से भरा रहता है। अर्थात् "Jen means goodwill. It is willingness to do what is best socially. Goodwill consists basically in allowing each person to act in accordance with his own nature. A man of goodwill accepts each person for what he is."
2. चि (Chi) श्रेष्ठ मनुष्यता का गुण है। चि अर्थात् सज्जनता जिसमें है वह अच्छा अतिथि और अच्छा गृहस्थ है। उसकी बातचीत व्यवहार, आचार सब संतुलित होते हैं। वह आत्मश्लाघा नहीं करता। वह अपने बारे में अधिक नहीं बोलता। वह राग-द्वेष से पीड़ित नहीं होता। कन्फ्यूशियस के इस गुण की तुलना प्रभाकर माचवे ने स्थितप्रज्ञ के गुणों से की है। अर्थात् "The 'Chi' is an ideal to be approached by degrees. In 'Chi' one lives according to habit without question or reservation. This is high religions ideal."
3. लि (Li) के दो अर्थ हैं। प्रथम अर्थ उत्तम व्यवहार है। यहां अहंकार के निराकरण पर बल दिया गया है। पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों की अपेक्षा की गयी है। लि का दूसरा अर्थ व्यवस्था,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विधिपूर्वक किसी कार्य को सम्पन्न करना। जीवन ठीक तभी चलता है जब वह नियमानुकूल हो। अर्थात् 'Li' which means not only 'ceremonial' but also propriety or reverence. We also speak of this as the 'right way' or as 'right conduct.' Li is the basic principle of one's inner nature and behaviour."

4. यि (Yi) का अर्थ है शांति की कलाएं। इसका अर्थ है संगीत, चित्रकला, कविता-समूची संस्कृति। कन्फ्यूशियस इन्हें बहुत महत्त्व देते थे। संगीत से वह ऐसे झूम उठते थे कि तीन-तीन महीने तक खाना-पीना भूल जाते थे। उनके अनुसार वह मनुष्य, मनुष्य नहीं जिस पर संगीत का प्रभाव न पड़ता हो। कविता मन को जगाती है। संगीत से मन सुसंस्कृत बनता है। उनके हिसाब से अन्ततः इन कलाओं द्वारा ही अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना विकसित होगी। रोमन साम्राज्य सैनिक शक्ति से कितने दिन चल सका। अन्त में अन्य देशों की ललित कलाओं की याद ही अधिक दिनों तक की जायेगी। अर्थात् "Yi which means best way of doing things. Yi is the way things behave when they act in accordance with their own natures and this is the best way for all things to act."
5. ते (Te) का अर्थ था शक्ति। शक्ति केवल शारीरिक या भौतिक होती है, ऐसी कन्फ्यूशियस की मान्यता नहीं थी। उसके सामने उदाहरणरूप में 'चिन वंश' का राज्य था जो फौजी ताकत से नौ वर्ष तक चला और बाद में नष्ट हो गया। टेलीरैंड ने भी कभी ठीक ही कहा था कि संगीतों से आप सब कुछ कर सकते है, पर उन पर बैठे नहीं रह सकते। इसी तथ्य को प्रस्तुत करती हुई कन्फ्यूशियस की कई कहानियों में से एक यहां प्रस्तुत है। पर्वत के एकांत निर्जन में घूमते हुए उन्हें एक रोती हुई स्त्री का स्वर सुनाई दिया। उन्होंने उससे पूछा कि वह क्यों रो रही है, तो उसने उत्तर दिया, "मेरे पति के पिता को यहां बाघ खा गया और मेरे पति को भी वह खा गया और मेरे पुत्र का भी वही हस्र हुआ।" कन्फ्यूशियस—'तो तुम इतनी भयावह जगह में क्यों रहती हो?' उस स्त्री ने उत्तर दिया—'इसलिए कि यहां कोई अन्यायी राजा नहीं है।'

यह कहानी सुनाकर उसने अपने शिष्यों से कहा—'शिष्यों! याद रखो अन्यायी राजा बाघ से भी बुरा होता है।' किसी भी राज्य की सफलता के लिए आर्थिक और सैनिक शक्ति के साथ-साथ जनता का विश्वास प्रधान है। यदि वह खो दिया तो राज्य चल नहीं सकता, इसलिए सच्ची 'ते' या शक्ति नैतिक होती है। एक बार राजा ने उनसे पूछा कि राजा-प्रजा का सम्बन्ध कैसा होना चाहिए, तो वे बोले—'हवा और घास जैसा।' जिधर हवा बहेगी, घास झुकेगी ही। अर्थात् 'Te is the other regarding cardinal virtue of public life. Thus to refuse to serve one's community is a failure in this virtue. The prince must be just in laying burdens on his people; if he is so, they will willingly submit to his rule. Without 'Te' riches and honour are but a fleeling cloud.

उपर्युक्त पांचों गुणों से यह स्पष्ट होता है कि कन्फ्यूशियस का धर्म अध्यात्म से अधिक नीतिशास्त्र है। यहां यह माना गया है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति के साथ अच्छा व्यवहार करना मानवीय कर्त्तव्य है। माता-पिता के प्रति भक्ति, सेवक के प्रति दया तथा भाई-बन्धुओं के साथ सहानुभूति रखने का उपदेश कन्फ्यूशियस धर्म में विद्यमान है। आपत्ति के समय मनुष्यों के गुणों की पहचान होती है। कन्फ्यूशियस ने स्पष्ट कहा है "जब शीतकाल आता है तब हम देखते हैं कि सब वृक्षों के बाद देवदार अपने पत्तों को त्यागते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि वे वृक्षों में श्रेष्ठ हैं।"

14.6 अन्य नैतिक उपदेश

चूंकि उनके धर्म का केन्द्र बिन्दु नीतिशास्त्र है। अतः उनके धर्म में हम नीतिमय उपदेशों की अधिक चर्चा पाते हैं। उनके कुछ सरल, सरस, नैतिक उपदेश इस प्रकार हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. सज्जन व्यक्ति सदा पहले खुद करता है, फिर दूसरों से कहता है।
2. सच्चा दार्शनिक वह है जिसे कोई महत्त्व न दे, उपेक्षा से देखे और उसे गुस्सा न आये।
3. दूसरे के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए जैसा कि तुम अपने प्रति दूसरों के द्वारा नहीं चाहते हो अर्थात् 'Do not unto other what you would not wish to be done to yourself.'
4. मुझे इस बात का दु:ख नहीं है कि लोग मुझे नहीं जानते पर मुझे इस बात का दु:ख अवश्य है कि मै लोगों को नहीं जानता।
5. यह संसार एक रंगमंच है। मनुष्य इस संसार में कुछ ही समय के लिए आता है इसलिए मनुष्य को सदैव सदाचार का जीवन जीना चाहिए।
6. ज्ञान का अर्थ है कि जब तुम किसी चीज को जानो, तो पहचानों कि मै जानता हूं और जब न जानते हो तो जानो कि मै नहीं जानता।
7. अपनी वाणी पर संयम रखना तथा अपने आचरण के प्रति सजग रहना मानव का कर्त्तव्य है।
8. आनंद की तीन कुंजियां हैं—1. किसी की निन्दा न करना, 2. किसी में दोष न देखना, 3. किसी की बुराई न करना।
9. जिसे ईश्वरीय नियम का ज्ञान नहीं है, वह श्रेष्ठ मनुष्य नहीं हो सकता।
10. जब कोई अपने से बड़ा या अच्छा आदमी देखो, तो सोचो मै उससे क्या सीख सकता हूं। जब कोई छोटा या बुरा आदमी देखो तो अपने चरित्र के भीतर झांककर देखो।
11. सबके प्रति दया करो, परन्तु केवल पुण्यात्माओं से मैत्री रखो।
12. जब हृदय में न्याय परायणता का वास होगा तब सौन्दर्य का विकास चरित्र में होगा।
13. मनुष्य का हृदय आइने के समान होना चाहिए। आईना पर समस्त वस्तुओं का प्रतिबिम्ब पड़ता है परन्तु उससे उसमें मैलापन नहीं आता।
14. हिंसा का बदला प्रेम से दो।
15. आज्ञा पालन महान् धर्म है।
16. अपने मन में झांककर देखो। अगर वहां कोई पाप नहीं है तो फिर किसी से क्या डरना? किस बात की चिन्ता है?
17. निष्कपटता स्वर्ग का द्वार है।
18. सामाजिक उन्नति मानव जीवन का लक्ष्य है।
19. किसी काम को करने के पहले दो बार सोचना काफी होगा।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि कन्फ्यूशियस की नैतिकता हर व्यक्ति के जीवन से जुड़ी हुई नैतिकता थी। सम्मान के साथ स्वयं जीवन को जीने तथा दूसरों को भी सम्मान के साथ जीवन जीने के लिए जिन नैतिक मूल्यों को कन्फ्यूशियस ने महत्त्व दिया उन्हें व्यावहारिक नीतिशास्त्र का अंग कहा जा सकता है।

14.7 जैनधर्म और कन्फ्यूशियस धर्म

जैनधर्म भारतीय परम्परा का एक प्राचीन धर्म है। भगवान् ऋषभदेव से भगवान् महावीर तक के चौबीस तीर्थंकरों, गणधरों, आचार्यों की लम्बी परम्परा ने इस धर्म को समृद्ध किया है। अहिंसा इस धर्म की मूल भावना रही है। समता और संयम को भी इस धर्म में बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। इस धर्म ने चेतना को किसी सीमा में जकड़ने की अपेक्षा उसकी व्यापकता को स्वीकार किया। जैनधर्म जातिबद्ध या संस्थाबद्ध नहीं है। वह धर्म चेतना है। जैनधर्म ने किसी भी जाति, सम्प्रदाय या वेशभूषा में रहने वाले व्यक्ति को मुक्ति का अधिकारी घोषित किया है यदि उसकी धर्म चेतना जागृत हो गयी हो, राग-द्वेष सर्वथा क्षीण हो गया हो। धर्म-चेतना को सम्प्रदाय से मुक्त मानने वाला धर्म आध्यात्मिक धर्म होता है। सत्य को जानने के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लिए अनेकान्त दृष्टि और उसे पाने के लिए आध्यात्मिक धर्म—जैनधर्म-दर्शन की मौलिक उपलब्धियां हैं। अनेकान्त कोरा दर्शन नहीं, यह साधना भी है। एकांगी आग्रह, राग और द्वेष से प्रेरित होता है। राग-द्वेष क्षीण करने का प्रयत्न किये बिना एकांगी आग्रह या पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण से मुक्ति नहीं पायी जा सकती। जैसे-जैसे राग-द्वेष क्षीण होता है वैसे-वैसे अनेकान्त दृष्टि विकसित होती है। जैसे-जैसे अनेकान्त दृष्टि विकसित होती है वैसे-वैसे राग-द्वेष क्षीण होता है। दर्शन सत्य का साक्षात्कार करने के लिए है। राग-द्वेष में फंसा व्यक्ति सत्य का साक्षात्कार कैसे कर सकता है। अत: अनेकान्त दृष्टि को व्यापक करके राग-द्वेष को निर्मूल करके सत्य का साक्षात्कार करने का महामंत्र देता है जैनधर्म-दर्शन। जैनधर्म ने युग के अनेक थपेड़े सहे, झंझावातों की क्रूरता एवं उग्रता को सहा, अन्य धर्मों की प्रतिद्वन्द्विता भी देखी, विभाजन की पीड़ा को भी सहा परन्तु समय की दहलीज पर सदा अपनी जीवन्तता के साथ खड़ा रहा। कभी घुटने नहीं टेके, कभी प्रवाह में बहने की कोशिश भी नहीं की। अपनी निराली गति से यह धर्म सदा गतिशील रहा है और अपनी उपयोगिता को सदा जीवन्त किये हुए है। व्रत, उपवास, त्याग, तपस्या एवं निवृत्ति प्रधान धर्म होने के कारण यह भले ही बौद्ध धर्म की तरह व्यापक नहीं बन सका हो परन्तु इसकी नींव बौद्धधर्म की अपेक्षा बहुत गहरी रही है। इसी कारण से बौद्धधर्म आज जहां विदेशी धर्म बनकर रह गया, वहीं जैनधर्म स्वदेश में पूर्व की तरह ही स्थापित है और विदेशों में भी लोकप्रिय हो रहा है।

जैनधर्म किसी व्यक्ति विशेष का धर्म नहीं है। यह न ही केवल ऋषभदेव का धर्म है और न ही महावीर का धर्म। यहां व्यक्ति प्रधान नहीं है। यहां व्यक्ति की आराधना या उपासना नहीं है। यहां गुणों की पूजा है। तीर्थंकरों की पूजा उनके नाम के कारण नहीं अपितु उनके तीर्थंकरत्व गुण के कारण है। कन्फ्यूशियस धर्म की तरह जैनधर्म को न ही ऋषभधर्म और न ही महावीर का धर्म कहा गया। कन्फ्यूशियस धर्म एक व्यक्ति विशेष की देन है। यह कन्फ्यूशियस के उपदेशों पर आधारित है। जैनधर्म किसी मसीहा की देन नहीं है अपितु एक लम्बी परम्परा की देन है, इसलिए जैनधर्म को व्यक्तिवादी धर्म कहना भूल है। जैनों का अनादि मूलमंत्र नमस्कार महामंत्र है, जो इस प्रकार है—

"णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं॥"

अर्थात् अरहंतों (चार घातीकर्मों का क्षय करने वाले) को नमस्कार, सिद्धों (सभी कर्मों का क्षय करने वाले) को नमस्कार, आचार्यों (संघ के नायकों) को नमस्कार, उपाध्यायों (पठन-पाठन के अधिकारी) को नमस्कार तथा लोक के सब साधुओं (आत्म स्वभाव के साधकों) को नमस्कार। इस प्रकार जैन नमस्कार मंत्र में पार्श्वनाथ या महावीर को नमस्कार नहीं किया गया है अपितु गुणगान अरहंतों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों एवं साधुओं को नमस्कार किया गया है। कन्फ्यूशियस धर्म में कन्फ्यूशियस को ही सर्वेसर्वा माना गया है। चूंकि उनका जीवन और उनके विचार ने चीन के समाज को एक नयी दिशा दी, इसलिए चीन में उनके विचार, उनके धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हो गये। ए. आर. महापात्र के अनुसार "Confucius, teachings and way of life made an important and revolutionary impact upon chinese society." प्राचीनता की दृष्टि से भी कन्फ्यूशियस धर्म की अपेक्षा जैनधर्म अधिक प्राचीन है कन्फ्यूशियस का जन्म 551 ई. पू. में हुआ था। अत: यह धर्म लगभग 2500 वर्ष पुराना ही है जबकि जैनधर्म ऐतिहासिकता की दृष्टि से कन्फ्यूशियस धर्म से 400-500 वर्ष पुराना है किन्तु परम्परा की दृष्टि से तो अति प्राचीन है।

14.7.1 ईश्वर के संदर्भ में जैनधर्म और कन्फ्यूशियस धर्म

अन्य भारतीयेतर धर्मों की तरह 'ईश्वर' विचार कन्फ्यूशियस धर्म का केन्द्रीय विचार नहीं है। इस्लाम में 'अल्लाह' के रूप में और ईसाईधर्म में God Father (ईश्वर पिता) के रूप में जहां ईश्वर को केन्द्र में रखकर सारा चिन्तन किया गया है वहीं कन्फ्यूशियस धर्म में ईश्वर के स्थान पर मनुष्य को केन्द्र में रखा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गया है। जहां मनुष्य के नैतिक जीवन पर बल देते हुए सामाजिक व्यवस्था एवं वैश्विक व्यवस्था को नैतिक बनाने पर जोर दिया गया है। कन्फ्यूशियस के अनुसार "The life of moral man is an exemplication of the universal order. He holds that the highest human attainment is to find the central clue to our moral being, which unites us to the universal order."

कन्फ्यूशियस धर्म में मानव को केन्द्र में रखकर जहां उसके उत्थान एवं विकास के लिए नैतिक नियमों का निर्धारण किया गया है वहीं ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकार किया गया है। यहां न ही ईश्वर की उपेक्षा की गयी है और न ही ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का निषेध किया गया है। जब कन्फ्यूशियस यह कहता है कि मेरे सिद्धान्तों की सफलता का भी कारण ईश्वर है और उसकी असफलता का भी अर्थात् ईश्वर के बिना एक पत्ता हिल नहीं सकता। सबके मूल में वही है। उसका यह कथन उसके 'ईश्वरवादी' होने को पुष्ट करता है।

जैनधर्म का इस रूप में किसी 'ईश्वर' पर कोई विश्वास नहीं है। यहां ईश्वर को कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता नहीं माना गया है। यहां का ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता नहीं है। जैनधर्म में ईश्वर को 'परमात्मा' रूप माना गया है। वह आत्मा जो अष्टकर्मों का क्षय करके शुद्ध हो गयी है, उसे ही परमात्मा कहा गया है। यहां इसी 'परमात्मा' को ध्यान करने के लिए कहा गया है न कि किसी ईश्वर को। वृहद् द्रव्य संग्रह में इसी भाव का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—

"णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो ज्झाएह लोयसिहरत्थो॥" (गाथा, 51)

अर्थात् नष्ट हो गया है अष्टकर्मरूप देह जिसके, लोकाकाश तथा अलोकाकाश को जानने, देखने वाला, पुरुष के आकार का धारक और लोक के शिखर पर विराजमान ऐसा जो आत्मा है, वही सिद्ध या परमात्मा है इस कारण तुम उसका ध्यान करो।

यह परमात्मा कन्फ्यूशियस के ईश्वर की तरह न ही शंगटी (परमशासक) है, न ही टायेन (स्वर्ग) है और न ही मिन्ग (भाग्य-विधाता) है। जैनधर्म में कोई किसी पर शासन करने वाला नहीं है। हर अत्मा कर्त्ता, भोक्ता और स्वामी है। किसी आत्मा पर, पर का कोई नियंत्रण नहीं है। प्रत्येक आत्मा अपना शासक है। वह स्वयं स्वामी है। परिणाम भुगतने में स्वतंत्र है। यहां भाग्य विधाता के रूप में किसी ईश्वर को स्वीकार नहीं किया गया है। यहां हर व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता है। हर व्यक्ति पार्श्वनाथ और महावीर बन सकता है। महावीर भी वर्धमान से महावीर बने थे। अत: जैनधर्म में कन्फ्यूशियस धर्म की तरह 'जो कुछ होता है, ईश्वर के द्वारा होता है' न मानकर इस तथ्य को प्रतिपादित किया गया है कि मनुष्य अपने पुरुषार्थ के बल पर कुछ भी बन सकता है।

कन्फ्यूशियस धर्म में जहां तीन प्रकार के भय का उल्लेख है, वहीं यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि इन भयों से व्यक्ति सतत् जागरूक रहता है। ईश्वर का भय, महापुरुषों का भय और संत पुरुषों का भय व्यक्ति को सही दिशा में आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त करता है। उसके अनुसार न जाने प्रतिदिन कितने व्यक्ति यह सोचकर कि मेरे हर बुरे कार्य का लेखाजोखा ईश्वर रख रहा है इस भय से बुरे कार्य करने से बच जाते हैं। इस प्रकार कन्फ्यूशियस अनैतिकता को निर्मूल करने और नैतिकता को प्रोत्साहित करने में 'ईश्वर भय' का महत्त्वपूर्ण योगदान स्वीकार करता है। इसके विपरीत जैनधर्म में चूंकि इस प्रकार के ईश्वर को स्वीकार ही नहीं किया गया है, जो सबके कार्यों का लेखा-जोखा रखता हो और उसी के अनुरूप उसका निर्माण करता हो तो 'ईश्वर भय' का यहां कोई औचित्य नहीं है।

कन्फ्यूशियस धर्म में अनेक देवी-देवताओं की उपासना का भी संकेत मिलता है। यहां सूर्य, चन्द्रमा, पर्वत, अग्नि, नदी, पृथ्वी आदि की उपासना का उल्लेख मिलता है। कन्फ्यूशियस के अनुसार आत्मा केवल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मनुष्य में ही नहीं है अपितु नदी, पर्वत, वायु, अग्नि आदि में भी निवास करता है। ये सभी आत्माएं पूजा की पात्र हैं। इस प्रकार कन्फ्यूशियस धर्म में सर्वात्मवाद के सिद्धान्त का संकेत भी मिलता है। जैनदर्शन में भी आत्मा के संदर्भ में सूक्ष्म चिन्तन हुआ है। यहां पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति में भी एकेन्द्रिय जीवों को स्वीकार किया गया है। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीवों की मान्यता जैनधर्म की अपनी विशिष्ट मान्यता है। कन्फ्यूशियस धर्म में जहां इन आत्माओं की पूजा का उल्लेख है वहीं जैनधर्म में इन आत्माओं को सम्मान देने का उल्लेख है, सबके साथ मैत्रीपूर्वक व्यवहार करने का उल्लेख है। किसी को छेड़छाड़ करने एवं उन्हें नुकसान पहुंचाने की इजाजत नहीं दी गयी है।

14.7.2 मानव के संदर्भ में कन्फ्यूशियस धर्म

जैनधर्म 'ईश्वरवादी' भले ही नहीं है पर मानववादी अवश्य है। यहां व्यक्ति के विकास पर बहुत अधिक बल दिया गया है। यहां यह स्वीकार किया गया है कि हर व्यक्ति में अपने आपको कुछ भी बनाने की क्षमता है। यदि वह सही मार्ग पर चलता है और जीवन में सद्गुणों को अपनाता है तो वह अपने आपको कुछ भी बना सकता है। ईश्वरवादियों के अनुसार मनुष्य ईश्वर नहीं बन सकता किन्तु यहां मनुष्य सब कुछ बन सकता है, ऐसा स्वीकार किया गया है। यदि मनुष्य अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य जैसे पांच अणुव्रतों को जीवन में उतारता है, व्रत, उपवास, त्याग और तपस्या को जीवन का अनिवार्य अंग बनाता है तो वह विकास का अपना पथ प्रशस्त कर सकता है। जैनधर्म में मनुष्य के विकास के लिए अहिंसा, संयम और समता को आवश्यक माना गया है। जिसने संयम का पाठ सीख लिया, जिसने संयम को जीवन में उतार लिया वह कभी दु:खी नहीं हो सकता। जिसने समता का अभ्यास कर लिया वह किसी परिस्थिति में बेचैन नहीं हो सकता और जिसने अहिंसा को जीवन में उतार लिया वह कभी किसी को पीड़ित नहीं कर सकता। अत: मानव निर्माण के लिए ये तीनों अचूक औषधि हैं।

कन्फ्यूशियस ने भी यह स्वीकार किया कि मानव स्वभावत: अच्छा है किन्तु कुछ दुर्बलताओं के कारण वह बुरा बन जाता है अत: उसे बुरा बनने से बचाने के लिए उसने कुछ महत्त्वपूर्ण सद्गुणों पर बल दिया। कन्फ्यूशियस के सद्गुणों में ईसाई धर्म की तरह 'प्रेम' को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। वह स्वयं कहता है कि "यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवार तथा अपने से उच्च व्यक्ति के प्रति प्रेम की भावना का प्रदर्शन करे तो शांति की स्थापना सर्वत्र होगी। कन्फ्यूशियस ने व्यक्ति के विकास से समाज का विकास, समाज के विकास से राष्ट्र का विकास और राष्ट्र के विकास से समस्त विश्व के विकास को स्वीकार किया है, जैनधर्म में भी व्यक्ति के विकास से ही समाज एवं राष्ट्र के विकास को स्वीकार किया गया है। किसी भी समाज की रीढ़ व्यक्ति ही होता है अत: व्यक्ति का निर्माण आवश्यक है। जैनाचार्य आचार्य श्रीतुलसी ने 'अणुव्रत गीत' के अन्तर्गत इसी मन्तव्य को प्रतिपादित किया है—"सुधरे व्यक्ति, समाज व्यक्ति से राष्ट्र स्वयं सुधरेगा" अर्थात् व्यक्तियों का विकास समाज का विकास है और समाज के विकास से राष्ट्र का विकास संभव है। जैसे कन्फ्यूशियस धर्म ईश्वरवादी न होकर मानवतावादी है वैसे ही जैनधर्म भी ईश्वरवादी न होकर मानवतावादी ही है। किन्तु दोनों में यह अन्तर है कि जहां कन्फ्यूशियस ने 'सभ्य मानव' एवं 'नैतिक मानव' का लक्ष्य स्वीकार किया है वहां जैनधर्म में 'सभ्य मानव' और 'नैतिक मानव' से 'मुक्त मानव' का लक्ष्य रखा गया है। मानव अपने अष्टकर्म रूपी मलों से अपगत होकर 'महामानव' बन सकता है और सिद्ध शिला (मुक्त आत्मा का स्थान) में निवास कर सकता है। यहां किसी भी जाति, धर्म, वर्ग, भाषा का व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से इस ऊंचाई तक पहुंच सकता है। यहां किसी भी नियंत्रण को स्वीकार नहीं किया गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

14.7.3 नैतिक विचार के संदर्भ में जैनधर्म और कन्फ्यूशियस धर्म

कन्फ्यूशियस न तो धार्मिक नेता थे, न ही कोई भारी उपदेशक। उन्होंने न कोई नया दर्शन दिया और न ही कोई नया धर्म। उन्होंने जीवन में कभी यह नहीं कहा कि मै कोई देवदूत हूं या पैगम्बर और न ही यह कहा कि ईश्वर से मुझे कोई संदेश मिला। ऐसा भी उन्होंने कभी नहीं कहा कि मै संसार को कोई नयी विचारधारा दे रहा हूं। लेकिन उनमें कुछ ऐसी खासियत अवश्य थी कि जिसके कारण हजारों साल बाद भी लोग उन्हें देवता की तरह पूजते हैं। वह खासियत यह थी कि उन्होंने जीवनभर स्वयं नैतिक एवं प्रामाणिक जीवन जीया और दूसरों को भी वैसा ही जीवन जीने की प्रेरणा दी। प्रेम, न्याय, नम्रता, विवेक और ईमानदारी के विकास पर उन्होंने बहुत बल दिया। कन्फ्यूशियस ने बाह्य विकास के स्थान पर आन्तरिक विकास पर बल दिया। जैनधर्म में भी आन्तरिक विकास को ही सब कुछ माना गया है। आत्म साधना, आत्माराधना एवं आत्मसाक्षात्कार जैनधर्म का लक्ष्य है। जिन अर्थात् जितेन्द्रिय अर्थात् राग-द्वेष पर पूर्ण विजय अन्तः प्रकाश का ही साक्षात्कार कराता है। इसी तरह कन्फ्यूशियस ने एक बार अपने एक शिष्य 'हुई' से पूछा कि तुम बहुत योग्य हो, तुम अपने योग्यता के अनुरूप प्रशासन में उच्च पद क्यों नहीं ग्रहण करते हो? उसने उत्तर में कहा, "मुझे आपके सिद्धान्तों को मनन करने में आनन्द आता है, अतः मुझे इसी में मस्त रहने दीजिए।" इस पर कन्फ्यूशियस ने कहा, "मै वर्षों से कहता आया हूं कि जो आदमी भीतर से ऊंचा उठा होता है, उसे बाहर से ऊंचा उठने की जरूरत ही नहीं है। जिसका हृदय ऊंचे भावों से भरा है, उसे ऊंचे पद से क्या लेना-देना? आज मैंने देखा कि मेरा शिष्य 'हुई' मेरी बात को अमल में लाकर दिखा रहा है।" उनका यह कथन इस बात को सिद्ध करता है कि वे भी जैनधर्म की तरह आन्तरिक विकास को महत्त्व देते थे।

कन्फ्यूशियस ने तीन प्रकार के भय का उल्लेख किया है। ईश्वर का भय, महापुरुषों का भय और संतों का भय नैतिक विकास के लिए उपयोगी है। इसके विपरीत जैनधर्म में अभय की साधना पर बल दिया गया है। यहां चार प्रकार के दान में अभयदान पर बल दिया गया है। हर छोटे से छोटा प्राणी भी निर्भयपूर्वक जीवन व्यतीत करे, जैन अहिंसा का यही मूल है। यहां तो मृत्यु भय पर भी विजय प्राप्त करने के लिए संथारा या संल्लेखना का विधान है। यहां कलात्मक जीवन के साथ कलात्मक मृत्यु का भी विधान है।

कन्फ्यूशियस धर्म में उपासना के लिए कोई स्थान नहीं था क्योंकि कन्फ्यूशियस ने जिस धर्म का विधान किया वह मूलतः नैतिक धर्म था। इस धर्म में नैतिक मूल्यों के पालन पर बल दिया गया। जीवन को सद्गुणों के प्रसाद से चमत्कृत करने की आवश्यकता पर जोर दिया गया। अतः नैतिक मूल्यों के संवर्द्धन में उपासना के लिए कोई स्थान नहीं रहा, परन्तु कन्फ्यूशियस के मरने के बाद जैसे-जैसे उनको मान्य किया जाने लगा वैसे-वैसे उनकी समाधि पर उनकी पूजा होने लगी, बलि भी दी जाने लगी, उनके नाम का मन्दिर भी बनाया जाने लगा अर्थात् जिस धर्म में उपासना के लिए कोई स्थान नहीं था। उस धर्म में उपासना व्याप्त हो गई। जैनधर्म में भी उपासना की एक पद्धति है। कुछ शाखाओं में जहां मूर्तिपूजा के लिए स्थान नहीं है उनको छोड़कर अन्य शाखाओं में कुछ लोग बिना मंदिर गये, बिना पूजा किये अन्न ग्रहण नहीं करते हैं। मंदिर में लोंग, चावल या फूल भी चढ़ाने का विधान है। नारियल और लड्डू भी चढ़ाये जाते हैं। मंदिरों में पूजा भी की जाती है। अतः जैनधर्म में भी उपासना के लिए अवकाश है।

कन्फ्यूशियस ने परलोक की अपेक्षा इहलोक को अधिक महत्त्व दिया। उसके अनुसार हमें इहलोक को सुधारने के लिए भरसक प्रयत्न करना चाहिए। प्रेम, सेवा, मैत्री, न्याय आदि सद्गुण इहलोक को सुधारने के मूल आधार हैं। इन्हें किसी भी परिस्थिति में छोड़ना नहीं चाहिए। इसके विपरीत जैनधर्म में इहलोक को छोड़ने पर बल दिया गया है। इहलोक अर्थात् संसार बंधन है और बंधन को काटने का प्रयास सबको करना चाहिए। जैनधर्म में जीवन का लक्ष्य मोक्ष निर्धारित है जो कार्मण शरीर के अभाव से ही संभव है और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कन्फ्यूशियस धर्म का लक्ष्य अच्छा और नैतिक व्यक्ति बनना है जो शरीर रहते हुए सद्गुणों के पालन से ही संभव है। यही दोनों धर्मों के मूल में अन्तर है।

कन्फ्यूशियस ने मानव सेवा पर बल दिया। मानव सेवा अर्थात् पर सेवा को यहां प्रधानता दी गयी है जबकि जैनधर्म पर के स्थान पर स्व की चिन्ता एवं स्व के विकास को अधिक महत्त्व देता है। अतः यहां सेवा के स्थान पर आत्मविकास की प्रधानता है। कन्फ्यूशियस ने भी वाणी पर संयम रखने की बात कही है। जैनधर्म में 'वाचिक अहिंसा' को स्वीकार कर कठोर वचन बोलने पर भी विराम लगा दिया है क्योंकि कठोर वचन से भी हिंसा होती है। जैनधर्म में 'हिंसा का बदला अहिंसा' से देने के स्थान पर कन्फ्यूशियस के धर्म में 'हिंसा का बदला प्रेम से' देने को कहा गया है। फलितार्थ एक ही है।

14.8 सारांश–इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि जैनधर्म और कन्फ्यूशियस धर्म में नैतिकता को लेकर अनेक समानताएं हैं किन्तु नैतिकता में मध्यममार्ग को स्वीकार करने के कारण कन्फ्यूशियस धर्म चीन में व्यापक हो गया जबकि नैतिकता, व्रत, उपवास के चरमरूप को स्वीकार करने के कारण जैनधर्म भारत में भी ज्यादा व्यापक नहीं हो सका। अस्तु दोनों धर्म नैतिकवादी, दोनों शुद्ध साधनवादी और दोनों ही शुद्ध सात्विक जीवन पर बल देने वाले हैं।

14.9 प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैनधर्म और कन्फ्यूशियस धर्मों की तुलनात्मक विवेचना कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. जैनधर्म का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. कन्फ्यूशियस धर्म का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'शंग टी' से क्या तात्पर्य है?
2. 'हिंसा का बदला प्रेम से दो' यह किसका कथन है?
3. जैनधर्म आत्मवादी है या सर्वात्मवादी?
4. कन्फ्यूशियस धर्म अनात्मवादी है या सर्वात्मवादी?
5. 'हिंसा का बदला अहिंसा से दो' यह कथन किसका है?
6. कन्फ्यूशियस धर्म में कितने प्रकार के भय का उल्लेख है?
7. आत्मिक विकास किस धर्म का मूल है?
8. 'मानव सेवा' या 'मानवतावाद' को कन्फ्यूशियस धर्म में किस नाम से व्यक्त किया गया है?
9. माओत्से-तुंग से अधिक काल तक कन्फ्यूशियस को लोग याद करेंगे, यह कथन किसका है?
10. कन्फ्यूशियस धर्म में कितने प्रकार के सम्बन्धों को स्वीकार किया गया है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. परम शासक 2. कन्फ्यूशियस 3. आत्मवादी 4. सर्वात्मवादी 5. जैनधर्म
6. तीन 7. जैनधर्म 8. जेन 9. हस्टन स्मिथ 10. पांच प्रकार के।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग-5 : आधुनिक युग में जैनधर्म में प्रासंगिकता

इकाई-15 : आर्थिक विषमता एवं अपरिग्रह

संरचना

15.0 प्रस्तावना
15.1 उद्देश्य
15.2 जीवन विकास की दो दिशाएं
15.3 लोकतंत्र और अर्थशास्त्र
15.4 अपरिग्रह का अर्थशास्त्र
15.5 आधुनिक अर्थशास्त्र की अवधारणा
15.6 अपरिग्रह
15.7 सारांश
15.8 अभ्यास प्रश्नावली

15.0 प्रस्तावना

मनुष्य का जीवन एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। दृश्य दुनिया में वही एक ऐसा प्राणी है जिसके पास सर्वाधिक बुद्धिकौशल है। पर उस बुद्धिकौशल का यह अर्थ नहीं है कि वह दूसरों का अहित करे। दूसरों के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर अपना विकास करना ही जीवन की सार्थकता है।

15.1 उद्देश्य

वर्तमान आर्थिक विषमताओं का समाधान जैन अपरिग्रह सिद्धान्त से कैसे संभव है। प्रस्तुत पाठ में इसी की मीमांसा की जाती है।

15.2 जीवन विकास की दो दिशाएं

मनुष्य जीवन की दो विकास-दिशाएं हैं—पहली आध्यात्मिक एवं दूसरी भौतिक। जीवन को केवल भौतिक उपलब्धि समझने वाले लोग सहज रूप से भोगवाद की ओर अग्रसर होते हैं। उनका लक्ष्य मात्र पदार्थ होता है। जब जीवन भौतिक अस्तित्व ही है तो वह पदार्थ से ऊपर उठकर देख ही कैसे सकता है? अस्तित्व में जब अध्यात्म होगा तब ही पदार्थ से ऊपर उठ कर देखने की दृष्टि प्राप्त होगी।

भोग और त्याग ये दो विपरीत ध्रुव हैं। अपनी अतियों में दोनों ही समाज के संगठक नहीं हैं। समाज में रहने वाला व्यक्ति न केवल भोग में जी सकता है और न केवल त्याग में। भोग में जीने वाला व्यक्ति स्वार्थ में जीता है। त्याग में जीने वाला व्यक्ति परमार्थ में जीता है। समाज में रहने वाले व्यक्ति के लिए परस्परार्थ में जीना आवश्यक होता है। इसी दृष्टि से एक सूत्र दिया गया—**'परस्परोपग्रहो जीवानाम्।'** यह व्यक्ति या समाज में जीने का ही सूत्र नहीं है। पूरी दुनिया के अस्तित्व का संदर्शक सूत्र है।

कुछ लोग मानते हैं हिंसा ही अस्तित्व का संरक्षक सूत्र है। उनके हिसाब से मत्स्य न्याय ही परम सत्य है। छोटा जीव बड़े जीव का आहार बने यही प्राकृतिक व्यवस्था है। मोटे तौर पर इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। पर जब समाज-व्यवस्था का सवाल सामने आया तब यह समझा गया कि हिंसा जीवन के लिए आवश्यक हो सकती है, पर प्रेरणा नहीं। यहीं से मनुष्य के बुद्धिकौशल का अध्याय शुरू होता है। आदिकाल में मनुष्य प्रकृति में जीता था। प्रकृति से जो कुछ सहज रूप से मिल जाता वही उसके जीवन का आधार बनता था। प्रकृति असीम थी मनुष्य थोड़े थे, अतः जीने में कोई कठिनाई नहीं थी। यद्यपि मनुष्य को अपने से शक्तिशाली प्राणियों से अपनी सुरक्षा करनी पड़ती थी, पर फिर भी मनुष्य में परिग्रह की संज्ञा बहुत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अधिक नहीं थी। उसकी आकांक्षाएं भी बहुत प्रबल नहीं थी। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों जनसंख्या में वृद्धि हुई तो आदमी की चिन्तन क्षमता में वृद्धि हुई, आकांक्षाओं में वृद्धि हुई तो संग्रह/परिग्रह की बात भी सामने आई। प्रकृति तो जितनी थी उतनी ही थी उतनी ही रहेगी पर जब आकांक्षाओं का विस्तार होता है तब बात चिन्तनीय बन जाती है। मनुष्य की आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं को रेखांकित करते हुए बहुत सुन्दर कहा गया है—

तन की तृष्णा अल्प है, आध पाव के सेर।
मन की तृष्णा अमिट है, मिले मेर का मेर।।

शरीर के लिए भोजन आवश्यक है, पर वह ज्यादा-से-ज्यादा आवश्यक है तो आध-पाव या सेर (किलो) हो सकता है। पर जब आकांक्षाएं बढ़ती हैं तो तृष्णा केवल तन की ही नहीं रह जाती। अपितु तब वह मन की बन जाती है। मन की तृष्णा तो इतनी अमाप्य होती है कि वह मेरु पर्वत जितने पदार्थों से भी शांत नहीं हो पाती। उसमें सुविधा, वासना, विलासिता तथा प्रतिष्ठा के अध्याय भी जुड़ जाते हैं।

मनुष्य ने जब समाज के रूप में रहना स्वीकार किया तब देहासक्ति के रूप में राज्यवाद एवं साम्राज्यवाद भी सामने आया। राजाओं ने अपनी आकांक्षाओं का कम विस्तार नहीं किया। उनकी राज्य-पिपासा ने लाखों-करोड़ों-अरबों लोगों की बलि ग्रहण की। मनुष्य के अहंकार ने राज्य-भक्ति के खिताब के रूप में खूब खैरात भी बांटी। पर उसका शोषण भी कम नहीं हुआ। वह न केवल दासता के गलियारे से गुजरा अपितु उसे अनेक दारुण दु:ख भी सहन करने पड़े। भगवान् महावीर ने कहा—

"सुवण्ण रूपस्स उ पव्वया भवे
सिया हु केलास समा अणंतया
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि
इच्छा हु आगास समा अणंतया"

इच्छाएं तो आकाश के समान अनंत हैं। उन्हें कभी पूरा नहीं किया जा सकता। महात्मा गांधी ने भी ठीक ही कहा है—**"धरती पेट तो सबका भर सकती है, पर मन एक का भी नहीं भर सकती।"** अपनी और अपने परिवार की सुरक्षा समझ में आ सकती है। पर जब वह समस्त से कटकर अपने में सीमित हो जाती है तो समस्या बन जाती है। परमार्थ में जीने वाले व्यक्ति के सामने परिवार नहीं होता। वह स्वयं ही इतना विस्तृत हो जाता है कि समस्त विश्व उसमें समाहित हो जाता है। वह समस्त को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करता अपितु स्वयं ही समस्त में विलीन हो जाता है। वह किसी के लिए समस्या नहीं बनता अपितु समाधान बन जाता है। जो व्यक्ति आकांक्षाओं में जीता है, उसके लिए परिवार भी कैद बन जाता है। वह इतना स्वकेन्द्रित हो जाता है कि उसे किसी दूसरे की परवाह ही नहीं रहती। परिवार परस्परार्थ की ओर उठने वाला पहला कदम है। पर वह भी तब समस्या बन जाता है जब समस्त की ओर से कट जाता है।

परिवार की प्रतिबद्धता भी निरपेक्ष नहीं हो सकती। उसकी भी एक सीमा होनी आवश्यक है। समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर जो व्यक्ति अपनी आकांक्षाओं का विस्तार करता है, वह अनंत की यात्रा नहीं कर सकता। वह परस्परार्थ की भावना से आबद्ध हो जाता है। ऐसा आदमी भले ही परमार्थ में न भी जी सके, पर उसके जीने का नायिक स्वार्थ नहीं बन सकता। वह अपने जीने के लिए दूसरों को तकलीफ में नहीं डाल सकता। परस्परार्थ की इस समझ ने ही अपरिग्रह की भावना को जन्म दिया।

15.3 लोकतंत्र और अर्थशास्त्र

अपरिग्रह का कोई अर्थशास्त्र नहीं होता। क्योंकि वह तो त्याग है। अर्थशास्त्र का तो अर्थ ही भोग से होता है। इसलिए वह अर्थशास्त्र का विषय नहीं बन सकता। पर अर्थशास्त्र यदि निरंकुश हो जाये उसका परिणाम भी विषमता ही होगा। विषमता से हिंसा जन्म लेगी। भले ही लोगों ने परस्परार्थ की समझ के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कारण ही साम्राज्यवाद के स्थान पर लोकतंत्र को स्थापित किया था। पर केन्द्र में से स्वार्थ नहीं निकल पाया इसलिए लोकतंत्र का अर्थशास्त्र भी शांति का अर्थशास्त्र नहीं बन सका।

अर्थशास्त्र की दृष्टि केवल मनुष्य को सुखी बनाने की है। अपरिग्रह की दृष्टि मनुष्य को शांत बनाने की है। सुख और शांति में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। ऐसा नहीं है कि सुख और शांति का सहावस्थान नहीं हो सकता। पर अपनी मूल प्रकृति में सुख पदार्थाश्रित है तथा शांति आत्माश्रित। जब लक्ष्य में सुख रहता है तो सारी शक्ति पदार्थ के संग्रह—उपभोग में ही खप जाती है। यह दूसरी बात है कि सुख के प्राप्त हो जाने के बाद भी शांति मिले या नहीं मिले। पर शांति को प्राप्त हो जाने के बाद सुख न भी मिले तो चल सकता है। सुख शरीर और इन्द्रियों की अनुभूति है। शांति मन और आत्मा की अनुभूति है। आत्मा की अनुभूति को हर आदमी प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए सामान्य आदमी को पदार्थ और आत्मा के बीच संतुलन बिठाना पड़ता है। अपरिग्रह उस संतुलन का ही एक संकेत-सूत्र है।

15.4 अपरिग्रह का अर्थशास्त्र

अपरिग्रह के अनेक व्याख्याकार हुए हैं। महावीर उनमें अग्रगामी आत्म-पुरुष हैं। उनके लिए घर, परिवार, समाज, राष्ट्र आदि सभी संज्ञाएं चुक गई थी। इसीलिए वे अर्थशास्त्र के प्रवक्ता नहीं थे। जब परिग्रह स्वीकृत ही नहीं है तो उसकी व्याख्या कैसी? पर महावीर जानते थे सब व्यक्ति उस सीमा तक नहीं पहुंच सकते। अपरिग्रह के अंतिम छोर तक तो कोई-कोई व्यक्ति ही पहुंच सकता है। पर वे यह भी जानते थे कि परिग्रह ही सब कुछ हो गया तो शेष कुछ भी नहीं रहेगा। इसलिए उन्होंने परिग्रह पर लगाम लगाने के लिए इच्छा-परिमाण का सूत्र दिया। इच्छा परिमाण में परिग्रह का पूर्ण निषेध नहीं है, अपितु उसकी अल्पता की ओर संकेत है। इस दृष्टि से अपरिग्रह के दो अर्थ हो जाते हैं। एक परिग्रह का सर्वथा अभाव तथा दूसरा परिग्रह की अल्पता उसका सीमाकरण। परिग्रह की अल्पता को ही हम अपरिग्रह का अर्थशास्त्र कह सकते हैं?

15.5 आधुनिक अर्थशास्त्र की अवधारणा

अणुव्रत अनुशास्ता आचार्यश्री महाप्रज्ञ का कहना है—आधुनिक अर्थशास्त्र भौतिकवाद के आधार पर खड़ा हुआ है। उसकी कठिनाई यह एकांगी दृष्टिकोण ही है। यदि एकांगी दृष्टिकोण नहीं होता तो वर्तमान में इतनी आर्थिक अपराध की स्थिति नहीं बनती, आर्थिक स्पर्धा नहीं होती, उत्पादन और वितरण में इतनी विषमता पैदा नहीं होती। आधुनिक अर्थशास्त्र के प्रमुख पुरुष केनिज कहते हैं—'हमें अपने लक्ष्य को प्राप्त करना है, सबको धनी बनाना है। इस रास्ते में नैतिक विचारों का हमारे लिए कोई मूल्य नहीं है।' उनका बहुत स्पष्ट कथन है—'अनैतिकता का विचार न केवल अप्रासंगिक है, बल्कि हमारे मार्ग में बाधक है।

आधुनिक अर्थशास्त्र का उद्देश्य शांति नहीं है और अहिंसा भी नहीं है। उसका उद्देश्य है आर्थिक समृद्धि। प्रत्येक मनुष्य धनवान् बने, कोई गरीब न रहे। मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताएं पूरी हों, इतना ही नहीं वह साधन सम्पन्न बने। आर्थिक समृद्धि के लिए साधन के रूप में लोभ, इच्छा, आवश्यकता और उत्पादन बढ़े यही बात स्वीकृत है।

आज भ्रष्टाचार का प्रश्न ज्वलंत है। बहुत सारे लोग भ्रष्टाचार की बात करते हैं। कहते हैं—भ्रष्टाचार बढ़ा है। जब अर्थशास्त्र की मूल धारणा यह है कि नैतिकता का विचार हमारे मार्ग में बाधक है तो फिर भ्रष्टाचार का रोना क्यों? इसमें आश्चर्य किस बात का। वर्तमान की अर्थशास्त्रीय अवधारणा के बीच यदि भ्रष्टाचार बढ़ता है, आर्थिक अपराध बढ़ते हैं, अप्रमाणिकता और बेईमानी बढ़ती है तो स्वाभाविक है। वे न बढ़े तो आश्चर्य की बात है।

यद्यपि डॉ. मार्शल आदि कुछ उत्तरवर्ती अर्थशास्त्रियों ने स्वीकार किया है कि परिणामत: नैतिकता आनी चाहिए, किन्तु वह अनिवार्य नहीं है। केनीज ने कहा—जब हम आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो जायेंगे तब

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नैतिकता पर विचार करने का अवसर आयेगा, अभी उसके लिए उचित समय नहीं है। अभी जो गलत है वह भी हमारे लिए उपयोगी है। अर्थशास्त्र उपयोगिता के आधार पर चलता है, इसलिए उसमें गलत कुछ भी नहीं है। जो उपयोगी है वह सही है, वही हमारे लिए वांछनीय है।

अर्थशास्त्र के फलितार्थ में यदि प्रति व्यक्ति आय समान होती तो समस्या का समाधान होता। साम्यवाद ने ऐसा ही प्रयोग किया किन्तु वैसा नहीं हुआ। गांधीजी ने कहा है—'आर्थिक समानता का आदर्श आदमी कभी प्राप्त नहीं कर सकेगा। क्योंकि वैयक्तिक क्षमताएं भिन्न-भिन्न हैं, योग्यताएं भिन्न-भिन्न हैं। हर व्यक्ति इस बिन्दु पर नहीं पहुंच सकता।' स्वार्थ को उभारने का परिणाम यह आया कि आज दुनिया की सारी पूंजी कुछ हजार लोगों के हाथ में केन्द्रित हो गई है। इतने बड़े-बड़े धनी बन गये हैं कि सिवाय प्रतिष्ठा और झूठे अहं के पोषण के उनकी सूची में कुछ भी नहीं है। दुनिया का प्रथम नम्बर का धनी, द्वितीय नम्बर का धनी और तृतीय नम्बर का धनी, बस यही उनकी सूची है। जो लोग शीर्षस्थ धनी हैं वे भी शांतिपूर्ण जीवन जी रहे हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनके कारण बहुत सारे लोग गरीब हैं, यह बात तो स्पष्ट है। जो लोग गरीब हैं वे दुःखी ही हैं ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, पर अमीरी में से सुख निकल ही आये, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता।

किसी अंग्रेजी लेखक ने ठीक ही कहा है—The tiger of worldly desires in human mind is more terrible in a living one. Unlimited desires leads one on the path of destruction. 'स्टेण्डर्ड ऑफ लिविंग' की धारणा ने भी आदमी को बहुत धोखे में डाल दिया। हर व्यक्ति की लालसा होती है कि जीवन स्तर ऊंचा होना चाहिए। समस्या यह है कि उसके लिए साधन प्राप्त नहीं है। प्रतिष्ठा का मानदण्ड विकास का चिह्न मान लिया गया। यह भी मान लिया गया कि इतनी बातें तो होनी ही चाहिए। यदि यह धारणा होती—जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए, तो कोई समस्या नहीं थी। यह एक स्वस्थ चिन्तन है। पशु-पक्षी भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं तो मनुष्य जैसा बुद्धिमान प्राणी न करे, यह कैसे हो सकता है? किन्तु स्टेण्डर्ड ऑफ लिविंग की धारणा ने प्राथमिक आवश्यकताओं को गौण कर दिया तथा अनावश्यक वस्तुओं के प्रति आकर्षण पैदा कर दिया। कुछ लोगों के स्वार्थ ने परस्परार्थ की उपपत्ति का विनाश कर दिया। उपभोक्तावाद को आज जो हवा मिल रही है उसके मूल में अधिक उत्पादन और फिर उसका आकर्षक विज्ञापन ये ऐसी बातें हैं जो कुछ महापरिग्रही लोगों की मनोवृत्ति को उभार रही है।

आज का अर्थशास्त्र यह भी कहता है—इच्छा को बढ़ाओ। इच्छा बढ़ेगी तो उत्पादन बढ़ेगा। इसी से उद्योगवाद को बढ़ावा मिला। मनुष्य ने विज्ञान का विस्तार तो किया, कल-कारखाने भी बढ़े पर उनका रुख-मुख समस्त की ओर नहीं हुआ। यह नहीं कहा जा सकता कि विज्ञान की उपलब्धियों का सार्वजनिक उपयोग नहीं हुआ। पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसका दुरुपयोग नहीं हुआ। मनुष्य ने विज्ञान को अपने स्वार्थ का केन्द्र बनाकर बड़े-बड़े उद्योग-धंधे विकसित किए। बल्कि उद्योग-धंधों में भी वे ही उद्योग-धंधे ज्यादा सुविधाएं एकत्र कर रहे हैं जो हथियारों का उत्पादन करते हैं। हथियारों के उत्पादन से पैसा कुछ देशों या व्यक्तियों में ही केन्द्रित हो गया। एक ऐसा अर्थशास्त्र पैदा हो गया जो पूंजी के केन्द्रीकरण की दलाली करने लगा। यह स्वार्थवाद का ही चरमोत्कर्ष है। यदि परस्परार्थ इसके केन्द्र में होता तो कुछ जगह अर्थ के अम्बार नहीं लगते और कुछ जगह लोगों को खाने के लिए या प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही तरसना नहीं पड़ता। आज टेक्नोलॉजी का बहुत विकास हुआ है, इसमें कोई संदेह नहीं है। किन्तु इसके साथ यदि करुणा रहती तो शायद मनुष्य जाति के लिए इतना खतरा पैदा नहीं होता। टेक्नोलॉजी का प्रयोग जिस सूक्ष्मता के साथ संहार की दिशा में हुआ है, उतना लाभ की दिशा में नहीं हुआ। इसका कारण यही है कि मनुष्य में साम्राज्यवाद की, अधिनायकवाद की मनोवृत्ति का बदलाव नहीं हुआ। भले ही आज सब जगह लोकतंत्र प्रतिष्ठित हो गया हो पर राष्ट्रीयवाद ने मनुष्य को क्षत-विक्षत कर दिया। एक समय था जब जमीन का साम्राज्यवाद चलता था। भूमि पर अधिकार करो, अधिकाधिक जमीन हड़पो, यह एक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रकार का भौगोलिक साम्राज्यवाद था। आज महत्त्व इस बात का नहीं है कि हमारे पास भूमि कितनी है, महत्त्व इस बात का है कि हमारे हाथ में बाजार कितना है। कई देश जनसंख्या की दृष्टि से बहुत छोटे हैं, उनके पास जमीन भी ज्यादा नहीं है किन्तु विश्व बाजार में वे सर्वाधिक प्रभावी हैं।

आज विलासिता और सौन्दर्य प्रसाधनों के निर्माण में कितने-कितने निरीह और मूक प्राणियों की निर्मम हत्या की जा रही है। मुलायम और कठोर टिकाऊ प्लास्टिक बनाने के लिए स्थापित किए जाने वाले कारखानों में लाखों चूजों के अविकसित परों को काट कर इस्तेमाल किया जा रहा है। मांस के निर्यात के लिए कितने ही बूचड़खाने लगाने पड़े इसकी कोई चिन्ता नहीं है। यह सब परिग्रह के लिए हो रहा है। क्योंकि क्रूरता के बिना विपुल धन की प्राप्ति संभव नहीं है। माया, कूट-कपट, प्रपंच सब परिग्रह के लिए ही करने पड़ते हैं। कालाधन, रिश्वत, धमकी, हत्या, अपहरण आदि सब परिग्रह के लिए ही हो रहे हैं। जब तक अल्प परिग्रह की बात समझ में नहीं आयेगी तब तक इन क्रूरताओं से बचा नहीं जा सकता।

अल्प परिग्रह अल्प आरम्भ से जुड़ा हुआ है। जहां महारंभ होगा वहां अल्प परिग्रह की बात सोची ही नहीं जा सकती। वहां तो महापरिग्रह ही होगा। अपरिग्रह के अर्थशास्त्र के केन्द्र में अर्थ नहीं होगा अपितु प्राणी होगा। मनुष्य भी एक प्राणी है, पर प्राणी केवल मनुष्य ही नहीं है। मनुष्य के अतिरिक्त भी बहुत सारे प्राणी हैं। परस्परार्थ की दृष्टि से उनका भी मूल्य है। आज उद्योग-धंधों के विस्तार के साथ प्रदूषण की जो समस्या भयंकर बनती जा रही है, वह बहुत खतरनाक है। उद्योग-धंधों ने न केवल वनों और धरती का ही दोहन किया है अपितु हवा, पानी आदि के विनाश के रूप में पूरे पर्यावरण को दूषित बना दिया है। वनस्पति, पृथ्वी, पानी, हवा आदि में भी जीवन है। आज जिस तरह से इनका विनाश हो रहा है वह स्वयं मनुष्य के लिए एक चुनौती है। यदि पर्यावरण का संतुलन बिगड़ा तो पूरी धरती का अस्तित्व खतरे में पड़ जायेगा। जब पर्यावरण ही विनष्ट हो जायेगा तो मनुष्य कहां बचेगा? पर्यावरण की सुरक्षा केवल परमार्थ की अर्थात् प्राणीमात्र के हित की ही बात नहीं है अपितु मनुष्य के अपने हित की बात भी है। यही परस्परार्थ की बात है।

अर्थशास्त्र का सूत्र है— आवश्यकता का असीम विस्तार हो, कहीं रोको मत। इससे भी मनुष्य किनारे पर लग जाता है और अर्थ केन्द्र में आ जाता है। सुविधाओं के लिए अर्थ की आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। क्योंकि मनुष्य में कामना है। कामना है तो फिर सुविधाएं भी अनपेक्षित नहीं रह सकती। कामना और सुविधा को अलग नहीं किया जा सकता। सुविधा की भी अपेक्षा है किन्तु जहां सुविधाओं का अतिरेक हो जाता है वहां मनुष्य गौण बन जाता है और अर्थ प्रधान बन जाता है।

अर्थशास्त्र के हिसाब से पैसा साध्य है। अपरिग्रह के हिसाब से पैसा साध्य नहीं साधन है। जब पैसा साध्य बन जाता है तब साधन शुद्धि पर बल नहीं रह जाता। येन-केन-प्रकारेण पैसा कमाना ही साध्य बन जाता है। इससे ही बहुत सारी बुराइयां पैदा होती हैं। ऐसी स्थिति में अपरिग्रह का विचार ही मनुष्य का मार्गदर्शन कर सकता है। अहिंसा एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, पर उसका मूल्य व्यक्तिगत अधिक है। अपरिग्रह एक सामाजिक मूल्य भी है इसलिए वह अहिंसा से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। हिंसा परिग्रह के लिए ही की जाती है। जहां अपरिग्रह की प्रतिष्ठा हो जाती वहां हिंसा अपने आप समाप्त हो जाती है।

अर्थशास्त्र की दृष्टि से गरीबी और अमीरी ये दो महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। पर वास्तव में गरीबी और अमीरी पैसे में नहीं अपितु मनोभाव में है। गरीबी दुःखद तो है, पर जब अपरिग्रह की मनोदशा जाग जाती है तो वह भी सुखद बन सकती है। इसके विपरीत ऐसे अमीरों की कमी नहीं है जो अपने अर्थ के कारण ही दुःखी होते हैं।

15.6 अपरिग्रह

अपरिग्रह की व्याख्या करते हुए कहा गया है 'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो' आसक्ति ही परिग्रह है। जब तक मनुष्य में आसक्ति रहती है तब तक गरीबी उसका पीछा नहीं छोड़ती। ऐसे लोगों के पास कितना ही अर्थ एकत्रित क्यों न हो जाये पर उनकी मानसिक गरीबी कभी नहीं मिट सकती। वे लोग न केवल स्वयं ही दुःखी रहते हैं अपितु दूसरों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के लिए भी दु:ख का निमित्त बनते हैं। दूसरी ओर अपरिग्रही मनोदशा वाले व्यक्ति के पास कितना ही अभाव क्यों न हो वह कभी दु:खी नहीं बनता। बल्कि जिन लोगों की वह मनोदशा बन जाती है, अर्थ अपने आप उनसे छूट जाता है। उनसे छूटने वाला अर्थ अपने आप अभावग्रस्त लोगों तक पहुंच जाता है।

अपरिग्रही होने का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य के पास अर्थ-परार्थ नहीं हो। यदि ऐसा होता तो पशु-पक्षी या भिखारी सबसे ज्यादा अपरिग्रही बनते। पर वास्तव में ऐसी स्थिति नहीं है। अपरिग्रह तो एक मनोदशा है। जब वह मनोदशा आती है तो अर्थ एक बोझ महसूस होने लगता है। उसे पैसा छोड़ना नहीं पड़ता, अपितु अपने आप छूट जाता है।

15.7 सारांश

अपरिग्रही वृत्ति वाला व्यक्ति अर्थ के अभाव में भी सुखी रह सकता है जबकि परिग्रही मनोवृत्ति वाला व्यक्ति अपार ऐश्वर्य में भी अभाव महसूस करता है। उनके पास सोने-चांदी के पहाड़ भी हो जायें तो भी उन्हें शांति नहीं मिलती। वे अधिक-से-अधिक संग्रह परिग्रह में ही व्यस्त देखे जाते हैं। अपरिग्रही व्यक्ति संग्रह-परिग्रह से दूर होना चाहता है। यही वास्तव में आर्थिक विषमता का सही समाधान बन सकता है।

15.8 अभ्यास प्रश्नावली

1. निबन्धात्मक प्रश्न

अपरिग्रह से आर्थिक विषमता का समाधान संभव है? एक सारगर्भित निबंध लिखें।

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. लोकतंत्र और अर्थशास्त्र पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
2. आधुनिक अर्थशास्त्र की अवधारणा का विश्लेषण करें।

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. आचार्यश्री महाप्रज्ञ का कहना है—आधुनिक अर्थशास्त्र ..... के आधार पर खड़ा हुआ है।
2. 'हमें अपने लक्ष्य को प्राप्त करना है, सबको धनी बनाना है। इस रास्ते में नैतिक विचारों का हमारे लिए कोई मूल्य नहीं है।' ये विचार ..... के हैं।
3. अपरिग्रही व्यक्ति ..... से दूर होना चाहता है।
4. अर्थशास्त्र का सूत्र है ..... का असीम विस्तार हो, कहीं रोको मत।
5. आज का अर्थशास्त्र यह भी कहता है—..... को बढ़ाओ।
6. भोग और ..... ये दो विपरीत ध्रुव हैं।
7. आदिकाल में मनुष्य ..... में जीता था।
8. .....ने भी ठीक ही कहा है—'धरती पेट तो सबका भर सकती हैं, पर मन एक का भी नहीं भर सकती।'
9. परिवार की प्रतिबद्धता भी ..... नहीं हो सकती।
10. मनुष्य ने जब समाज के रूप में रहना स्वीकार किया तब देहासक्ति के रूप में ..... एवं .... भी सामने आया।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. भौतिकवाद	2. केनिज	3. संग्रह-परिग्रह	4. आवश्यकता
5. इच्छा	6. त्याग	7. प्रकृति	8. महात्मा गांधी
9. निरपेक्ष	10. राज्यवाद, साम्राज्यवाद.		

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–16 : पर्यावरण संतुलन एवं जैन–अहिंसा

संरचना

16.0 प्रस्तावना
16.1 उद्देश्य
16.2 अद्वैतसत्ता
16.2.1 आत्म कर्तृत्व
16.2.2 केवल मनुष्य ही नहीं
16.2.3 प्रलय को आमंत्रण
16.2.4 अनर्थ हिंसा से बचाव
16.2.5 युद्ध और पर्यावरण
16.2.6 प्रदूषण एवं बीमारियां
16.3 पृथ्वी पानी और पर्यावरण
16.4 अल्पारम्भ अपरिग्रह
16.5 सारांश
16.6 अभ्यास प्रश्नावली

16.0 प्रस्तावना

अहिंसा एक ध्रुव सत्य है। सभी धर्मों ने इस पर विचार किया है। पर जैन धर्म में इस पर अत्यन्त सूक्ष्मता से विचार किया गया है। समय-समय पर इसकी उपयोगिता भी समझ में आती रही है। कभी-कभी लगता है जैनधर्म अव्यवहार्य है। वह जीवन की रसमयता को क्षीण करता है। पर जब व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है तो यह समझने में कठिनाई नहीं होती कि वह सत्य की गहरी समझ है।

आज पर्यावरण-प्रदूषण की समस्या जिस तरह उभरकर सामने आ रही है उससे लगता है कि जैनधर्म का विचार-दर्शन अत्यन्त प्रासंगिक बनता जा रहा है। असल में जब भी कोई विचार गहराई से देखा जाता है तो उसमें बारीकियां आती ही हैं। सभी धर्मों ने सत्य की गहराइयों में उतरने का प्रयास किया है पर जैनधर्म जिस तलस्पर्शिता तक पहुंचा है वह अप्रतिम है। वास्तव में यह एक वैश्विक सत्य है। इसीलिए देश-काल की सीमा से अतिक्रान्त है। भगवान् महावीर आज से 2524 वर्ष पूर्व हुए थे। उन्होंने सत्य का जो साक्षात्कार किया वह जैन विचार का उत्स बन गया। यह उनके विचार की सप्राणता का ही प्रमाण है कि आज वह विज्ञान की कसौटी पर भी खरा उतर रहा है। अणु से लेकर पूरे लोक-अलोक तक की बातों पर जैनधर्म में विचार हुआ है। पर्यावरण पर भी गहरा विचार हुआ है।

16.1 उद्देश्य

पर्यावरण प्रदूषण की भयावहता को देखते हुए जैन अहिंसा के माध्यम से उसक समाधान कैसे संभव है? यही इस पाठ का प्रमुख उद्देश्य है।

16.2 अद्वैत सत्ता

विश्व एक अद्वैत सत्ता है। वह किसी एक प्राणी के लिए नहीं है। उसमें जड़-चेतन सभी परस्पराधारित है। मनुष्य तो उसका एक अंश है। भले ही मनुष्य दृश्य दुनिया का सबसे बुद्धिमान् प्राणी है। पर जीवन-सत्ता की दृष्टि से पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े आदि सभी प्राणियों का अस्तित्व है। वनस्पति में भी जीवन का अस्तित्व है। विज्ञान ने तो वनस्पति के जीवन को अभी थोड़े समय पहले स्वीकार किया है। पर भगवान् महावीर ने तो उसे ढ़ाई हजार वर्ष पहले ही स्वीकार कर लिया था। बल्कि उन्होंने तो षड्जीव

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

निकाय के रूप में पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा आदि में भी जीवन को स्वीकार किया था। विश्व का कोई भी कोण ऐसा नहीं है जहां जीवन का अस्तित्व नहीं है। वास्तव में जीवन का अस्तित्व ही विश्व का अस्तित्व है। जब भी हम एक छोटे से जीव की भी हिंसा करते हैं तो विश्व-व्यवस्था में व्यवधान पैदा करते हैं। इसीलिए उन्होंने **'अत्त समे मन्निज्ज छप्पी काये'** कह कर हर जीवन को बराबरी का दर्जा दिया है। षड्जीव निकाय का सिद्धान्त पर्यावरण की सटीक व्याख्या है।

16.2.1 आत्मकर्तृत्व

कुछ लोग एकात्म विश्व को तो मानते हैं, पर वे सब जीवों को ब्रह्म के अंश के रूप में स्वीकार करते हैं। भगवान् महावीर ने भी **'एगे आया'** कह कर पूरे जीव जगत् में आत्मा के एकत्ववाद को तो स्वीकार किया है, पर साथ ही उन्होंने **'पुढोसत्ता'** कह कर हर जीवन की स्वतन्त्र अस्मिता को भी स्वीकार किया है। इसका अर्थ यह है कि अपने भले-बुरे के लिए हर प्राणी स्वयं जिम्मेवार है। ईश्वर न तो किसी का निर्माण करता है, न किसी का पालन करता है, न विनाश करता है। पूरी दुनिया अपनी प्राकृतिक व्यवस्था के अनुसार चलती है। वास्तव में **'एगे आया'** षड्जीव निकाय तथा **'पुढो सत्ता'** का विचार पर्यावरण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह आत्मकर्तृत्व की स्वीकृति है।

16.2.2 केवल मनुष्य ही नहीं

महावीर की दृष्टि से सृष्टि के केन्द्र में केवल मनुष्य ही नहीं है। भले ही मनुष्य एक सर्वाधिक विकसित प्राणी है, पर आत्मवाद में विश्वास करने वाला व्यक्ति किसी भी जीवन का अनादर नहीं कर सकता। आज पर्यावरण पर जो विचार हो रहा है, वह केवल मनुष्य के अस्तित्व के लिए हो रहा है। पर वास्तव में मनुष्य की महत्ता इसलिए नहीं है कि वह अपनी रक्षा कर सकता है। उसकी महत्ता तो इसमें है कि वह सब जीवों की रक्षा में ही अपनी रक्षा मानता है। मनुष्य यदि दूसरों का विनाश कर अकेला जीना चाहे तो वह संभव नहीं है। महावीर ने कहा है—जो सूक्ष्म जीवों के सुख-दुःख को जानता है वही अपने सुख-दुःख को जानता है। जो सूक्ष्म जीवों के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह अपने अस्तित्व को ही अस्वीकार करता है। सचमुच यह एक बहुत मूल्यवान् प्रतिपत्ति है। यही पूरे पर्यावरण के साथ जीने की सही दृष्टि है।

16.2.3 प्रलय को आमंत्रण

प्रकृति एक अनन्त-अगम रहस्य है। उसे समझ पाना सामान्य आदमी के वश की बात नहीं है। इसके अपने प्राकृतिक संतुलन हैं। पूरे विश्व का व्यवस्था तंत्र इतना जटिल है कि वह एक गहरा रहस्य है। निश्चय ही विश्व में अपार प्राकृतिक सम्पदाएं भरी पड़ी हैं। पर यदि उनके दोहन में विवेक का परिचय नहीं दिया गया तो विपदाओं के आगमन को भी रोका नहीं जा सकता। प्रकृति के अनन्त रहस्यों में प्रलय भी एक सत्य है। वह कब और कैसे आता है इसके व्यापक तथा अज्ञात वैश्विक कारण हैं। पर मनुष्य ने यदि अपने विवेक का इस्तेमाल नहीं किया तो वह भी प्रलय को एक निमंत्रण बन सकता है।

16.2.4 अनर्थ हिंसा से बचाव

यह सही है कि मनुष्य को जीने के लिए प्रकृति पर निर्भर रहना पड़ता है। इससे कुछ सूक्ष्म जीवों की हिंसा अनिवार्य हो जाती है। पर हिंसा जीवन का सिद्धान्त नहीं बन सकती। जैन दृष्टि से जीवन का सूत्र है—**'परस्परोपग्रहो जीवानाम्।'** जीवन परस्पर सापेक्ष है। हम वनस्पति को ही लें। मनुष्य श्वास के द्वारा कार्बन छोड़ता है उसे ग्रहण कर पेड़-पौधे बढ़ते हैं। वनस्पति ऑक्सीजन छोड़ती है उसे ग्रहण कर मनुष्य जीता है। परस्पर का यह उपग्रह ही जीवन है। जब भी यह प्राकृतिक संतुलन बिगड़ता है तो अव्यवस्था फैलती है। बढ़ती हुई जनसंख्या भी इसका एक कारण हो सकती है। पर मनुष्य यदि निरर्थक रूप से वनस्पति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

का विनाश करता है तो वह प्राकृतिक संतुलन को अस्थिर बनाने का एक अप्राकृतिक कारण बन जाता है। इसीलिए जैनधर्म में अनर्थ हिंसा से बचना बहुत जरूरी बताया गया है। भगवान् महावीर ने श्रावक के बारह व्रतों में आठवां व्रत ही अनर्थ हिंसा का परित्याग रखा है। यदि आदमी अनर्थ हिंसा से बच जाये तो भी वह पर्यावरण के लिए खतरा बनने से बच सकता है।

16.2.5 युद्ध और पर्यावरण

आज दुनिया में युद्ध की जितनी तैयारियां हो रही हैं वे सारी अनर्थ हिंसा की ही द्योतक हैं। युद्ध में मनुष्यों की निरर्थ हिंसा तो होती ही है पर पर्यावरण की भी भयंकर क्षति होती है। जहां एक बार अणु आयुधों का प्रयोग हो जाता है वहां वर्षों-वर्षों तक प्रकृति अपना मूल स्वरूप ग्रहण नहीं कर पाती। अनगिनत प्राणी बिना मतलब ही काल के गाल में समा जाते हैं। जो प्राणी बच जाते हैं वे भी भयंकर बीमारियों से ग्रस्त हो जाते हैं। युद्ध से कभी शांति नहीं हो सकती। शांति तो मैत्री-अहिंसा से ही संभव है।

जैनधर्म में तो हथियार के प्रयोग को ही हिंसा नहीं माना गया है अपितु दूसरे को शस्त्र देना या उसका व्यापार करना भी अनर्थ हिंसा माना गया है। इस दृष्टि से देखा जाये तो आज शस्त्र का व्यापार जिस तरह फल-फूल रहा है वह एक बहुत बड़ी अनर्थ हिंसा है। कुछ देश टेक्नालॉजी के नाम पर शस्त्रास्त्रों के निर्माण एवं व्यापार द्वारा अपनी आर्थिक समृद्धि का प्रबन्ध कर न केवल विश्व की अर्थ-व्यवस्था को ही विघटित कर रहे हैं अपितु पर्यावरण के लिए खतरा भी पैदा कर रहे हैं। यदि अणु अस्त्रों की होड़ को बढ़ावा मिला तो भविष्य और भी संकटमय बन जायेगा। वास्तव में शस्त्र में एक प्रतिस्पर्धा होती है। वह आगे-से-आगे बढ़ती जाती है। अणु-बम के बाद परमाणुबम तथा हाइड्रोजन बम जैसे आविष्कार हो रहे हैं। एक हाइड्रोजन बम हजारों अणुबमों से भी ज्यादा खतरनाक होता है। उससे अपार ऊर्जा पैदा होती है। लाखों डिग्री सेंटीग्रेड तापमान बढ़ जाता है। उससे पूरे पर्यावरण की अपार क्षति होती है।

पर्यावरण के विनाश का अर्थ है पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा, वनस्पति तथा अन्य त्रस जीवों की हिंसा। पर्यावरण की हिंसा वास्तव में मनुष्य की स्वयं की हिंसा है। प्रदूषण के कारण मनुष्य स्वयं मृत्यु के नजदीक पहुंच जाता है। औद्योगीकरण, शहरीकरण और खेती के आधुनिकीकरण से पर्यावरण पर जो हमला हुआ है उस पर प्रकाश डालते हुए राष्ट्रीय स्वास्थ्य एवं पर्यावरण सम्मेलन में बोलते हुए उपराष्ट्रपति डॉ. कृष्णकांत ने कहा है—हम ऐसे-ऐसे नये पदार्थ बनाते जा रहे हैं जिनसे प्रकृति अपनी रक्षा नहीं कर सकती। अपने प्रौद्योगिक अहंकार में खुद मां-प्रकृति के शत्रु हो गए हैं। उन्होंने कहा कि इन नये-नये रसायनों के सम्पर्क से अनेक बीमारियां यहां तक कि कैंसर का ग्राफ भी बढ़ रहा है।

162.6 प्रदूषण एवं बीमारियां

भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसन्धान परिषद् के पूर्व महानिदेशक डॉ. वी. रामलिंगास्वामी ने कहा है—बच्चों में होने वाली दो-तिहाई बीमारियां प्रदूषणजनित कारणों से होती है। ये बीमारियां ऐसी हैं जिन्हें रोका जा सकता है। यदि वायु-प्रदूषण घटाकर विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा तय किए गए मानदण्डों पर ले आया जाये तो लगभग 2 करोड़ लोगों को सांस की बीमारियों के ईलाज के लिए न जाना पड़े। आज तक 1 करोड़ 10 लाख रसायनों की जानकारी प्राप्त की जा सकी है। इनमें से लगभग एक लाख रसायनों का औद्योगिक स्तर पर उत्पादन हो रहा है और एक हजार नए रसायन इस श्रेणी में आ जाते हैं। प्रदूषण की समस्या के विविध रूप हैं। धरती में पोषक-तत्त्वों का कम होते जाना भी इसी का एक रूप है।

वैज्ञानिकों का अभिमत है कि सघन खेती तथा रासायनिक खादों के कारण मिट्टी से ताम्बा, मोलीबडनम, मैंगनीज, जिंक आदि पोषक तत्त्व कम हो रहे हैं। इससे खाद्य-पदार्थों में भी इन चीजों की कमी होती जा रही है। पंजाब में 1965 के आसपास ही जिंक की कमी हो गई थी। अस्सी के दशक तक मैंगनीज और लौह कम होने लगा था। आज भारत की 47 प्रतिशत धरती जिंक की कमी से ग्रस्त हो चुकी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है। इससे किशोर-किशोरियों का शारीरिक विकास प्रभावित हो रहा है। मधुमेह, हृदयरोग आदि बीमारियां भी बढ़ रही हैं।

मुम्बई स्थित इन्स्टीट्यूट फॉर रिसर्च इन प्रोडक्शन की वैज्ञानिक कमला कृष्णन् का अभिमत है कि भारत में पिछले 10 वर्षों से किए गए अध्ययनों से उजागर हुआ है कि भारतीय पुरुषों के वीर्य में शुक्राणुओं की संख्या 43 प्रतिशत से नीचे गिर गई है और उनकी संरचना में 30 प्रतिशत अंतर आ गया है। प्रदूषकों में एस्ट्रोजीन पर प्रभाव डालने वाले ऐसे पदार्थ होते हैं, संभवत: उनसे ही यह अंतर आता है।

16.3 पृथ्वी-पानी और पर्यावरण

आज पृथ्वी का जो बेहिसाब उत्खनन किया जा रहा है उससे उसका प्राकृतिक संतुलन बिगड़ रहा है। कोयला, लोहा, पेट्रोल आदि पदार्थों के अतिशय दोहन से न केवल इनके भण्डार ही खत्म हो रहे हैं अपितु प्राकृतिक संतुलन में भी अंतर आ रहा है। पानी के अतिशय दुरुपयोग के कारण न केवल जमीन का जलस्तर ही नीचे गिर रहा है अपितु मल एवं औद्योगिक-रासायनिक कचरे के कारण शुद्ध जल भी दुर्लभ होता जा रहा है। वैज्ञानिकों का अभिमत है कि वर्तमान का हमारा संकट पेट्रोल है तो आगे का संकट पानी होगा। यदि भविष्य में विश्व युद्ध हुआ तो संभवत: उसका कारण पानी ही रहेगा। प्रदूषित पानी से मनुष्य को ही नुकसान नहीं हो रहा है अपितु जल-जीवों के जीवन के लिए भी खतरा पैदा हो गया है। ईंधन के दुरुपयोग से तो आज शहरों में रहना ही मुश्किल हो गया है। पेट्रोल से जो धुआं निकलता है उससे अनेक प्रकार की बीमारियां फैल रही हैं फैक्ट्रियों एवं कारखानों से निकलने वाला धुआं भी एक समस्या है। पृथ्वी का तापमान निरन्तर बढ़ता जा रहा है। तापमान यदि इसी प्रकार बढ़ता रहा तो पहाड़ों की बर्फ पिघल कर समुद्रों के जलस्तर में वृद्धि कर प्रलय का द्वार खोल सकती है। वैज्ञानिक सर्वेक्षणों से पता चला है कि पिछले वर्षों में कार्बन डायऑक्साइड की मात्रा तेजी से बढ़ रही है।

16.3.1 वायु-प्रदूषण

पचास से ज्यादा प्रतिशत वायु प्रदूषण तो स्व चालित वाहनों से हो रहा है। साधारणतया वायुमण्डल में 0.1 पी.पी.एम. कॉर्बन मोनोक्साइड होता है। परन्तु कार, ट्रक इंजिन आदि के कारण उसकी सान्द्रता 350 पी. पी.एम. से भी ऊपर चली जाती है। वायु के इस प्रदूषण के कारण ओजोन परत में भी छेद हो गया है। यदि यह क्रम इसी तरह बढ़ता रहा तो धरती पर आने वाली पराबैंगनी किरणों का अवशोषण बंद हो जायेगा और उससे धरती पर प्राणियों का जीवित रहना भी मुश्किल हो जायेगा। पारे जैसी जहरी धातु जो समग्र स्नायुतंत्र को नष्ट करने में सक्षम है, हवा में फैल रही है। सीसे के जहर से मानव-मस्तिष्क के तंतु नष्ट हो रहे हैं। निकल, क्रोमियम, मैंगनीज जैसी धातुओं से फेफड़ों तथा कैंसर की बीमारियां बढ़ती हैं। अमेरिकन पब्लिक हैल्थ ऐसोशिएसन के अध्ययन के अनुसार बच्चों में दमे तथा चमड़ी के रोगों के लिए भी वायु प्रदूषण उत्तरदायी है।

ओजोन परत को नष्ट करने में नाइट्रिक ऑक्साइड तथा फ्लोरिन ऑक्साइड ये दो गैसें प्रमुख हैं। ऊंची उड़ान भरने वाले सुपर सोनिक जेट विमान नाइट्रिक एसिड पैदा करते हैं। उससे ओजोन परत को क्षति पहुंचती है। पर उससे भी ज्यादा क्षति फ्लोरिन ऑक्साइड से होती है। फ्लोरिन ऑक्साइड का निर्माण फ्लोरो कार्बन नामक रसायन से होता है। यह प्राकृतिक रसायन नहीं है। उसका निर्माण मनुष्य ने नहीं किया है। वह फ्लोरिन और कार्बन का यौगिक है। वह ऊंचे तापमान को सह सकता है इसलिए ज्यादा टिकाऊ है। अनेक उद्योगों में उसका व्यापक उपयोग होता है। रेफ्रीजरेटरों तथा एयरकंडीशनरों में काम आने वाले द्रव्य ऐरासील स्प्रे, मजबूत प्लास्टिक फोम के निर्माण में फ्लोरो कार्बन के यौगिकों का उपयोग होता है। यह कार्बन वायुमण्डल में पहुंचकर हवा के अन्य अणुओं से मिलकर वायु में फैल जाता जाता है। वैज्ञानिकों का मत है कि ये परमाणु पचास से सौ वर्ष तक विनष्ट नहीं होते। धीरे-धीरे वे समताप मण्डल में ओजोन परत तक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पहुंच जाते हैं। हां पराबैंगनी किरणों से उनके बन्धन टूट जाते हैं। इस प्रक्रिया में फ्लोरिन मुक्त परमाणु ओजोन के परमाणुओं को तोड़ते चले जाते हैं। यह क्रिया-प्रतिक्रिया लम्बे समय तक चलती रहती है। वैज्ञानिक गणना के अनुसार फ्लोरिन का एक कण ओजोन के एक लाख अणुओं को नष्ट कर देता है। इस प्रकार विविध रूपों में औद्योगीकरण के कारण पृथ्वी पर भयंकर प्रदूषण फैल रहा है।

16.3.2 वायु प्रदूषण

वायु प्रदूषण का एक प्रकार है ध्वनि प्रदूषण। भगवान् महावीर ने कहा था—**'जं सम्मंति पासइ तं मौणंति पासइ'** जो सत्य को जानता है वह मौन को जानता है। जो मौन को जानता है वह सत्य को जानता है। इस उक्ति में सचमुच में बहुत गहरा अर्थ छिपा हुआ है। ज्यादातर लोग शब्द को भाषा के रूप में ही जानते हैं पर शब्द का ध्वनिरूप मनुष्य के लिए कितना खतरनाक हो सकता है यह आज बहुत स्पष्ट हो गया है। बोलने से मनुष्य की स्वयं की शक्ति तो क्षीण होती ही है पर ध्वनि का प्रहार इतना विस्फोटक होता है कि उससे कान के कोमल परदे क्या मोटे-मोटे पत्थर भी टूट जाते हैं। वस्तुतः ध्वनिप्रदूषण आज के युग की गंभीर समस्या बन गया है। वाहनों का कोलाहल, विमानों की कर्णभेदी ध्वनि, तरह-तरह की मशीनों की धड़धड़ाहट, वातानुकूलित यंत्र, रेफ्रीजरेटर आदि का सूक्ष्म कम्पन, रेडियो, वाद्ययंत्रों तथा लाउड स्पीकरों पर गूंजता संगीत, टेलीफोन, टाइपराइटर्स आदि की आवाज, सार्वजनिक सभाओं, शोभा-यात्राओं के पोपसंगीत की गगन भेदी आवाज आदि न जाने कितने प्रकार से प्रत्येक क्षण आदमी के कानों पर आक्रमण कर रहे हैं। यद्यपि प्राचीन काल में भी ध्वनि नहीं होती थी ऐसा नहीं है, परन्तु आज शहरों की आबादी तथा कारखानों की अतिशय वृद्धि से यह समस्या गंभीर बन गई है। प्रतिवर्ष 10 प्रतिशत के हिसाब से बढ़ने वाली ध्वनि पर नियंत्रण स्थापित नहीं किया जा सका तो वैज्ञानिकों का मानना है कि थोड़े वर्षों में बहरापन एक व्यापक रोग जैसा रूप धारण कर लेगा।

कोलाहल से मृत्यु एक हास्यास्पद कल्पना जैसी बात लगती है। पर आज यह एक हृदय-विदारक कटु सत्य बन गया है। अमेरिका के वातावरण-संरक्षण विभाग ने अपनी रिपोर्ट में बताया है कि तीव्र आवाज के कारण अमेरिका के करोड़ों नागरिकों के आरोग्य को नुकसान पहुंचा है। कार्यालय तथा घर में शांत जीवन व्यतीत करने वाले करोड़ों लोगों की कार्यक्षमता में भी ह्रास हुआ है। लाखों लोग तो बिना श्रवणयंत्र के सुनने में भी असमर्थ हो गए हैं। असह्य ध्वनि का प्रभाव केवल कान पर ही नहीं पड़ता अपितु समग्र शरीर पर पड़ता है। श्वसन तंत्र, पाचन-तंत्र, जनन क्षमता पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। इतना ही नहीं मस्तिष्क तथा स्नायुओं खासकर हाथ-पैरों की नाजुक रक्तवाहिनियों पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। आंखों की बीमारी, सिरदर्द आदि बीमारियों की भी इससे भयंकर प्रवृद्धि हो रही है। ध्वनि का सबसे खराब असर तो मज्जातंत्र पर पड़ता है। उसके कारण अनिद्रा, चिड़चिड़ापन, निराशा आदि के रूप में मानसिक स्वास्थ्य क्षतिग्रस्त होता है। इन संदर्भों में मौन-अशब्द का महत्त्व अक्षीण है।

16.3.3 वनस्पति-प्रदूषण

पेड़-पौधों के कारण ही पृथ्वी पर जीवन शक्य है। उनके बिना जैविक-प्रक्रिया अशक्य है। जैविक संतुलन को बनाये रखने के लिए वनस्पति की हिंसा से बचना आवश्यक है। वास्तव में वनस्पति मनुष्य के लिए वरदान है। जगत् में जितनी प्राणवायु है उसका बड़ा भाग वनस्पति द्वारा ही उत्पन्न होता है। असल में तो मनुष्य का जीवन वनस्पति पर ही आधारित है। उसका विनाश मनुष्य का स्वयं का विनाश है। प्राचीन काल में अनेक प्रकार के फलों की उपलब्धता के संकेत मिलते हैं। पर संरक्षण के अभाव में वे लुप्त हो गए हैं। आज जिस प्रकार से वनस्पति का दोहन हो रहा है यह बहुत चिन्ता का विषय है।

वनस्पति की अहिंसा का महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि उससे प्राकृतिक संतुलन पैदा होता है। जगत् में जितने पदार्थ हैं वे धरती की मूल्यवान् सम्पदा हैं। इस दृष्टि से वृक्ष केवल स्वयं ही सजीव नहीं है अपितु वे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पृथ्वी पर जीवन-धारा से जुड़ी हुई प्राकृतिक उपलब्धि है। जब वन का संहार होता है तो वर्षा का संतुलन भी बिगड़ जाता है। पहली बात तो यह है कि उसके कारण वर्षा के प्रमाण में जबरदस्त कमी आ जाती है। दूसरी बात यह है कि वृक्षों को काटने से जंगलों की जल संग्रहण क्षमता भी घट जाती है। उनसे पहाड़ों का स्खलन हो जाता है, पानी के प्राकृतिक बंधन के टूट जाने से बाढ़ का प्रलयंकारी दृश्य भी उपस्थित हो जाता है। उससे रेगिस्तान का विस्तार होता है। पृथ्वी पर से वनस्पति के विनाश से मनुष्य के आचरण में भी स्वाभाविकता कम होने लगती है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा है—साधक न स्वयं वनस्पति का विनाश करे, न औरों से करवाये और न उसका समर्थन करे। वनस्पति की हिंसा स्वयं मनुष्य की अपनी हिंसा है। अमेरिका की अपराध निवारण शाखा ने अपनी रिपोर्ट में कहा है—हिंसात्मक प्रवृत्तियों का कारण वहां के धरती का लगातार वन-विहीन होते जाना है। वन-विहीन क्षेत्रों के निवासियों के बर्बर, क्रूर होने का कारण वहां ऑक्सीजन की कमी है। उससे शारीरिक और मानसिक रोगों में वृद्धि होती है। वन प्राणवायु के भण्डार हैं। एक आदमी को प्रतिदिन कम से कम 15 किलो प्राणवायु की आवश्यकता होती हे। उसके लिए 50 टन के 5 वृक्ष आवश्यक हैं। इसे यदि दूसरे शब्दों में कहा जाये तो 5 वृक्षों को काटने का अर्थ है एक मनुष्य को मृत्यु के मुख में धकेल देना।

इस तरह हम समझ सकते हैं कि पर्यावरण की सुरक्षा के लिए वनस्पति की अहिंसा कितनी आवश्यक है। भगवान् महावीर एक महाव्रती, पूर्ण अहिंसक महापुरुष थे। पर उन्होंने आम आदमी के लिए अणुव्रती के रूप में अल्पारंभ की संज्ञा प्रदान की। यदि सभी लोग इस व्रत को स्वीकार कर लें तो सहज ही प्रदूषण की समस्या को विकट होने से बचाया जा सकता है।

16.4 अल्पारम्भ-अपरिग्रह

अल्प आरम्भ का ही दूसरा सिरा है—अल्प परिग्रह। सामान्य आदमी पूर्णत: अपरिग्रही नहीं बन सकता। पर वह अपनी इच्छाओं पर तो अंकुश लगा ही सकता है। यद्यपि आज के अर्थशास्त्री मनुष्य की कृत्रिम इच्छाओं को उभार कर उपभोक्तावाद तथा महापरिग्रह की भावना को बढ़ावा दे रहे हैं। उनका सूत्र है आवश्यकताएं बढ़ेंगी तो उत्पादन बढ़ेगा। उत्पादन बढ़ेगा तो मनुष्य को सुख-समृद्धि प्राप्त होगी। पर असल में इस सिद्धान्त ने विनाश को ही आमंत्रण दिया है। आज उपभोक्तावाद के कारण प्रकृति का जो दोहन हो रहा है उससे कौन अपरिचित है? पर उस दोहन के साथ कूड़े-कचरे के रूप में जो प्रदूषण पैदा हो रहा है वह भी कम चिन्ता का विषय नहीं है। इसीलिए महावीर ने उपभोग-परिभोग सीमा व्रत के रूप में पर्यावरण को अदूषित रखने का एक दूरदर्शी उपाय सुझाया। आज विज्ञापनों के माध्यम से उपभोक्तावाद को जिस तरह से उभारा जा रहा है वह चिन्ता का विषय है। उपभोग-परिभोग की सीमा से ही इस समस्या से बचा जा सकता है। यही आर्थिक समस्या का समाधान बन सकता है।

16.5 मांसाहार और प्रदूषण

पर्यावरण की सुरक्षा के लिए स्थावर-स्थिर रहने वाले प्राणियों के साथ-साथ त्रस—चलने फिरने वाले प्राणियों का भी बहुत बड़ा योगदान है। इस दृष्टि से पशु-पक्षियों का भी अपना महत्त्व है। इनका भी पर्यावरण की सुरक्षा से अपना गहरा सम्बन्ध है। मनुष्य जब मांसाहार के लिए पशु-पक्षियों की हत्या करता है तो वह पर्यावरण पर ही प्रहार करता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने मांसाहार का बहुत दृढ़ता से विरोध किया है। मांसाहार न केवल मनुष्य के शरीर के लिए ही हानिकर है अपितु उसके मानसिक स्वास्थ्य के लिए भी नुकसानदेह है। पशु-पक्षी न केवल प्रकृति के सजीव अंग हैं अपितु उनका मल-मूत्र भी पर्यावरण की सुरक्षा का एक हेतु बनता है। उसी से धरती उर्वर बनती है तथा वनस्पति को पोषण मिलता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

16.6 सारांश

यद्यपि जैनधर्म की अहिंसा एक आध्यात्मिक सच्चाई है पर पर्यावरण की सुरक्षा उससे अपने आप फलित हो जाती है।

16.7 अभ्यास प्रश्नावली

1. निबंधात्मक प्रश्न

1. पर्यावरण संतुलन में अहिंसा की क्या भूमिका है? एक सारगर्भित निबंध लिखें।

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. युद्ध और पर्यावरण के बारे में आपके क्या विचार हैं? स्पष्ट करें।
2. प्रदूषण एवं बीमारियों के बारे में संक्षेप में प्रकाश डालें।

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. प्रकृति के अनन्त रहस्यों में प्रलय भी एक ..... है।
2. एक हाइड्रोजन बम हजारों ..... से भी ज्यादा खतरनाक होता है।
3. पर्यावरण की हिंसा वास्तव में ..... की स्वयं की हिंसा है।
4. पंजाब में 1965 के आसपास ही ..... की कमी हो गई थी।
5. आज ..... की 47 प्रतिशत धरती जिंक की कमी से ग्रस्त हो चुकी है।
6. साधारणतया वायुमण्डल में कार्बन मोनोक्साइड कितना होता है?
7. मानव मस्तिष्क के तन्तु किससे नष्ट हो रहे हैं?
8. ओजोन परत को नष्ट करने में कौन-सी गैसें प्रमुख हैं?
9. मृत्यु एक हास्यास्पद कल्पना जैसी बात लगती है, किससे?
10. अल्प आरम्भ का दूसरा सिरा क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. सत्य 2. अणुबमों 3. मनुष्य 4. जिंक 5. भारत 6. 0.1 पी.पी.एम.
7. सीसे के जहर से 8. नाइट्रिक ऑक्साइड तथा फ्लोरिन ऑक्साइड 9. कोलाहल से
10. अल्प-परिग्रह।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–17 : लोकतंत्र एवं अनेकान्त

संरचना

17.0 प्रस्तावना
17.1 उद्देश्य
17.2 लोकतंत्र का स्वरूप
17.3 लोकतंत्र के मौलिक सूत्र
17.3.1 पक्ष प्रतिपक्ष
17.3.2 समानता
17.3.3 समन्वय
17.3.4 सहयोग
17.3.5 सहानुभूति
17.3.6 सहिष्णुता
17.4 सारांश
17.5 अभ्यास प्रश्नावली

17.0 प्रस्तावना

सत्य एक सापेक्ष अनुभूति है। अखण्ड सत्य को केवल सर्वज्ञ ही जान सकता है। एक-एक पदार्थ की अनंत-अनंत पर्याय हैं। आदमी एक पदार्थ की सारी पर्यायों को भी नहीं जान सकता तो समस्त पदार्थों की समस्त पर्यायों के जानने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। एक पदार्थ में भी एक अणु की अनंत पर्याय है। अणु के बारे में पुराने जमाने में भी बहुत चर्चाएं हुई हैं। वर्तमान युग में भी बहुत खोज हुई है। अणुबम का आविष्कार हुआ है पर रहस्य इतने गहरे हैं कि जो जाना गया है उससे जिज्ञासाएं अधिक प्रबल हुई हैं। मनुष्य का ज्ञान ज्यों-ज्यों विकसित होता जा रहा है त्यों-त्यों उसे पता लग रहा है कि उसका अज्ञान ज्यादा गहरा है। ऐसी स्थिति में सापेक्षता को समझना अत्यन्त आवश्यक है। जीवन के हर एक पक्ष में सापेक्षता को समझना जरूरी है। लोकतंत्र में भी सापेक्षता को समझना जरूरी है। बल्कि लोकतंत्र तो सापेक्षता के बिना चल ही नहीं सकता।

17.1 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का उद्देश्य लोकतंत्र की समस्या का समाधान अनेकान्त से संभव है, की मीमांसा करना है।

17.2 लोकतंत्र का स्वरूप

लोकतंत्र का अर्थ है जनता के लिये जनता के द्वारा जनता का शासन। मनुष्य ने आदिकाल से लेकर आज तक अनेक शासन प्रणालियों का प्रयोग किया। कभी दंडबल का शासन हुआ तो कभी बाहुबल का। पर हर शासन प्रणाली में व्यक्ति ही प्रमुख रहा। व्यक्ति का सोच व्यापक रहे तब तो काम चल जाता है। पर जब सोच संकीर्ण बन जाता है तो अनेक समस्याएं खड़ी हो जाती हैं। इसीलिए वर्तमान में लोकतंत्र को प्रतिष्ठा मिली। लोकतंत्र में हर व्यक्ति को आगे बढ़ने का अधिकार है इसीलिए यह सोचा जा रहा है कि लोकतंत्र ही सर्वोत्कृष्ट शासन प्रणाली है। आज साम्राज्यवाद इतिहास की चीज बन गया है। कहीं यदि सम्राट् है भी तो वे केवल अलंकारिक हैं। शासन सत्ता तो प्रायः जनता के ही हाथ में है।

17.3 लोकतंत्र के मौलिक सूत्र

स्वतंत्रता, समानता, सहयोग, सहानुभूति, समन्वय और सहिष्णुता ये अनेकान्त के कुछ ऐसे मौलिक तत्त्व हैं जो लोकतंत्र को भी प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं। पर ये सारे मूल्य भी निरपेक्ष नहीं हो सकते। सापेक्षता के बिना उनसे अनेक विकृतियां भी संभव हो सकती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसमें कोई संदेह नहीं कि स्वतंत्रता एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। कोई भी आदमी परतंत्र नहीं रहना चाहता। आदमी क्या कोई पक्षी भी परतंत्र नहीं रहना चाहता। स्वतंत्रता के लिये आदमी सब कुछ दांव पर लगा देता है। स्वतंत्रता के सामने पैसे का तो कोई मूल्य ही नहीं है। आदमी भूखा रहकर भी स्वतंत्र रहना चाहता है। बल्कि स्वतंत्रता के लिए वह प्राणों से भी खेल जाता है। दुनिया का पूरा इतिहास ऐसे बलिदानों से भरा पड़ा है। पर सवाल यह है कि क्या स्वतंत्रता भी निरपेक्ष हो सकती है? उत्तर इसका यही हो सकता है कि स्वतंत्रता के लिए भी सापेक्षता जरूरी है।

एक राष्ट्र आजाद हुआ। लम्बे समय तक गुलाम रहने की कसक सबके मन में थी। आजादी के क्षणों में सबका मन उत्साह से भरा हुआ था। सब खुशियों में मगन थे। एक बुढ़िया भी आजादी के भावावेश में इतने उत्साह से भर गई कि सड़क के बीच आकर लेट गई। सामने से एक ट्रक आ रहा था। ड्राइवर ने हार्न बजाया, पर बुढ़िया तो टस से मस न हुई। आखिर ड्राइवर को नजदीक आकर कहना पड़ा—माताजी! सड़क मत रोको, एक किनारे हो जाओ। बुढ़िया ने तड़क कर कहा—एक ओर क्यों हो जाऊं? मेरा देश आजाद हो गया। मैं कहीं पर सोने के लिए स्वतंत्र हूँ। ड्राइवर ने धीरे से कहा—माताजी! आप सड़क के बीच में सोने के लिए स्वतंत्र है तो मैं भी आपके ऊपर से गाड़ी निकालने के लिए स्वतंत्र हूँ। तत्काल बुढ़िया को एक किनारे हो जाना पड़ा।

समाज में जीने के लिए हर आदमी को हर स्तर पर सापेक्षता को जीना आवश्यक है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता का मूल्य है, पर वह उसी हद तक स्वीकार्य है जिस हद तक दूसरे के लिए बाधक नहीं बनता। महात्मा गांधी ने बहुत सुन्दर कहा था—मेरी स्वतंत्रता वहीं तक है जहाँ तक मेरे घर की सीमा है। उससे आगे मेरे पड़ौसी की स्वतंत्रता शुरु हो जाती है।

सचमुच लोकतंत्र में पड़ौसी की स्वतंत्रता का बड़ा मूल्य है। एक आदमी को इतनी स्वतंत्रता नहीं हो सकती कि वह दूसरे की उपेक्षा कर दे। इससे जीवन चल ही नहीं सकता। आदमी को पग-पग पर अपने पड़ौस का ध्यान रखना पड़ता है। एक बहुमंजिल बिल्डिंग के नीचे के फ्लेट में एक परिवार रहता था। जब वह अपनी अंगीठी जलाता तो धुंआ निकलता और वह ऊपर के फ्लेट में रहने वाले व्यक्ति को बाधित करता। रोज-रोज की यह समस्या असह्य हो गई तो उसने अपने नीचे के पड़ौसी से कहा—भाई! आपकी अंगीठी का धुंआ हमें बाधित करता है अतः ऐसी कोई व्यवस्था करो जिससे कि हमें कोई कष्ट न हो। नीचे के पड़ौसी ने कहा—इसमें मैं क्या व्यवस्था कर सकता हूँ? धुंए का स्वभाव है ऊपर जाने का। मैं उसे कैसे रोक सकता हूँ? मेरे पास इसका कोई इलाज नहीं है। ऊपर का पड़ौसी भी विवश था। पर कठिनाई तो उसके सामने थी। कुछ दिन बाद उसे एक उपाय सूझा और उसने ऊपर की छत में एक छेद कर दिया। उस छेद में से गंदा पानी नीचे के पड़ौसी के फ्लेट में गिरने लगा। तब उसने कहा—भाई! यह क्या करते हो। तुम्हारे गंदे पानी से मेरा तो सारा घर ही गंदा हो रहा है। ऊपर वाले ने कुटिल व्यंग करते हुए कहा—भाई! इसमें मैं क्या कर सकता हूँ। पानी का स्वभाव है नीचे जाने का। मैं उसे कैसे रोक सकता हूँ। मेरे पास कोई इलाज नहीं है। अब नीचे का पड़ौसी विवश था। आखिर दोनों को मिलकर समझौता करना पड़ा कि नीचे का पड़ौसी धुंए की व्यवस्था करेगा और ऊपर का पड़ौसी पानी को नीचे नहीं आने देने की व्यवस्था करेगा। सचमुच आदमी को इसी तरह पग-पग पर अपने पड़ौसियों से समझौता करना पड़ता है। जब समझौता होता है तभी दोनों की स्वतंत्रता निभती है। यदि एक भी निरपेक्ष हो जाए तो कोई भी सुख में नहीं रह सकता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

समाज में एक-दूसरे के साथ रहने के बहुत कानून बने हुए हैं। बहुत बड़ा संविधान बना हुआ है। पर कानून या संविधान हो जाने मात्र से काम नहीं चलता। जब तक कानून तथा उसकी भाषा सापेक्षता को नहीं समझा जाता तो वे ही झगड़े के मूल कारण बन जाते हैं।

लार्ड एक्टन के अनुसार मनुष्य का सबसे महत्त्वपूर्ण लक्ष्य है धर्म और उसके बाद स्वतंत्रता। धर्म और स्वतंत्रता परस्पराधारित हैं। संयमित स्वतंत्रता समाज की सबसे मूल्यवान निधि है। आधुनिक सभ्यता के विकास का सम्बन्ध मनुष्य की स्वतंत्रता और उसकी गति को सुस्थिर करता है।

जो स्वेच्छा से अपने आप पर अनुशासन कर सकता है वास्तव में वही स्वतंत्र है। क्योंकि उसने अपनी आवश्यकताओं एवं इच्छाओं को दूसरे की आवश्यकता और इच्छा के साथ जोड़ा है। जिसकी इच्छाएं वश में न हो वह स्वेच्छाचारी तो बन सकता है स्वतंत्र नहीं। मनुष्य की चेतना का अर्थ ही है कि वह अपने मन पर अनुशासन कर सकता है शेष प्राणी मन पर नियंत्रण नहीं कर सकते। इसलिए वे स्वेच्छाचारी बन सकते हैं स्वतंत्र नहीं।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता लोकतंत्र की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपनी भावना को प्रकट करना सबको अच्छा लगता है, पर जब अभिव्यक्ति में सापेक्षता नहीं होती है तो एक शब्द ही महाभारत खड़ा कर देता है। यह निश्चित है कि अभिव्यक्ति पर से सापेक्षता का अंकुश हटता है तो विवाद बढ़ता ही है। असल में निरंकुश अभिव्यक्ति तो एक तीखा प्रहार है। वचन का घाव बड़ा गहरा होता है। लोकतंत्र में जीने वाले व्यक्ति को न केवल बोलने और लिखने में ही संयम रखना पड़ता है अपितु समझने में भी सापेक्षता का ध्यान रखने की आवश्यकता है।

लोकतंत्र की प्रतिष्ठा से पहले अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जैसी कोई चीज नहीं थी। हर इंसान मुंह खोलने और कलम, कूंची या छेनी उठाने से पहले दस बार सोचता था कि मेरे कहे या रचे पर समाज और शासक की क्या प्रतिक्रिया होगी? अपने समाज या राज्य की मान्यताओं के विरोध में कुछ कहना या करना बिरादरी से बाहर कर दिए जाने का खतरा मोल लेना था, पर लोकतंत्र ने मनुष्य को अभिव्यक्ति की ताकत दी। आज एक छोटे से छोटा व्यक्ति भी बड़े से बड़े आदमी के बारे में अपनी राय प्रकट कर सकता है। पर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अर्थ यह नहीं हो सकता कि आदमी चाहे जो अनर्गल बात कह दे। आज अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर मीडिया द्वारा जो अभद्र और अप सांस्कृतिक चीजें प्रस्तुत की जा रही है उसे स्वतंत्रता का सदुपयोग नहीं अपितु उसका दुरुपयोग ही कहा जायेगा। यह स्थिति तभी बनती है जब आदमी अपनी स्वतंत्रता के लिए सामुदायिक स्वतंत्रता का मूल्यांकन नहीं करता।

लोकतंत्र में वोट के रूप में न केवल अपने मत की अभिव्यक्ति का स्वतंत्र अधिकार मिलता है अपितु सत्ता की भागीदारी का भी अधिकार मिलता है। एक छोटे-से-छोटे आदमी को भी सत्ताशीर्ष पर पहुंचने की स्वतंत्रता प्राप्त है। पर इस स्वतंत्रता की भी एक सीमा है। कोई भी व्यक्ति यदि अपनी मतांधता से साम्प्रदायिक सौहार्द को चोट पहुंचाता है या जातीयता को प्रस्थापित करना चाहता है तो वह स्वतंत्रता का दुरुपयोग ही कहा जायेगा। अन्य लोगों की स्वतंत्रता का आदर करना अनेकान्त दृष्टि से ही संभव है।

17.3.1 पक्ष-प्रतिपक्ष

लोकतंत्र में भी पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों होते हैं। पक्ष के साथ-साथ प्रतिपक्ष का होना भी जरूरी है। वास्तव में पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों जुड़े हुए हैं। ये वस्तु के स्वभाव हैं। जहाँ पक्ष होगा वहाँ प्रतिपक्ष होगा ही। यदि लोकतंत्र में केवल एक पक्ष ही बन जाये तो वह एकांगिता हो जायेगी। एक पक्ष के लोग मिलकर कोई भी निर्णय कर लेंगे तो उसमें त्रुटि रह सकती है। प्रतिपक्ष होता है तो वह उस त्रुटि का निराकरण कर सकता है। लोकतंत्र में प्रतिपक्ष की तो आवश्यकता है, पर विपक्ष की नहीं। विपक्ष का तो मतलब ही होता है विरोध करना। विरोध करना सिद्धान्त नहीं बन सकता। प्रतिपक्ष विरोध नहीं है। वह तो संतुलन है। जहाँ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भी पक्ष में कोई गड़बड़ी दिखाई दे उसमें संतुलन बिठाना यही प्रतिपक्ष है। विरोध के लिए विरोध विपक्ष है। संतुलन के लिए विरोध यह प्रतिपक्ष है। इसलिए लोकतंत्र में प्रतिपक्ष की बहुत बड़ी भूमिका है। यही समन्वय है। पक्ष और प्रतिपक्ष में संतुलन अनेकान्त दृष्टि से ही संभव हो सकता है। दर्शनशास्त्र की दृष्टि से हर पदार्थ स प्रतिपक्ष होता है। जीव है तो अजीव भी है ही। इसी तरह जहाँ भेद होता है वहाँ अभेद भी होता है। बल्कि भेद और अभेद का सहअस्तित्व है। एक ही पदार्थ में जहाँ भेद है वहाँ अभेद भी है। दिखने में यह बात जरा अजीब लगती है भेद और अभेद दोनों साथ कैसे रह सकते हैं? पर सापेक्षवाद का यह ध्रुव सिद्धान्त है। इसकी एक लम्बी दार्शनिक चर्चा है। पर उसे हम एक व्यावहारिक उदाहरण से समझ सकते हैं। जैसे एक आदमी भारतीय है। भारत देश की अभेद दृष्टि से वह भारतीय है पर यदि हम प्रदेश की भेद दृष्टि से देखेंगे तो वही आदमी आसामी, तमिल या राजस्थानी हो सकता है। भारत एक अभेद दृष्टि है पर उस अभेद में प्रदेशों का भेद भी समाया हुआ है। भेद और अभेद का यह सहअस्तित्व हर कदम पर है। पूरी दुनिया की अभेद दृष्टि से देखें तो हम एक वैश्विक मानव हैं, पर राष्ट्र की भेद दृष्टि से देखें तो हम भारतीय, चीनी, जापानी आदि अनेक भेदों में बट सकते हैं।

17.3.2 समानता

लोकतंत्र में समानता एक महान् सिद्धान्त है। यदि समानता की दृष्टि न हो तो लोकतंत्र सफल हो ही नहीं सकता। क्योंकि जहाँ समानता है वहाँ असमानता होगी ही। भारतीयता एक समानता है वहाँ जाति, वर्ग, भाषा, सम्प्रदाय आदि की असमानता से भी इंकार नहीं किया जा सकता है। समानता एक सत्य है तो असमानता भी एक सत्य है। इन दोनों को मिटाया नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में अनेकान्त की सापेक्ष दृष्टि ही एक समाधान प्रदान करती है।

17.3.3 समन्वय

भारत एक विस्तृत देश है। इसका विस्तृत भू-भाग है। कहीं पर्वत है तो कहीं मैदान है। एक ही नदी न जाने कितने प्रदेशों में होकर बहती है। ऐसी स्थिति में अभेद की दृष्टि नहीं हो तो पग-पग पर विवाद खड़े हो सकते हैं। प्रशासनिक, भौगोलिक आदि अनेक दृष्टियों से देश में प्रदेशों की विभक्तियां बनी हैं। ये विभक्तियां न हों तो देश का काम नहीं चल सकता। व्यवहार की सुगमता के लिए देश में प्रदेश व्यवस्था को भी स्वीकार करना पड़ता है। प्रदेश को भी अनेक भागों में बांटना पड़ता है। जहाँ अभेद की अनेकान्त दृष्टि नहीं है वहाँ किसी भी प्रकार के खतरे खड़े हो सकते हैं। देश की अखण्डता को खतरा पैदा हो सकता है। सचमुच में यदि भेद तथा अभेद की दृष्टि स्पष्ट न हो तो आदमी शांति से सहअस्तित्वपूर्वक रह ही नहीं सकता। पंडित नेहरू ने इसी दृष्टि से पंचशील में सहअस्तित्व को स्थान दिया था। दुनिया के नक्शे से राष्ट्रों को मिटाया नहीं जा सकता। दुनिया में अनेक प्रकार के भेद हैं—1. मान्यता का भेद, 2. विचार का भेद, 3. रुचि का भेद, 4. स्वभाव संस्कारों का भेद, 5. संवेग का भेद। मान्यता के आधार पर सम्प्रदाय बनते हैं। विचार के आधार पर चिंतन बनता है। रुचि के आधार पर इंन्द्रिय संवेदना बनती है। स्वभाव के आधार पर आदतें बनती हैं। संवेग के आधार पर व्यवहार बनता है। यदि दृष्टि इसी भेद पर ही उलझी रही तो दुनिया में कभी शांति स्थापित हो ही नहीं सकती। लोकतंत्र का यही तकाजा है कि पूरी दुनिया में समानता की सापेक्ष दृष्टि का प्रचार किया जाय। ऐसे लोगों के मन में न तो नस्ल का भेद होता है न ऊंच-नीच का। अधिकांश भेद वास्तविक नहीं होते, वे मनुष्य के अपने द्वारा ही बनाये जाते हैं।

जो सापेक्षता को समझता है उसे ये भेद कभी बाधित नहीं कर सकते। ऐसे लोग ही **"वसुधैव कुटुम्बकम्"** या **"एक्का मणुस्स जाई"** की भावना में जी सकते हैं। दुनिया में सब कुछ एक दूसरे के साथ जुड़ा हुआ है। बाहर भिन्नता दीखती है पर भीतर से सब कुछ जुड़ा हुआ है। अनेकता के नीचे छिपी हुई अनेकता को हम नहीं जानते। इसी प्रकार एकता के नीचे छिपी हुई अनेकता को भी नहीं जानते। दृष्टि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

की यह एकांगिता ही सारे झगड़ों का मूल है। जो आदमी इस तथ्य को नहीं समझता वह लोकतंत्र को भी नहीं समझ सकता।

17.3.4 सहयोग

पूरे विश्व की अपनी एक तालबद्ध नियामकता है। यहाँ एक-एक अणु की अपनी गतिमयता है। पर वह गतिमयता एक स्थितिमयता से भी आबद्ध है। गति और स्थिति दोनों मिलकर विश्व की रचना करते हैं। यहाँ हर जीवन का अस्तित्व दूसरे जीवन के साथ जुड़ा हुआ है। हर जीवन की गति-स्थिति का दूसरे जीवन की गति-स्थिति से गहरा सम्बन्ध है। **"परस्परोपग्रहो जीवानाम्"** इसका सबल साक्ष्य है। वह लोकतंत्र कभी मजबूत नहीं हो सकता जहाँ की समाज-व्यवस्था सहयोगमयी न हो। साम्राज्यवादी मनोवृत्ति ने अर्थ-व्यवस्था, न्याय व्यवस्था को भी इस तरह कस कर रख दिया कि कुछ लोग युगों-युगों से सर्वहारा बने रहे। लोकतंत्र की व्यवस्था भी तभी सफल हो सकती है जबकि पूरे मानव समाज को लाभ मिले। लोकतंत्र में भी यदि निहित स्वार्थों ने अपना स्थान बना लिया तो हो सकता है एक वर्ग ऊपर उठ जाये, पर उसके साथ ही दूसरे वर्ग पिछड़ जायेंगे। वही लोकतंत्र श्रेष्ठ है जो सबका कल्याणकारी है। दुनिया में सबके स्वार्थ एक दूसरे से बंधे हुए हैं। उसी से एक संतुलन बनता है। जब भी वह संतुलन बिगड़ता है तो अव्यवस्था फैलती है।

एक माली और एक कुम्हार गांव से बाहर की ओर जा रहे थे। माली के पास कुछ सब्जियां थी और कुम्हार के पास कुछ मिट्टी के बर्तन। दोनों ही उन्हें बेचने शहर जा रहे थे। एक ऊंट पर एक ओर माली की सब्जी लदी हुई थी और दूसरी ओर कुम्हार के बर्तन। दोनों का एक संतुलन बना हुआ था। दोनों ने एक-दूसरे का सहयोग किया तो काम ठीक चल रहा था। माली ऊंट के आगे-आगे चल रहा था और कुम्हार पीछे-पीछे चल रहा था। मार्ग में ऊंट को सब्जी की सुगंध आ रही थी। उसने अपनी लम्बी गर्दन को मोड़ा और पीठ पर लदी हुई सब्जी में से थोड़ी-थोड़ी सब्जी खा रहा था। चूंकि कुम्हारा पीछे-पीछे व माली आगे-आगे चल रहा था अत: माली को यह पता नहीं चला कि ऊंट सब्जी खा रहा है। कुम्हार को पता चल रहा था कि ऊंट सब्जी खा रहा है। पर उसने ऊंट को टोका नहीं, वह सोचने लगा सब्जी तो माली की है। नुकसान होता है तो माली का होता है। मेरा इसमें कोई नुकसान नहीं होता, मैं क्यों ऊंट को टोकूं। कई बार यह क्रम चलता रहा। माली बेखबर था। पर धीरे-धीरे एक ऐसी सीमा आई जब सब्जी और बर्तनों का संतुलन बिगड़ गया। बर्तन भारी हो गये सब्जी हल्की हो गई। तत्काल पहले बर्तन गिरे और उसके ऊपर सब्जी गिर गई। एक धमाका हुआ। माली ने पीछे मुड़कर देखा तो स्तब्ध रह गया। उसने कुम्हार से पूछा—क्या हुआ? कुम्हार ने कहा—तुम्हारा कुछ नहीं हुआ, थोड़ी सी सब्जी ऊंट ने खाई है, पर मेरे तो सारे बर्तन ही फूट गए हैं। मैंने सहयोगिता का धर्म नहीं निभाया इसीलिए सारी गड़बड़ी हुई।

समाज व्यवस्था के लिए सहयोग जितना जरूरी है, असहयोग उतना ही जरूरी है। महात्मा गांधी ने अंग्रेजी सल्तनत का असहयोग किया। असहयोग का आन्दोलन चलाया। स्वतंत्रता के लिये यह आवश्यक था। जब सहयोग की आवश्यकता हुई तो उन्होंने अंग्रेजों का सहयोग भी किया। कुछ लोगों ने उनका विरोध भी किया। पर गांधीजी ने कहा—अभी असहयोग का समय नहीं है। जिस समय असहयोग का समय आया तो उन्होंने असहयोग भी किया। पर उन्होंने असहयोग भी विनयपूर्वक किया। इसी से यह संभव हो सका कि भारत को आजादी मिली। बुराई के साथ असहयोग भी जरूरी है। पर केवल असहयोग या सहयोग से काम नहीं चल सकता।बुराई के साथ असहयोग जितना जरूरी है अच्छाई के साथ सहयोग भी उतना ही जरूरी है।

17.3.5 सहानुभूति

लोकतंत्र में सहानुभूति की भी बहुत बड़ी आवश्यकता है। एक के सुख-दु:ख की अनुभूति जब सबको होती है तभी परिवार, समाज या राष्ट्र चल सकता है। यह ठीक है कि दर्द तो जिसको होता है उसी को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

होता है पर सहानुभूति होती है तो दर्द कम हो जाता है। और उसका सामूहिक प्रतिकार किया जाये तो वह खत्म भी हो सकता है।

17.3.6 सहिष्णुता

लोकतंत्र में सहिष्णुता का भी बहुत बड़ा स्थान है। यह सही है कि लोकतंत्र में 51 का बहुमत 49 के अल्पमत से शक्तिशाली बन जाता है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि बहुमत अल्पमत का निरादर करे। अल्पमत को भी अपनी सीमा को समझना जरूरी है पर बहुमत को भी अल्पमत के साथ सहिष्णुता रखना जरूरी है। यों सहिष्णुता सभी के लिये आवश्यक है पर उन लोगों के लिए ज्यादा जरूरी है जिनके पास शक्ति होती है। राष्ट्रकवि दिनकर ने ठीक ही कहा है—

क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो,
उसको क्या जो दंतहीन-विष रहित विनीत सरल हो।

यह सही है कि सांप को क्षमा रखनी चाहिए, पर दूसरों के लिए भी यह जरूरी है कि वे जान बूझकर सांप पर पैर नहीं रखे। समन्वय का यह दृष्टिकोण ही लोकतंत्र की सफलता का स्वर्णसूत्र है।

17.4 सारांश

इस प्रकार लोकतंत्र की सफलता के लिए अनेकान्त की अपनी बहुमुखी भूमिका है।

17.5 अभ्यास प्रश्नावली

1. निबन्धात्मक प्रश्न

क्या लोकतंत्र की समस्या का समाधान अनेकान्त से संभव है? इस पर एक सारगर्भित निबन्ध लिखें।

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. लोकतंत्र के स्वरूप का विवेचन करें।
2. लोकतंत्र के मौलिक सूत्र कितने हैं? संक्षेप में प्रकाश डालें।

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सत्य एक ..... अनुभूति है।
2. लोकतंत्र में भी ..... को समझना जरूरी है।
3. आज साम्राज्यवाद ..... की चीज बन गया है।
4. पक्ष और प्रतिपक्ष में संतुलन ..... से ही संभव हो सकता है।
5. लोकतंत्र में ..... एक महान् सिद्धान्त है।
6. व्यवहार की सुगमता के लिए देश में ..... को भी स्वीकार करना पड़ता है।
7. पूरे विश्व की अपनी एक तालबद्ध ..... है।
8. यहां एक-एक अणु की अपनी ..... है।
9. वही लोकतंत्र श्रेष्ठ है जो सबका ..... है।10. लोकतंत्र में ..... का भी बहुत बड़ा स्थान है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. सापेक्ष 2. सापेक्षता 3. इतिहास 4. अनेकान्त दृष्टि 5. समानता
6. प्रदेश व्यवस्था 7. नियामकता 8. गतिमयता 9. कल्याणकारी 10. सहिष्णुता।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–18 : स्वस्थ–समाज–संरचना एवं अणुव्रत

संरचना

18.0 प्रस्तावना
18.1 उद्देश्य
18.2 प्रथम सूत्र मैत्री
18.3 द्वितीय सूत्र मैत्री
18.4 तृतीय सूत्र परस्परता
18.5 चुनाव शुद्धि
18.6 आत्मानुशासन शुद्धि
18.7 कुरुढ़ियों पर प्रहार
18.8 नर से नारायण की यात्रा
18.9 प्रदूषण से मुक्ति
18.10 सुविधावाद से मुक्ति
18.11 उपसंहासर
18.12 अभ्यास प्रश्नावली

18.0 प्रस्तावना

शान्ति मनुष्य की सबसे बड़ी अभीप्सा है। बाकी सारी बातें शांति के लिये ही शुरू होती है। शांति की खोज ही परिवार व समाज का हेतु है तथा शांति की खोज ही अध्यात्म है। महावीर ने कहा था—

जे य बुद्धा अइक्कंता, जेय बुद्धा अणागया
संति तेसिं पइट्ठाणं भूयाणं जगई जहा।

संसार में जितने भी बुद्ध पुरुष हुए हैं या होंगे, शांति ही उनका प्रतिष्ठान है। वैसे ही जैसे प्राणियों का प्रतिष्ठान पृथ्वी है।

18.1 उद्देश्य

यहाँ हमारा उद्देश्य अणुव्रत के प्रमुख सूत्रों द्वारा स्वस्थ समाज की संरचना किसे संभव है का प्रतिपादन करना है।

18.2 स्वस्थ समाज का प्रथम सूत्र मैत्री

सचमुच जीवन शांति की ही परिक्रमा है। कुछ लोग पदार्थ में शांति को खोजते हैं। पर पदार्थ में सुख तो मिल सकता है शांति नहीं। शांति तो मनुष्य के अपने आप में ही निहित है। उसका पहला सूत्र है मैत्री। मैत्री का अर्थ दूसरों से दोस्ती नहीं है। जब भी मैत्री कोई दोस्त बनाती है तो वह बाहरी बन जाती है पर यह भी सही है जब मैत्री आत्मगत होती है तो बाहर मित्रों की संख्या अपने आप बढ़ जाती है अणुव्रत समाज संरचना का पहला सूत्र है मैत्री।

शांति की खोज ने ही मनुष्य को परिवार में रहना सिखाया। दुनिया में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसके पास समाज की समझ है। जानवरों में सह जीविता तो है पर वे अपना समाज नहीं बना सकते। उनके पास केवल सहजीविता की समझ है। मनुष्य ने केवल साथ रहना ही नहीं सीखा अपितु सह अस्तित्व के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया। मैत्री के अभाव में सह अस्तित्व नहीं पनप सकता। वह तो तभी पनप सकता है जब मनुष्य दूसरे के अस्तित्व को भी स्वीकार करे। जहाँ सह अस्तित्व होगा वहाँ कोई भी व्यक्ति बेवजह किसी को किसी प्रकार की तकलीफ नहीं देगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उसका रहन सहन ही इस प्रकार का होगा कि वह निरपराध प्राणी का संकल्पपूर्वक वध कर ही नहीं सकेगा। जो आदमी अपने आप से मैत्री करेगा वह आत्महत्या नहीं कर सकेगा। वह भ्रूण हत्या भी नहीं कर सकेगा। वह किसी पर आक्रमण नहीं कर सकेगा। वह आक्रामक नीति का समर्थन भी नहीं कर सकेगा। विश्व शांति और नि:शस्त्रीकरण उसका सहज अभियान बन जाएगा। आज पूरी दुनिया में शस्त्रों का जो उत्पादन हो रहा है और वह अहिंसा और मैत्री को सबसे बड़ी चुनौती है। शस्त्र का फलितार्थ ही है युद्ध। मनुष्य के मन में जब युद्ध की भावना पैदा होती है तभी शस्त्रों का जन्म होता है। कोई भी देश शस्त्रों को प्रदर्शनी करने के लिये नहीं बनाता। कई बार आत्मरक्षा के लिये शस्त्रों के निर्माण का तर्क दिया जाता है। बल्कि अमेरिका जैसे देशों में तो बच्चों के हाथों में भी बन्दूकें आ गई हैं। स्कूल जाने वाले बारह बच्चों में से एक बच्चे के पास बन्दूक होती है। अभी अमेरिका में छपी एक किताब में कहा गया है—"अधिक बन्दूकें और कम अपराध।" पर अमेरिकन लोग असमंजस में हैं कि बन्दूक रखना उनके लिए सुरक्षा की गारंटी है या नहीं? वास्तव में शस्त्र से हिंसा में कमी नहीं आ सकती। हिंसा हिंसा से नहीं मर सकती। वह तो अहिंसा से ही मरती है। जैसा कि कहा गया है—

क्षमा शस्त्रं करे यस्य खडगं तस्य करोति किं?

अर्थात् जिसका मन मैत्री से भर जाता है उसके शस्त्रों के खजाने खाली हो जाते हैं। उसकी न केवल हाथ की लाठी ही छूट जाती है अपितु नाखून भी भोथरें पड़ जाते हैं। मैत्री का शस्त्र बहुत धारदार है। जो मनुष्य या देश मैत्री भाव को नहीं समझते वे न केवल दूसरों के लिये खतरनाक बनते हैं बल्कि अपने लिये भी खतरनाक बन जाते हैं। क्योंकि शस्त्र में हमेशा प्रतिस्पर्धा रहती है। वह हमेशा अधिक-से-अधिक वेधकता की खोज करता रहता है। कोई भी व्यक्ति समाज या राष्ट्र अमित्र बन कर दूसरों को मित्र नहीं बना सकता। यद्यपि दुनिया का इतिहास युद्ध परम्परा से भरा पड़ा है पर युद्ध कभी भी शांति को स्थापित नहीं कर सकता। शांति तो मैत्री से ही आहूत हो सकती है। मैत्री के अभाव में ही आतंकवाद बढ़ता है।

यद्यपि आज शांति के नाम पर शस्त्रों का बहुत विकास हुआ है। पर यह भी समझ में आने लगा है कि शांति को शस्त्रों से नहीं खरीदा जा सकता। भले ही कुछ लोग शस्त्रों के व्यापार से अपार धन संग्रह कर सकते हैं। पर वे मानवता के मित्र नहीं बन सकते।

विश्व इस बात से परिचित हो चुका है कि परमाणु बम कितना भयानक है। कोबाल्ट स्ट्रॉशियम, थोरियम और कार्बन से फेलने वाले प्रदूषण को वह भोग चुका है। उसे डर लग रहा है कि जब कोई परमाणु बम फट जाये और आज जो लोग निश्चिंत हैं, वे कल का सूर्योदय देखने के लिए भी जीवित बचें या नहीं? परमाणु विखण्डन का धुआं भी विश्व की जन्मपत्री को धुएं से भर देगा। बल्कि परमाणु अस्त्रों का जहरीला कचरा भी 20 लाख टन की सीमा को पार कर चुका है। कहीं न कहीं तो उसका निष्पादन करना ही होगा। समुद्र में फैंक दिया गया तो मछलियों के माध्यम से पुन: मनुष्य के भोजन में पहुंच जायेगा। बरसात में घुलेगा तो पानी के माध्यम से मनुष्य के पेट में पहुंच जायेगा। असल में शस्त्र में से शांति नहीं निकल सकती।

शांति की पहली शर्त मैत्री है। हिंसात्मक एवं तोड़फोड़मूलक प्रवृत्तियों से भी शांति को नहीं प्राप्त किया जा सकता। जहाँ हिंसा ही शांति की समझ बन जाती है वहाँ जंगल का राज्य ही आकार ले सकता है। समझदार लोग हर समस्या को परस्पर विमर्श विचार से सुलझाने का प्रयास करते हैं। हिंसा से प्राप्त होने वाला समाधान थोड़े दिनों में ही समस्या बन जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

18.3 द्वितीय सूत्र संयम

अणुव्रत समाज की संरचना मनुष्य की आत्मा में बसी हुई इस आध्यात्मिकता को जगाने का प्रयत्न है। अध्यात्म की दृष्टि से प्राणी की हिंसा ही नहीं अपितु पदार्थ के प्रति दुरुपयोग का भाव भी हिंसा है। आज जो उपभोक्तावाद समस्या बन रहा है उसका मूल कारण असंयम ही है। व्रत या संयम की समाज व्यवस्था में उच्छृंखल उपभोक्तावाद को स्थान नहीं मिल सकता। यद्यपि जीवन के लिये आवश्यक सूक्ष्म हिंसा से बचना मनुष्य के लिए संभव नहीं है। पर उसके लिये मानवीय एकता में तो विश्वास करना जरूरी है ही। जाति रंग के आधार पर किसी को ऊंच-नीच, अस्पृश्य मानना मानवीयता के महल में एक बहुत बड़ी दरार है। कभी यह दीवार क्षुद्र और अशत्रु के रूप में प्रकट होती है तो कभी काले और गोरे के रूप में। पर इसमें कोई संदेह नहीं है कि मानवता का महल उससे क्षतिग्रस्त होता ही है।

अध्यात्म और मैत्री का ही दूसरा नाम है धर्म। पर आज धर्म का स्थान सम्प्रदायों ने ले लिया है। सम्प्रदाय पूरी दुनिया को अशांति के गड्ढे की ओर धकेल रहे हैं। धर्म के नाम पर आज तक जो रक्तपात हुआ है और हो रहा है उससे कौन अपरिचित है? बहुत बार साम्प्रदायिकता को दूसरों से बचने का रक्षा कवच बनाया जाता है। पर देखा यह गया है कि इससे स्वयं का भी बचाव नहीं हो सकता। जब तक दूसरा सम्प्रदाय लड़ने के लिये उपलब्ध नहीं होता तो साम्प्रदायिकता अपने ही उपसम्प्रदायों के साथ लड़ना शुरू कर देती है।

18.4 तृतीय सूत्र परस्परता

साम्प्रदायिकता धर्म नहीं अहंकार है। बहुत बार साम्प्रदायिकता का यह मुकुट राज सिंहासन पर बैठकर राष्ट्र में भी भेद की दीवार खड़ी किये बिना नहीं रह सकता। साम्प्रदायिकता एक मीठा जहर है इसके नाम पर भोले भाले लोगों को बहुत भड़काया जा सकता है। पर हर सम्प्रदाय में पैदा होने वाले महापुरुष हमेशा दूसरे सम्प्रदायों के प्रति मैत्री का हाथ आगे बढ़ाते हुए दिखाई देते हैं। अणुव्रत समाज व्यवस्था का एक सूत्र है परस्परता। परस्परता वैसे एक आध्यात्मिक मूल्य भी बन सकती है पर सामाजिक जीवन के लिये तो अनिवार्य है। व्यवसाय और व्यवहार की प्रामाणिकता इसका मुख्य आधार है। जो व्यक्ति व्यवसाय और व्यवहार में प्रामाणिक रहेगा वह अपने लाभ के लिये दूसरों को हानि नहीं पहुंचा सकता। वह छलनापूर्ण व्यवहार नहीं कर सकता। व्यवसाय और व्यवहार के बिना जीवन चल नहीं सकता। पर जहाँ इनके बीच में स्वार्थ आ जाता है तो आदमी अप्रामाणिक बन जाता है। अप्रामाणिक व्यक्ति की आकांक्षाएं आगे-से-आगे फैलती जाती हैं। ऐसे व्यक्ति न केवल समाज व्यवस्था के लिये ही खतरा बनते हैं अपितु उनका व्यक्तित्व भी अंदर से टूट जाता है। हो सकता है कभी-कभी व्यक्ति को नहीं चाहते हुए भी अप्रमाणिकता बरतनी पड़े। पर वह अप्रामाणिकता समाज व्यवस्था को जोड़ने वाली नहीं बन सकती। अवसरवादी बनकर एक व्यक्ति कितना ही धन कमा सकता है पर वह समाज को सुखी नहीं बना सकता। दान देकर भी कोई व्यक्ति समाज को सुखी नहीं बना सकता। सत्य तो यह है कि जो व्यक्ति प्रामाणिक बनता है वह स्वयं अपने संग्रह की सीमा कर लेता है तथा दूसरों के जीने के लिये स्थान छोड़ देता है। इसीलिये अणुव्रत समाज संरचना में परिग्रह की सीमा एक आवश्यक व्रत है। इससे व्यक्ति स्वयं तो संतोष का अनुभव करता ही है पर दूसरों के लिये भी शांति का आश्वासन देता है।

स्वार्थी व्यक्ति बहुत लम्बे समय तक सुखी नहीं रह सकता। उसके मित्रों की संख्या निरन्तर घटती जाती है और एक दिन ऐसा आता है जब उसे अनुभव होता है कि वह शत्रुओं से घिर गया है। वह ऐसे चक्रव्यूह में फंस जाता है जिससे निकलना नामुमकिन हो जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

18.5 चुनाव शुद्धि

स्वार्थ को आंच देने वाली और भी कई बाते हैं। चुनाव भी एक ऐसा ही प्रसंग है। आज पूरी दुनिया में लोकतंत्र प्रतिष्ठित हो गया है। पर जब तक वह मनुष्य के मन में प्रतिष्ठित नहीं होगा स्वस्थ लोकतंत्र का निर्माण नहीं हो सकता। आज लोकतंत्र में जहाँ-जहाँ भी खामियां दिखाई देती हैं वहाँ-वहाँ चुनाव की अनियमितताएं अवश्य ही हो रही हैं। दुनिया में राज्य व्यवस्था से इन्कार नहीं हुआ जा सकता पर जो राज्य व्यवस्था स्वार्थ के धागों से बंधी रहती है वह स्वतंत्रता प्रदान नहीं कर सकती। आज यदि पूरी दुनिया ने साम्राज्यवाद को नकार दिया है तो इसका कारण यही रहा है कि उस व्यवस्था में स्वार्थ का घेरा बहुत संकरा हो जाता है। राजा भी यदि प्रजा की सुविधा का ध्यान रखे तो राज्य तंत्र अखरने वाला नहीं बनता। लोकतंत्र में भी यदि स्वार्थ प्रबल बन जाता है तो वह लोक मंगल का वाहक नहीं बन सकता। राज्य शासन को सुव्यवस्था से जोड़ने के लिए चुनाव की शुद्धि पहली शर्त है।

18.6 आत्मानुशासन

शासन एक व्यवस्था तो बनाता है, पर उसका मूलाधार दंड ही रहता है। यह सही है कि दंड-व्यवस्था की भी अपनी उपयोगिता है। पर शासन के अनुशासन से पहले व्यक्ति में समाज और परिवार का अनुशासन भी आवश्यक है। आवश्यक तो यह है कि व्यक्ति का अपना आत्मानुशासन जागे, पर जहां भी व्यक्ति में आत्म-दुर्बलता जागती है वहां परिवार और समाज की व्यवस्था सामने आती है। आदमी ने बहुत अनुभवों के बाद समाज में रहना सीखा है। अनेक लोगों के बलिदान की बलिवेदी पर ही परिवार और समाज की व्यवस्था खड़ी होती है। वह यद्यपि कोई दंड-व्यवस्था नहीं है पर परस्पर की समझ के कारण ही समाज की एक व्यवस्था खड़ी होती है। इसे ही हम सभ्यता कह सकते हैं। संस्कृति व्यक्ति के अपने आत्मानुशासन से फलित होती है। सभ्यता समाज के अनुशासन से फलित होती है। जिस समाज में अपना आन्तरिक अनुशासन नहीं होता वह समाज कभी सभ्य नहीं बन सकता। जीवन तो यों जंगली आदमी भी जीते हैं, पर सभ्यता मानवता की अपनी पहचान है। सभ्य समाज के अपने व्यवहार और व्यवसाय के ही सभ्य तरीके नहीं होते अपितु उसमें कुछ रीति-रिवाज भी शामिल होते हैं। यह सही है कि रीति-रिवाज कोई पाशविक सिद्धान्त नहीं बन सकते। एक समय जो रीति-रिवाज आवश्यक माना जाता है, बदले हुए परिवेश में वह अनावश्यक और अर्थहीन ही नहीं अपितु घातक भी बन जाता है। इसलिए समाज-व्यवस्था एक बहता हुआ सोता है। वह कभी ठहर नहीं सकता। पर फिर भी इस स्रोत के दो तट अवश्य होते हैं। जब वे तट टूट जाते हैं तो बाढ़ का आतंक फैल जाता है। समाज व्यवस्था के बदलने के बावजूद भी परस्परता के कुछ तट ऐसे होते हैं जिनका रहना आवश्यक है। स्वार्थ उन तटों पर आगाह करता है। उसी से समाज में विघटन पैदा होता है।

18.7 कुरूढ़ियों पर प्रहार

समाज ने अपने अस्तित्व के लिए विवाह संस्था को जन्म दिया। एक समय ऐसा था जब विवाह नाम की कोई व्यवस्था नहीं थी। पर धीरे-धीरे आदमी ने यह समझ लिया कि स्त्री और पुरुष को एक सीमा में नहीं बांधा गया तो जीवन नरक बन जायेगा। आदमी-आदमी अपने ही झगड़े में खत्म हो जायेगा। यह सही है कि विवाह संस्था में भी समय-समय पर अनेक परिवर्तन होते रहे हैं। जाति, रंग, सम्प्रदाय, भूगोल भी आपसी सम्बन्धों को जोड़ने के हेतु बनते रहे हैं। दहेज भी उसी सम्बन्ध-सेतु का एक पत्थर रहा है। पर जब दहेज का ठहराव एक शर्त बन जाता है तो उससे अनेक विकृतियां जन्म लेती हैं। यद्यपि दहेज को लेकर समाज में समय-समय पर कुछ कुरीतियां भी खड़ी होती रही हैं इसीलिये कुछ लोग तो विवाह संस्था को ध्वस्त कर देने का ही प्रयत्न कर रहे हैं। दहेज एक कुरीति है पर उसके नाम पर यदि यौन स्वच्छन्दता बढ़ी तो समाज को रुग्ण होने से नहीं बचाया जा सकता। यौन स्वच्छन्दता की कठिनाइयां भी विवाह संस्था की आवश्यकता को रेखांकित कर रही है। निश्चय ही अणुव्रत की समाज संरचना में दहेज को कोई स्थान नहीं मिल सकता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पर जीवन में सम्बन्धों की पवित्रता का सूत्र अगर बीच में नहीं रहा तो न केवल आदमी का स्वास्थ्य ही चौपट हो जाएगा अपितु समाज का पूरा ढांचा ही चरमरा जाएगा। इसी तरह बाल-विवाह, वृद्ध विवाह आदि कुरूढियाँ भी स्वस्थ समाज रचना में टिक नहीं सकती। अणुव्रत का अर्थ उच्छृंखल काम को रोकने का है। इसी तरह बहुत सी कुरूढ़ियां ऐसी हैं जो कभी जरूरी रही होंगी पर आज यदि उनकी कोई उपयोगिता नहीं है तो उनके शव को ढ़ोना कोई जरूरी नहीं है।

18.8 नर से नारायण की यात्रा

मनुष्य तन एक अनमोल रत्न है। मनुष्य के शरीर में जो नाड़ी तंत्र, ग्रंथितंत्र है वह बहुत कीमती है। इसीलिये मनुष्य एक विकसित प्राणी के रूप में गिना जाता है। प्रारम्भ से ही मनुष्य शरीर के गुणगान गाए जाते रहे हैं। धीरे-धीरे मनुष्य ने बहुत विकास भी किया। पर अभी मनुष्य के विकास की अनंत संभावनाएं सामने झलक रही हैं।

यह बहुत आवश्यक है कि मनुष्य अपने शरीर की सम्पदा को पहचाने। नर ही अपनी साधना से नारायण बन सकता है। नारायण की यह यात्रा आत्मा की यात्रा है। बहुत सारे लोग इस आंतरिक सम्पदा को पहचान नहीं पाते हैं वे केवल शरीर स्वार्थ से ही परिचित हैं। इसलिये खान-पान की अनियमितता अथवा सामान्य सीमा के अतिक्रमण से कुछ क्षणिक सुखों को व्यक्ति भोग तो लेता है पर उसके परिणाम अत्यन्त भयावह होते हैं। नशा उस दुर्व्यसन यात्रा का पहला कदम है। इसी से अनेक अपराध अस्तित्व में आते हैं। आज नशा इतना भयंकर हो गया है इसे कौन नहीं जानता? हम केवल तम्बाखू को ही लें भारत में हर साल करीब छः लाख लोग इसकी वजह से उत्पन्न कैंसर की चपेट में आ जाते हैं। अनुमान है कि सन् 2000 तक देश में कैंसर के रोगियों की संख्या 15 लाख हो जाएगी। इस संख्या का एक तिहाई भाग गुटका और तम्बाखू का सेवन करने वाले लोगों का होता है। अकेले टाटा मेमोरियल में हर वर्ष लगभग 27 हजार रोगी ईलाज के लिये आते हैं जिनमें सत्रह हजार कैंसर से पीड़ित होते हैं। इनमें पैंतीस प्रतिशत रोगी वे होते हैं जो तम्बाखू का सेवन करते हैं। विश्व में प्रतिवर्ष तीस लाख कैंसर से अथवा तम्बाखू से उत्पन्न अन्यान्य रोगों से मर जाते हैं। बीस लाख लोग इनमें विकसित देशों के होते हैं। इसके बावजूद गुटका तम्बाखू खाने वालों की संख्या बढ़ रही है। यह वृद्धि दर इसी प्रकार बनी रही तो 2025 तक हर साल एक करोड़ लोग कैंसर से ग्रस्त होंगे। समस्या का खतरनाक पहलू है कि यह क्रम बढ़ता जाने वाला है। भारत में हर साल करीब छः लाख तीस हजार मौतें तम्बाखू के सेवन के कारण होती हैं। एक अनुमान के अनुसार पन्द्रह से सैंतालीस वर्ष की आयु समूह के करीब चालीस करोड़ भारतीय किसी न किसी तरह तम्बाखू के आदि हैं। इस भयावह आंकडे का सबसे बड़ा कारण है कि तम्बाखू के उपयोग को सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है। तम्बाखू के इस उपयोग के अनेक कारण है पर इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह एक बहुत ही दर्दनाक नशा है। यह तो हम नशे के पहले कदम की बात कर रहे हैं पर आज यह यात्रा जिस मुकाम पर पहुँच गई है उसमें अनेक पड़ाव हैरोइन, स्मैक, अफीम, चरस, गांजा अथवा शराब के बन गए हैं।

18.9 प्रदूषण से मुक्ति

आज की दुनिया का सबसे बड़ा अहं प्रश्न है—प्रदूषण। हमने जिस तरह की समस्याएं पैदा कर दी हैं उससे पूरी धरती के अस्तित्व को ही खतरा पैदा हो गया है। प्राचीन लोग इस बात को बखूबी जानते थे। इसीलिए महावीर जैसे लोगों ने प्रकृति के साथ छेड़छाड़ नहीं करने की कीमती नसीहत दी थी। वे स्वयं तो इतना संयमित जीवन जीते थे कि पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा, वनस्पति आदि के सूक्ष्म जीवों को भी कष्ट नहीं देते थे, हिंसा की तो बात ही बहुत दूर थी। अहिंसा का यह विचार ही प्रदूषण मुक्ति का विचार है। यह संभव नहीं है कि महावीर जितना संयम हर आदमी अपना सके, पर यदि आदमी अतिभोग पर भी नियंत्रण स्थापित करले तो धरती की उम्र को छीजने से काफी बचाया जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आज तो भोगवाद का भूत लोगों के सिर पर इस तरह चढ़ा हुआ है कि वे किसी दूसरे की बात सोचना ही नहीं चाहते। सचमुच सुविधावाद और उससे भी बढ़ कर फैशनवाद ने दुनिया को विनाश के एक ऐसे कगार पर पहुंचा दिया है जिसका अंतिम परिणाम सामूहिक आत्महत्या ही है। यह सही है कि आदमी को जीने के लिए सांस लेना पड़ता है, भोजन भी करना पड़ता है, उसकी अन्य कुछ आवश्यकताओं से भी प्रदूषण बढ़ता है। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि एक दिन दुनिया में प्रलय होने वाला है, पर आदमी अपने कारनामों से उसे इतना जल्दी नियंत्रित कर रहा है कि समय पर संयम नहीं किया गया तो न केवल गरीब और असहाय लोग ही काल के गाल में समा जायेंगे अपितु सुविधाजीवी लोग भी उससे अपने आपको बचा नहीं पायेंगे।

18.10 सुविधावाद से मुक्ति

सुविधावाद का कहीं कोई पार नहीं है। खाने-पीने से लेकर पहनने-ओढ़ने, मकान-फर्नीचर बनाने, यान-वाहनों का प्रयोग करने के लिए विभिन्न उद्योगों की स्थापना कर आदमी अपने अंत के सारे साधन जुटाने में व्यस्त हैं। बल्कि आज तो पेकिंग सिस्टम ही ऐसी भयंकर बीमारी के रूप में खड़ा हो रहा है कि उसका कोई भी अर्थ नहीं है। सभ्यता के नाम पर हर दिन भयंकर कूड़े का ढ़ेर लग रहा है। उद्योगों से प्रवाहित होने वाले कचरे से नदियां और समुद्र भी दूषित हो रहे हैं।

कुछ लोगों का तर्क है कि हमारे पास बौद्धिक क्षमता है, हम उसका उपयोग क्यों न करें? ऐसे लोग ही अपने लिए सुविधाओं का एक अभेद्य कवच खड़ा कर लेते हैं। पर उन्हें यह सोचना होगा कि क्षमताओं का दुरुपयोग एक भयंकर पाप है। यद्यपि लोगों ने न्याय और अन्याय की अपनी कुछ परिभाषाएं गढ़ रखी हैं। पर वे नितान्त पूंजीवादी मनोवृत्ति की परिचायक हैं। प्राकृतिक साधनों का उच्छृंखल उपयोग करने वाले लोग भले ही न्याय की कितनी ही दुहाइयां दें। पर प्रकृति का भी अपना एक न्याय है, उसे यदि नहीं पहचाना गया तो एक दिन सर्वनाश सबको ध्वस्त कर डालेगा।

पूंजीवाद का मूल ही सुविधावादी मनोवृत्ति का मूल है। कुछ लोग अपनी सुविधाएं जुटाने या शेष लोगों से अपने आपको ऊपर दिखाने के लिए ही प्रकृति का अकल्प्य दोहन कर रहे हैं। अज्ञान भी इसका एक बड़ा कारण हो सका है। उन्हें यह ज्ञान ही नहीं होता कि उनका अहं या शौक कितने भयंकर विनाश का कारण हैं। बल्कि वह उनके अपने लिए भी कितने विनाश का कारण है। भोगों का आरम्भ मधुर लगता है, पर धीरे-धीरे वह मधुरता ही जहर बन जाती है। भोगों में, सुविधाओं में आकंठ डूबे रहने वाले लोगों का करुणापूरित अवसान भी आज अज्ञानी बात नहीं रह गई है। आज जिन लोगों को असाध्य अचिकित्स्य माना जा रहा है वे प्राय: अतिभोग की ही देन हैं। इसीलिए अणुव्रत के अन्तर्गत पर्यावरण की समस्या के प्रति भी जागृत रहने की बात कही गई है। उद्योग-धंधों तथा सुख-सुविधाओं के लिए आज पानी बिजली तथा वनस्पति का जो दोहन हो रहा है वह एक चिन्तनीय बात है। अणुव्रत समाज संरचना के प्रति सचेत व्यक्ति को इन्हीं आधारों पर चिन्तन करना जरूरी है। पर्यावरण संस्था विश्व संसाधन (W.R.I.) के अनुसार विकास के नाम पर होने वाले मानवीय हस्तक्षेपों ने दुनिया से दुनिया को भारी क्षति पहुंच रही है। उन हस्तक्षेपों की एक लम्बी सूची है। हम केवल समुद्र स्थित प्रवाल चट्टानों की बात करें तो विनाश की एक बड़ी समस्या प्रतीत होती है। समुद्र तटों पर होने वाले विकास कार्यों, अंधाधुंध मत्स्य आखेट तथा भूमि पर और सागर में चलने वाली गतिविधियां इन प्रवाल भित्तियों के विनाश के प्रमुख कारण हैं। ज्ञातव्य है कि धरती के कुल सागर-पर्यावरण में इन चट्टानों का हिस्सा एक चौथाई है। फिर भी इनमें निहित विपुल पारिस्थितिक सम्पदा तथा लाखों लोगों की आर्थिक तथा पर्यावरणिक सेवा प्रदान करने की क्षमता के कारण वे धरती की सबसे ज्यादा मूल्यवान् पारिस्थितिक प्रणालियों में गिनी जाती हैं। एक अनुमान के अनुसार वे प्रतिवर्ष 40 करोड़ डॉलर मूल्य के मानव बस्तियों वाले तटों की लहरों और समुद्री तूफानों से रक्षा करती हैं। इनके विनाश का अर्थ है धरती

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

का विनाश। आवश्यकता है इस प्रकार के अगणित आक्रमणों से धरती को बचाया जाये। यही अणुव्रत का मैत्री सिद्धान्त है।

18.11 सारांश

अत: यह स्पष्ट होता है कि अणुव्रत अर्थात् छोटे-छोटे व्रतों का पालन करने से स्वस्थ समाज की स्वत: संचरना संभव है।

18.12 प्रश्नावली

निबंधात्मक प्रश्न

1. अणुव्रत स्वस्थ समाज संरचना का आधार है, विश्लेषण करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. धर्म और साम्प्रदायिकता के अन्तर को स्पष्ट करें।
2. समाज व्यवस्था और संस्कृति की भेदरेखा को स्पष्ट करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सचमुच ..... शांति की ही परिक्रमा है।
2. शांति की .....ने ही मनुष्य को परिवार में रहना सिखाया।
3. शास्त्र का .....ही है युद्ध।
4. साम्प्रदायिकता धर्म नहीं ..... है।
5. मनुष्य तन एक ..... रत्न है।
6. आज की ..... का सबसे बड़ा अहं प्रश्न है—प्रदूषण।
7. अध्यात्म और मैत्री का ही दूसरा नाम है ..... ।
8. अनुमानत: सन् 2000 तक देश में कैंसर रोगियों की संख्या कितनी हो जाएगी।
9. अपनी साधना से नारायण कौन बन सकता है?
10. भारत में तम्बाकू सेवन से प्रतिवर्ष कितने मौतें होती हैं?

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. जीवन 2. खोज 3. फलितार्थ 4. अहंकार 5. अनमोल
6. दुनिया 7. धर्म 8. 15 लाख 9. नर
10. करीब छ: लाख तीस हजार।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. ग्रीक दर्शन—छोटेलाल त्रिपाठी, प्रका. प्राच्य विद्या संस्थान, प्रयाग
2. पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, भाग-1, प्रो. दयाकृष्ण, प्रका. राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
3. पाश्चात्य दर्शन—डॉ. बी.एन. सिंह, प्रका. स्टूडेण्ट फ्रेण्ड्स एण्ड कम्पनी, लंका, वाराणसी
4. जैनदर्शन, मनन और मीमांसा—आचार्य महाप्रज्ञ, आदर्श साहित्य संघ, चुरू
5. जैनधर्म और दर्शन—मुनि प्रमाणसागर जी महाराज, प्रका. शिक्षा भारती कश्मीरी गेट, दिल्ली
6. द्रव्यानुयोग तर्कणा—आचार्य भोजसागर, प्रका. श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास
7. Outlines of Philosophy, Will Durant
8. Outlines of the History of Greek Philosophy, Zeller.
9. Studies in Jainism, Edited & Published by Ramkrishna Mission, Calcutta.
10. A Critical History of Greek Philosophy, W.T. Stace.
11. पाश्चात्य आधुनिक दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या—याकूब मसीह, प्रका. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
12. पाश्चात्य दर्शन का ऐतिहासिक विवेचन—डॉ. रामनाथ शर्मा, प्रका. केदारनाथ, रामनाथ, मेरठ
13. पाश्चात्य दर्शन—प्रो. संगमलाल पाण्डेय
14. मेडीटेशन्स, डिसकार्स ऑन मेथड्स—रेने डेकार्ट
15. आर्हती दृष्टि—समणी मंगल प्रज्ञा, प्रका. आदर्श साहित्य संघ, चुरू
16. वृहद्द्रव्यसंग्रह—नेमिचन्द सिद्धान्ति, प्रका. श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् रामचन्द्र आश्रम, अगास
17 History of Modern Philosophy—Folcken Berg
18. Studies in jainism, Edited and Published by Ramkrishna Mission Institute of Culture, Calcutta
19. A History of Modern Philosophy—F. Mayer.
20. पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, भाग-2—प्रो. दयाकृष्ण, प्रका. राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
21. पाश्चात्य आधुनिक दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या—याकूब मसीह, प्रका. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
22. द्रव्यसंग्रह—नेमिचन्द
23. समयसार—आचार्य कुन्दकुन्द
24. जैन धर्म और दर्शन—मुनिश्री प्रमाणसागर
25. Monodology—Leibnitz
26. A Students History of Philosophy—A.K. Rojars
27. नीतिशास्त्र की समकालीन प्रवृत्तियां—डॉ. सुरेन्द्र वर्मा, प्रकाशक—मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल
28. नीतिशास्त्र—जे.एन. सिन्हा, प्रकाशक—जय प्रकाशनाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ
29. नीतिशास्त्रीय सिद्धान्त के पांच प्रकार—सी. डी. ब्रौड, प्रकाशक—बिहार ग्रन्थ अकादमी, पटना
30. आचार मीमांसा—आचार्य देवेन्द्र मुनि, श्रीतारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर
31. आचारांग भाष्य—आचार्य महाप्रज्ञ
32.. Critique of Practical Reason —Kant
33. Outlines of Philosophy—Will Durant
34. An Introduction to Ethics—William Lilli
35. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग—डॉ. व्रजगोपाल तिवारी,प्रका. शिक्षा साहित्य प्रकाशन, आगरा-3
36. तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा—केदारनाथ तिवारी, प्रका. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

37. तत्त्वमीमांसा—अनुवादक सुधीन्द्र वर्मा, प्रका. हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ (उत्तर प्रदेश)
38. जैनदर्शन और विज्ञान—प्रो. मुनि महेन्द्र कुमार, प्रका. जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं
39. पाश्चात्य दर्शन का समस्यापरक विवेचन—डॉ. रामनाथ शर्मा, प्रका. केदारनाथ राजनाथ, दिल्ली
40. पाश्चात्य दर्शन—डॉ. बी. एन. सिंह, प्रका. स्टूडेण्ट फ्रेण्ड्स एण्ड कम्पनी, लंका, वाराणसी
41. जैनधर्म और दर्शन—मुनि प्रमाण सागर, प्रका. शिक्षा भारती, कश्मीरी गेट, दिल्ली
42. वृहद् द्रव्य संग्रह—श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती,प्रका. श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास
43. आधुनिक दर्शन की भूमिका—प्रो. संगमलाल पाण्डेय, प्रका. दर्शन पीठ, इलाहाबाद
44. जैनदर्शन में आत्म विचार—डॉ. लालचन्द जैन, प्रका. पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
45. बृहद् द्रव्य संग्रह—नेमिचंद्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, प्रका. श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास
46. David Hume, Pabitra Kumar Roy] Pub. Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta
47. वृहद द्रव्य संग्रह–नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, प्रका. परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास
48. Problems of Philosophy- G.W. Cunningham.
49. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-2—जिनेन्द्रवर्णी, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली
50. तत्त्वमीमांसा—ए. ई. टेलर, अनुवादक सुधीन्द्र वर्मा, प्रका. हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ.प्र. लखनऊ
51. द्रव्यानुयोग तर्कणा, आचार्य भोजसागर, प्रका. परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास
52. डेविड ह्यूम का दर्शन—डॉ. वेद प्रकाश वर्मा, प्रका. राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
53. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-दो
54. द्रव्यानुयोग तर्कणा—श्री भोजसागर, प्रका. श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, गुजरात
55. जैन सिद्धान्त—पं. कैलाशचन्द शास्त्री, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
56. भारतीय दार्शनिक निबन्ध—संपादक डॉ. रमाशंकर शर्मा प्रका. मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल
57. ग्रीक दर्शन—डॉ. छोटेलाल त्रिपाठी,
58. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश—भाग तीन
59. विभिन्न धर्मों में ईश्वर कल्पना—प्रभाकर माचवे, सुरेन्द्र नारायण, प्रका. विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना
60. आधुनिक दर्शन की भूमिका—प्रो. संगमलाल पाण्डेय, प्रका. दर्शनपीठ, इलाहाबाद
61. ईसाई दर्शन—योहन फाइस, प्रका. राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
62. प्रभु यीशु का शुभ संदेश (न्यू टेस्टामेंट के संदर्भ में), प्रका. बाइबिल सोसायटी ऑफ इण्डिया, 20 महात्मा गांधी रोड़, बंगलौर
63. धर्मदर्शन की रूपरेखा—डॉ. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, प्रका. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
64. तुलनात्मक धर्म-दर्शन—याकूब मसीह,प्रका. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
65. जैन आचार मीमांसा—आचार्य देवेन्द्र मुनि, प्रका. श्रीतारक गुण जैन ग्रन्थालय, उदयपुर
66. विभिन्न धर्मों में ईश्वर कल्पना—प्रभाकर माचवे, सुरेन्द्र नारायण, प्रका. बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना
67. A Comparative Study of Religion—Y. Masih
68. Comparative Religon—A Macdonell
69. Philosophy of Religion—A. R. Mahapatra, Pub. Sterling Publishers Private Limited, New Delhi.
70. कुरआन—अनुवादक मुहम्मद फारूक खाँ, प्रका. मकतबा अलहजनात, दरियागंज, दिल्ली
71. विभिन्न धर्मों में ईश्वर कल्पना—प्रभाकर माचवे, सुरेन्द्र नारायण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

72. इस्लाम एक स्वाभाविक मजहब—मौलाना वहीदुद्दीन खान, प्रका. अल-रिसाला बुक सेन्टर, निजामुद्दीन वेस्ट मार्केट, नई दिल्ली
73. धर्म-दर्शन की रूपरेखा—डॉ. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा,
74. आचार-मीमांसा—आचार्य देवेन्द्र मुनि
75. Islam C. Snouck Hurgronje, Pub. Mittal Publications, New Delhi
76. The World's Living Pilgrims Archie J. Bahm, Pub. Asian Humanities Press, Fremont, California
77. Religion in India : Edited by T.N. Madan, Pub. Oxford University Press, Bombay
78.. Philosophy of Religion : A.R. Mahapatra
79. A Comparative Study of Religions : Y. Masih
80. Studies In Jainism : Ramkrishna Mission, Calcutta.
81. धर्म-दर्शन की रूपरेखा—डॉ. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा
82. विभिन्न धर्मों में ईश्वर की कल्पना—प्रभाकर माचवे एवं सुरेन्द्र नारायण दफ्तुआर
83. जैनदर्शन—डॉ. महेन्द्र कुमार जैन
84. आचारांग चयनिका—डॉ. कमलचन्द सोगानी
85. Comparative Religion— A.A. Macdonell
86. A Comparative Study of Religions —Y. Masih
87. Philosophy of Religion—A.R. Mahapatra.
88. धर्म-दर्शन रूपरेखा—डॉ. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा
89. विभिन्न धर्मों में ईश्वर कल्पना—प्रभाकर माचवे
90. वृहद् द्रव्य संग्रह—नेमिचन्द सिद्धान्त चक्रवर्ती
91. समीचीन जैनधर्म—पं. कैलाशचन्द शास्त्री
92. महावीर का अर्थशास्त्र
93. अणुव्रत की दार्शनिक पृष्ठभूमि
94. पर्यावरण समस्या और समाधान
95. साधना का सोना : विज्ञान की कसौटी
96. अहिंसा के अछूते पहलू
97. अनेकान्त है तीसरा नेत्र
98. लोकतंत्र—व्यक्ति और समाज
99. अणुव्रत गति-प्रगति
100. अणुव्रत की दार्शनिक पृष्ठभूमि
101. अणुव्रत की गहराई में
102. अणुव्रत की दिशाएं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun